प्रकाशकीय

इस पुस्तक को पाठकों के सामने रखते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता है। गांधी-साहित्य की यह एक अनमोल कृति है। इसमें गांधीजी की कल्पना के भारत का बहुत ही विशद चित्र दिया गया है। गांधीजी इस देश में रामराज्य की स्थापना करना चाहते थे। उस व्यवस्था के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पहलुओं पर उन्होंने स्वयं बहुत-कुछ लिखा है। उस सबका सार और उसका विवेचन पाठकों को इस पुस्तक में मिलेगा।

पुस्तक की सामग्री दो खण्डों में विभाजित की गई है। पहले खण्ड में 'भारत के आर्थिक विकास की गांधीवादी संयोजना' है, जिसे लेखक ने सन् १९४४ में प्रस्तुत किया था। उस पुस्तिका का देश में बहुत ही व्यापक प्रचार हुआ था और लगभग सभी भारतीय भाषाओं में उसके अनुवाद हुए थे। उसकी भूमिका में स्वयं महात्मा गांधी ने लिखा था

'आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल उन युवकों में से हैं जिन्होंने अपने समृद्ध शायद बुद्धिशाली भी जीवन को मातृभूमि की सेवा के लिए निछावर कर दिया है। जीवन के जिस मार्ग का मैं पोषक हूं उसके साथ सम्मत उनकी पूर्ण सहानुभूति है। यह पुस्तिका वर्तमान राजनीति-शास्त्र के रूप में उसीकी व्याख्या का एक प्रयास है। आचार्य अग्रवाल ने जान पड़ता है उस विषय के अर्वाचीन साहित्य का अच्छी तरह से अध्ययन किया है। मुझे यह कहते हुए दुःख होता है कि मैं इस प्रबन्ध को जितने ध्यान से पढ़ना चाहिए था नहीं पढ़ पाया हूं फिर भी मैं यह कह सकने के लिए काफी पढ़ चुका हूं कि किसी भी जगह उन्होंने मेरी गलत व्याख्या नहीं की है। इसमें इस बात का दावा नहीं है कि यह चरखे के अर्थशास्त्र के फलितार्थों का सर्वांगीण प्रतिपादन है। इसमें अहिंसा पर आधारित चरखे के अर्थशास्त्र और औद्योगिक अर्थशास्त्र का—जिसके लाभदायक होने के लिए उसका आधार हिंसा पर होना अनिवार्य है, अर्थात् उन देशों का शोषण जिनका औद्योगीकरण नहीं हुआ है—तुलनात्मक अध्ययन किया गया है।

मुझे पंचकार के तर्कों को स्वयं प्रस्तुत नहीं करना चाहिए। मैं इस प्रबन्ध को देश की वर्तमान सत्ताबद्ध स्थिति के प्रत्येक विद्यार्थी द्वारा ध्यानपूर्वक पढ़े जाने की सिफारिश करता हूं।

गांधीवादी योजना पर जो आलोचनाएं हुईं उनके उत्तर देते हुए लेखक ने एक दूसरी पुस्तिका 'गांधीवादी योजना की परिपुष्टि' सन् १९४८ में प्रकाशित की। उसकी भूमिका में डा० राजेन्द्रप्रसाद ने लिखा

"लेखक ने विषय के सब पहलुओं पर विचार किया है। कुछ निष्कर्ष निकाले हैं तथा प्रस्तुत समस्याओं पर अपने हल भी सुझाये हैं। महात्मा गांधी एक आदर्शवादी व्यक्ति थे परन्तु वह उतने ही यथार्थवादी भी थे। इसलिए यदि वह आदर्श के आकाश में ऊंची उड़ान भरते थे तो उन्होंने यथार्थ को भी नहीं छोड़ा। इस प्रकार इन दोनों के बीच की कड़ी को उन्होंने टूटने नहीं दिया। वह सदैव आदर्श और यथार्थ में सामंजस्य बनाये रखते थे। भारतीय अर्थशास्त्र पर फिर से विचार करने की जरूरत है, पर यह होना चाहिए भारतीय परिस्थितियों को ध्यान में रखकर, क्योंकि यहां की परिस्थितियां एक खास तरह की हैं—यद्यपि गहराई से देखा तो शेष संसार से ये कुछ ज्यादा भिन्न भी नहीं हैं। इसलिए दूसरे देशों के अनुभव के आधार पर कोई सामान्य सिद्धान्त कायम करके उसे यहां लागू करेंगे तो काम नहीं चलेगा। इसी प्रकार जो सिद्धान्त दूसरी जगहों पर काम दे गये वे यहां ज्यों-के-त्यों काम नहीं देंगे। इस जमाने के अर्थात् पश्चिमी अर्थशास्त्र के दो प्रमुख और मौलिक सिद्धान्त हैं—यंत्रीकरण और केन्द्रीकरण। वैसे महात्मा गांधी यन्त्र मात्र के विरोधी नहीं हैं परन्तु वह इतना जरूर चाहते हैं कि यन्त्र मनुष्य को अपना गुलाम न बना डाले। स्पष्ट ही आज यंत्रों के कारण केन्द्रीकरण की जो वृत्ति बढ़ रही है उसके वह विरुद्ध हैं। यंत्रों के परिणाम-स्वरूप उत्पादन का जो केन्द्रीकरण हो जाता है, वह उन्हें पसन्द नहीं। वह तो उत्पादन का विकेन्द्रीकरण चाहते हैं। जैसा कि आचार्य अग्रवाल ने बताया है—भारत को जैसा कि वह अबतक करता आया है, मध्यम मार्ग ग्रहण करना चाहिए और यदि संसार भी चाहता है कि उसीका पैदा किया हुआ यह राक्षस उसका काम तमाम न कर डाले तो उसे भी यही मार्ग ग्रहण करना होगा। मैं मध्यम मार्ग है सत्य और अहिंसा का।

हमें इसीको ग्रहण करना चाहिए। इससे संसार का मार्ग-दर्शन होगा और वह भी इसे ग्रहण कर सकेगा। राजनैतिक क्षेत्र में हमने इसका प्रयोग किया है और उसकी मदद से हमें कोई मामूली सफलता नहीं मिली है। इसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र में भी हमें इसका प्रयोग करना चाहिए। आज मनुष्य मनुष्य और मनुष्य तथा समाज के हितों में विरोध पैदा हो गया है। इसे मिटाने की जरूरत है। मनुष्य को समाज के हित के सामने अपने हित को गौण समझना चाहिए। परन्तु दूसरी ओर मनुष्य के व्यक्तित्व की भी रक्षा और विकास होना चाहिए। यह तभी संभव होगा जब मनुष्यों के सारे व्यवहार पूरी तरह सत्य और अहिंसा पर आधारित होंगे। गांधीवादी योजना अथवा गांधीजी के सिद्धान्तों पर आधारित जीवन-दर्शन यही करता है। अपने अर्थशास्त्र और राजनीति में भी वह इन्हीं सिद्धान्तों पर जमता है।

'पुस्तक का विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण है और हमारे जीवन के साथ उसका घनिष्ठ संबंध है। यों इस विषय पर पुराने ढंग पर बहुत-सा साहित्य लिखा पड़ा है। परन्तु गांधीजी के सिद्धान्तों पर आधारित जीवन-दर्शन का थोड़े में परिचय देनेवाली पुस्तकें बहुत कम देखने में आती है। इसलिए यह पुस्तक और भी अधिक स्वागत के योग्य है।

यह पुस्तिका इस पुस्तक के दूसरे खण्ड में प्रकाशित की गई है।

तीसरे खण्ड में लेखक की 'स्वाधीन भारत का गांधीवादी संविधान' पुस्तिका दी गई है जो सन् १९४६ में भारतीय संविधान सभा के विचार विमर्श की पूर्व वेला में प्रकाशित हुई थी। उस प्रबन्ध की भूमिका महात्मा गांधी ने लिखी थी। उसमें उन्होंने लिखा था 'पुस्तिका में इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि लेखक ने उसे यथासंभव प्रामाणिक बनाने की सावधानी रक्खी है। "उसमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो मेरे आदर्शों से मुझे असंगत लगा हो। 'मैं श्रीमन्न अग्रवाल की इस पुस्तक को भारत के संविधान के प्रतिपादन के अनेक प्रयासों में एक सारगर्भित देन मानता हूं। इस प्रयास की खूबी इस बात में है कि उन्होंने वह काम कर दिखाया जिसे समयाभाव के कारण मैं नहीं कर पाया था।

चौथे खण्ड में लेखक की उस लेख-माला को दिया गया है, जो उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जनरल सेक्रेटरी की हैसियत से कांग्रेस-कमेटी

की पत्रिका 'आर्थिक समीक्षा' में लिखी थी। इस पत्रिका के श्रीमन्नारायणजी कई वर्ष (सन् १९५२-५८) तक प्रधान सम्पादक रहे थे। इस लेख-माला में उन्होंने गांधीवादी अर्थशास्त्र तथा समाजवादी सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला है।

दूसरे खण्ड के लेखों को लेखक ने सन् १९५८ में प्लानिंग कमीशन के सदस्य हो जाने के बाद लिखा था।

अन्तिम खण्ड में उन्होंने बुनियादी सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए बताया है कि समाजवादी समाज की स्थापना किस प्रकार हो सकती है।

पाठक देखेंगे कि इस पुस्तक में लेखक ने उन सारे बुनियादी तथ्यों का समावेश कर दिया है, जिनकी पृष्ठभूमि में गांधीजी भारत का पुनर्निर्माण करना चाहते थे।

आज देश के सामने सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि उसकी छोटी-बड़ी समस्याओं को किस प्रकार सुलझाया जाय और राष्ट्र-पिता के विचारों के अनुसार देश को किस सांचे में ढाला जाय? यह पुस्तक इस प्रश्न का बड़ी गम्भीरता से उत्तर देती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज भारत संक्रान्ति काल से गुजर रहा है और आजादी के इन तेरह वर्षों में भी समाज और राष्ट्र का सही रूप निश्चित नहीं हो पाया है।

ऐसी अवस्था में हमारा विश्वास है कि यह पुस्तक बड़े काम की सिद्ध होगी। इसमें गांधीजी के भारत का स्वर मुखरित है और यह सभी पाठकों को बहुत ही विचार-प्रेरक सामग्री प्रदान करती है।

यह पुस्तक 'प्रिंसिपल्स ऑफ गांधियन प्लानिंग' के नाम से अंग्रेजी में प्रकाशित हो चुकी है, पर हिन्दी में इसका अनुवाद करने में भाव और विषय की सुस्पष्टता के लिए कुछ सामान्य हेर-फेर कर दिया गया है।

—मंत्री

भूमिका

श्री श्रीमन्नारायण गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम के बहुपठित एवं चिंतनशील लेखक हैं। गांधीजी की रचनाओं के अध्ययन से उन्होंने जो ज्ञान प्राप्त किया है उसके अलावा उन्हें एक बड़ा लाभ यह भी रहा है कि वह गांधीजी के सम्पर्क में प्रायः हैं और विचार-विमर्श के लिए प्रस्तुत होने वाली विविध समस्याओं पर चर्चाओं में भी इन्होंने प्रायः भाग लिया है। इतना ही नहीं उन्होंने इस विशिष्ट विषय पर दूसरों के साहित्य तथा कृतियों के अध्ययन का भी अतिरिक्त लाभ उठाया है।

श्री श्रीमन्नारायण का संबंध उन संस्थाओं और संघों से भी रहा है, जो गांधीवादी विधायक कार्यक्रम के विभिन्न पहलुओं तथा अंगों को क्रियान्वित करने में संलग्न हैं। उदाहरण के लिए बुनियादी तालीम खादी ग्रामोद्योग तथा इस प्रकार के अन्य कामों से सम्बद्ध संस्थाओं से उनका संबंध रहा है। कांग्रेस में काम करने से उन्हें उस विशाल संस्था के बारे में विस्तार से जानकारी प्राप्त करने का अवसर मिला है। संसद में रहने से उन्हें विभिन्न प्रश्नों के बारे में गांधीवादी दृष्टिकोण का अध्ययन करने और संसद-सदस्यों के सामने उसे रखने के भी मौके मिले हैं।

व्यापक अध्ययन और महात्मा गांधी के विचारों एवं कृतियों के निजी ज्ञान और संपर्क के आधार पर लिखी यह पुस्तक उन सभी के लिए पठनीय है जो उन विषयों में अभिरुचि रखते हैं जिनपर देश का ध्यान केन्द्रित है और जिनमें से अधिकांश दुर्भाग्य से विवादास्पद विषय बने हुए हैं।

यह आवश्यक नहीं कि उनके प्रत्येक निष्कर्ष को स्वीकार ही किया जाय अथवा खास मुद्दों के समर्थन में उन्होंने जो तर्क दिये हैं जिससे यह कृति लोकग्राह्य हो सके उन सबसे सहमत ही हुआ जाय। पाठकों को इसमें बहुत-कुछ ऐसी सामग्री मिलेगी जो कि सूचनात्मक है, विचारप्रद है और विचार-प्रेरक है।

मुझे विश्वास है आम जनता के मन में जो बहुत-से सवाल उ‍ रहे हैं उन्हें समझने-बूझने में यह पुस्तक लाभदायक सिद्ध होगी।

राष्ट्रपति भवन नई दिल्ली

१४ जनवरी १९'

विषय-सूची

विषय-सूची

गांधीवादी संयोजन
के
सिद्धान्त

गांधीवादी संयोजन के सिद्धान्त

खण्ड १

गांधीवादी योजना

१

खुले व्यापार की नीति के अंत के साथ ही प्रत्येक देश में आर्थिक संयोजन का महत्व एकदम बढ़ गया है। प्रथम महायुद्ध के पहले मजदूरों की सेवा, मकानों की कमी और बेकारी को मिटाने जैसे राष्ट्रीय जीवन के बहुत थोड़े अंगों के बारे में संयोजन की पद्धति पर सोचा जाता था, परन्तु उसके बाद तो संयोजन का विचार बहुत फैल गया। राष्ट्रीय जीवन के सब मय हर पहलू का संयोजन शुरू हो गया। सोवियत रूस की पंचवर्षीय योजना इस प्रकार का सबसे पहला प्रयास था। फिर तो यह विचार बढ़ा और देखते-देखते सारे संसार में फैल गया। संसार में आई हुई बेहद मंदी से अपने देश को बचाने के लिए राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने अमरीका में 'न्यू डील' (नया सौदा) का प्रारम्भ किया। जर्मनी में हिटलर ने अपने देश को मुख्यतः दूसरे महायुद्ध के लिए तैयार करने के लिए चार वर्ष की योजना जारी की। इंग्लैंड की चाल जरा धीमी रही। उसने भी संयोजन शुरू किया परन्तु खण्डों में—एक-एक क्षेत्र में—और इसीमें सन्तोष मान लिया। फिर भी सामाजिक सुरक्षा की 'बीवरेज योजना' इस दिशा में उनका एक व्यवस्थित प्रयास था।

भारत में पश्चिम की पद्धति पर संयोजन का प्रयत्न करनेवाले सबसे पहले व्यक्ति थे सर एम. विश्वेश्वरय्या। परन्तु भारत के आर्थिक विकास की व्यवस्थित और व्यापक योजना का तफसीलवार मसविदा बनाने का यत्न भारत की राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) द्वारा नियुक्त राष्ट्रीय संयोजन समिति ने किया। दुर्भाग्यवश वह अपना काम पूरा नहीं कर सकी।

इसका कारण हम सब भली तरह से जानते हैं। इसी प्रकार इन दिनों जब कि भारत की आवाज बदाया की जा रही है तब देश के आठ प्रमुख उद्योगों ने आर्थिक विकास की पन्द्रह-वर्षीय योजना बनाकर निश्चित रूप से देश की बड़ी सेवा की है। यह योजना आमतौर पर बम्बई-योजना के नाम से प्रसिद्ध है। इन सुयोग्य और विख्यात उद्योग-पतियों की सचाई और देश भक्ति में हमें शंका नहीं हो सकती फिर भी हम यह बात भुला नहीं सकते कि यह पश्चिम की पद्धति पर बनाई गई मुख्यतः एक पूंजीवादी योजना है। श्री मानवेन्द्रनाथ राय ने भी एक 'पीपल्स प्लान' (जनता की संयोजना) बनाई थी। उसमें दस वर्षों में १५ हजार करोड़ रुपये खर्च करने की कल्पना की गई थी।

परन्तु मुझे लगता है कि भारत के आर्थिक विकास की हम जो भी योजना बनायें वह हमारे सांस्कृतिक और सामाजिक आधारों पर ही बनाई जानी चाहिए। उपर्युक्त योजनाएं ऐसी नहीं हैं। पश्चिम की पूंजीवादी या साम्यवादी योजनाओं की केवल नकल करने से हमारा काम नहीं चलेगा। हमें अपनी एक स्वदेशी योजना बनानी होगी जिसकी जड़ें हमारी अपनी जमीन में ही गहरी हों। सुसंगठित और शक्तिशाली ग्रामीण समाज चाहे कितने समय से भारतीय जीवन का अभिन्न अंग रहा है। प्राचीन काल में हमारे देश में इतने जिस सामाजिक और आर्थिक संस्कृति का विकास किया है वह शायद समस्त संसार के इतिहास में एक अनोखी वस्तु है। यह समाज-रचना ग्रामोद्योगों पर आधारित थी जिसमें मानवता समानता न्याय शान्ति और सहयोग सभी ओत प्रोत थे। इसलिए यह जरूरी है कि भारत स्वयं अपनी निजी आर्थिक योजना बनावे पश्चिम की नकल मात्र न करे। ऐसा करके वह संसार का मार्ग-दर्शन कर सकेगा और अंत में एक नई व्यवस्था का विकास करने में उसके लिए मददगार भी हो सकेगा। महात्मा गांधी भारतीय अर्थ-व्यवस्था के इन्हीं प्राचीन आदर्शों पर बराबर जोर देते रहे और अब तो पश्चिम के अनेक महान विचारक भी उनके इन विचारों का समर्थन करने लग गये हैं। सौभाग्य से गांधीजी के लेखों को पढ़ने और अध्ययन करने का मुझे काफी अवसर मिला है। यहाँ नहीं भारत के अनेक आर्थिक प्रश्नों पर मैंने उनसे अनेक चर्चाएं भी

की है। इसीलिए मैं इनके बारे में गांधीजी के विचार व्यवस्थित रीति से जनता के सामने पेश करने का साहस कर रहा हूं। इनके समर्थन में मैं पश्चिम के विख्यात अर्थ-शास्त्रियों और समाज-शास्त्रियों के प्रमाण भी उद्धृत करूंगा। भारत की आर्थिक समस्याओं पर गांधीजी ने बहुत लिखा है क्योंकि वह बहुत बड़े अर्थशास्त्री रहे हैं परन्तु उस मानी में नहीं जिसमें आम तौर पर इस शब्द का प्रयोग होता है। इसलिए उन्होंने विशे-पिटे टकसाली शब्दों का प्रयोग नहीं किया। उनके विचार सहज-बुद्धि के रूप में प्रकट हुए और उनमें गहरी भावना का आवेग था। अतः स्वभावतः वे अर्थशास्त्र की कड़ी तर्क-पद्धति में ठीक नहीं बैठते फिर भी उनके लेखों में हमें एक व्यवस्थित आर्थिक रचना की झांकी आसानी से मिल जाती है जो प्राचीन भारतीय परम्परा पर आधारित है और यदि हम विस्तार से उसकी तफसीलें बनाने बैठें तो वह इस युद्ध-जर्जर संसार को युद्ध शोषण और संहार के स्थान पर अवश्य ही शान्ति सुरक्षा और प्रगति की सुनिश्चित योजना दे सकती है।

२

आज हमारे देश में संयोजनाओं तजवीजों और पुनर्निर्माण की योजनाओं की बाढ़-सी आई हुई है परन्तु इनके बीच हमें एक बुनियादी बात याद रखनी चाहिए। वह यह कि योजना अपने-आपमें कोई साध्य नहीं है। असल में साध्य तो दूसरी ही चीज है और योजना उसका एक साधन मात्र है। विज्ञापनों में छपी दवाओं की भांति हर योजना के बनानेवाले अपनी चीज को सर्वश्रेष्ठ बताते हैं। अन्य लोग भी उसमें अपनी कल्पना जोड़कर मान लेते हैं कि उसके अन्दर कोई जादू है जो उनकी हर प्रकार की आर्थिक मुसीबत को दूर कर देगा।

योजनाएं बनाना अलबत्ता अपने-आपमें कोई बुरी चीज नहीं है। वह तो दूरदेशी और समझदारी-भरी चीज है। परन्तु जब शोषण के सूक्ष्म और भद्दे तरीकों को छिपाने के लिए उन्हें उलझन-भरी बड़ी-बड़ी योजनाओं का चोगा पहनाया जाता है तब उन्हें हमें सन्देह और सावधानी की नजर से ही देखना पड़ता है।

जाना चाहिए।"

उदाहरण के लिए पश्चिम को लीजिये। वहां जीवन का स्तर इतना ऊंचा हो चुका है कि अब उसे अधिक उठाने की गुंजाइश ही नहीं है। वहां संयोजन का लक्ष्य बताया जाता है— 'सबके लिए पूरा काम'। परन्तु यह भी कोई लक्ष्य है ? पूरा काम देना संयोजन का लक्ष्य नहीं हो सकता। वह तो *किसी साध्य का एक साधन मात्र है। कुछ लोग कहते हैं, संयोजन का लक्ष्य* अधिक उत्पादन होना चाहिए और वे कहते हैं कि इसके लिए देश की जन-शक्ति का तथा साधनों का पूरा-पूरा उपयोग किया जाना चाहिए। परन्तु हम जानते हैं कि अत्यधिक औद्योगीकरण और उत्पादन का परिणाम क्या हुआ है ? वहां एक तरफ अत्यधिक विपुलता और समृद्धि है, दूसरी तरफ वहीं-के-वहीं दरिद्रता का घोर अभिशाप भी प्रत्यक्ष हमारी आंखों के सामने है।

तो फिर हमारे संयोजन का उद्देश्य क्या हो ? प्राध्यापक कोल कहते हैं कि "हमारा आर्थिक संयोजन इन सिद्धान्तों के आधार पर हो कि समाज के पास उत्पादन की जो भी साधन-सामग्री हो उसका पूरा-पूरा उपयोग हो जाय और सबकी आमदनी का विनियोग-वितरण भी इस प्रकार सुनियोजित प्रकार से हो कि सर्व-साधारण की भलाई और कल्याण की दृष्टि से खर्च करने के लिए वह उपलब्ध हो सके। प्राध्यापक ऑक्सस इससे अच्छे संयोजन की मुख्य कसौटी यह बताते हैं कि जिस समाज पर वह लागू किया जा रहा है। उसके पुरुष और स्त्री सदस्यों में अनासक्ति और जिम्मेवारी की भावना जागे और वे उत्तरोत्तर अधिक स्वाधीन शान्त नीतिमान बुद्धिमान और प्रगतिशील बनें। यदि ऐसा होता है तो वह संयोजन सही और सफल है अन्यथा वह गलत और असफल है। 'जनता की संयोजना' (पीपल्स प्लैन) में श्री मानवेन्द्रनाथ रॉय ने बताया है कि 'संयोजन का उद्देश्य जनता की तात्कालिक तथा बुनियादी जरूरतों की पूर्ति होना चाहिए। परन्तु इस विषय में मुझे डॉ सन यात सेन के जनता के तीन सिद्धान्त— 'राष्ट्रीयता प्रजातन्त्र और जीविका" सबमे

प्रिंसिपिल्स ऑफ इकानॉमिक पॉलिसी, पृष्ठ ४७१
प्लानिंग एण्ड मौरल्स, पृ ३२

अच्छे लगें। वास्तव में हमारा संयोजन राष्ट्र की अपनी संस्कृति और सभ्यता पर ही आधारित होना चाहिए। उसका मनन और प्रगति भी किसी प्राणी के शरीर अथवा पौधे के विकास के समान (स्वाभाविक और अन्दर से ही) होनी चाहिए। और यह कुछ थोड़े-से चुने हुए लोगों के स्वार्थ के लिए नहीं बल्कि समस्त राष्ट्र के कल्याण और सुख के लिए हो। मुझे लगता है कि हमारा जो भी आर्थिक संयोजन हो उसका सबसे पहला सिद्धान्त यही होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि हमारे संयोजन में जनता के साथ फौजी ढंग की बेरुखी—रेजिमेंटेशन—न हो। अपने सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक जीवन में जनता के लिए जितनी आजादी का होना उचित और जरूरी है उसका अपहरण न हो। सत्ता के सम्पूर्ण केन्द्रीकरण की दृष्टि से नहीं बल्कि लोकतन्त्र की दृष्टि से और लोकतन्त्र को अपना लक्ष्य मानकर हम संयोजन करें। एक सख्त और लम्बी-चौड़ी योजना जनता पर लादकर हम उसका जीवन-स्तर ऊंचा उठाने में शायद कामयाब हो जायं परन्तु ऐसा करने से यदि लोग अपनी आत्मा अर्थात् स्वाधीनता और स्वशासन की वृत्ति को ही खो बैठते हैं तो ऐसी भौतिक समृद्धि भी किस काम की? इसलिए आर्थिक संयोजन में राज्य के नियन्त्रण और जबरदस्ती की जरूरत कम-से-कम हो। कहा भी है कि सबसे अच्छा शासन वही है जिसे अपनी सत्ता का उपयोग कम-से-कम करना पड़े। परन्तु मैं इससे भी एक कदम आगे जाना चाहता हूं। संयोजन का काम लोक-सत्ता की केवल रक्षा करना ही नहीं है बल्कि उसे अधिक वास्तविक और स्थायी बनाकर उसे पुष्ट एवं प्रगतिशील बनाना भी है। इतना भी काफी नहीं होगा। हमें केवल अपने ही देश में लोक-सत्ता की रक्षा और संवर्धन करके सन्तोष नहीं मान लेना चाहिए, बल्कि यह भी ध्यान रखना चाहिए कि ऐसा करने से हम कहीं दूसरे अविकसित देशों की आजादी और लोक-सत्ता का अपहरण तो नहीं कर रहे हैं? प्राध्यापक रॉबिन्स ने अपने 'आर्थिक संयोजन और अन्तर्राष्ट्रीय सुव्यवस्था' (इकॉनॉमिक प्लैनिंग एण्ड इंटरनेशनल ऑर्डर) नामक पुस्तक में ठीक ही लिखा है कि अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम से हम कहीं अपनी अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि को न खो दें यह ध्यान

रहे, क्योंकि यदि बाहर लोक-सत्ता की हानि होती है तो उसके परिणाम स्वरूप "हमारे देश की लोकसत्ता भी अवश्य ही छिन जायगी।"

हमें भूलना नहीं चाहिए कि आर्थिक समानता के बगैर राजनैतिक लोकसत्ता अथवा प्रजातन्त्र असम्भव है। प्राध्यापक लास्की का कथन है कि "यह राजनैतिक समानता वास्तविक समानता हो ही नहीं सकती जबतक उसके साथ सच्ची आर्थिक समानता भी न हो। यदि आर्थिक समानता नहीं है तो राजनैतिक सत्ता आर्थिक सत्ता की दासी होगी। इसीलिए तो पूंजीवाद और प्रजातन्त्र कभी एक साथ नहीं रह सकते क्योंकि पूंजीवादी समाज में धनवानों और निराधारों के बीच सदा एक बहुत बड़ी खाई होती है। इसलिए एक अच्छे राष्ट्र को चाहिए कि वह अपने नागरिकों की आमदनी में कभी भारी विषमता न पैदा होने दे, नहीं तो वहां शासन सत्ता आगे-पीछे अवश्य ही धनवानों के हाथ चली जायगी। सम्भव है, एक आदमी ही राजा बन बैठे।

आयोजन का तीसरा सिद्धान्त यह हो कि राष्ट्र के हर नागरिक को सम्मानपूर्वक और न्यायपूर्वक अपनी रोजी कमाने का अधिकार है। उसे काम करने और ईमानदारी के साथ किए गये काम का उचित पारिश्रमिक पाने का जन्मसिद्ध अधिकार है जिसे कोई छीन नहीं सकता। रोजी का अर्थ दान या बेकारी का भत्ता (अनएम्प्लायमेंट डोल) नहीं है ये दोनों एकदम अलग चीजें हैं। एक का अर्थ है काम और जीवन दूसरे का अर्थ है सड़ना और मरना। बेकारी की अर्थात् रोजी की समस्या को हम तभी सन्तोषजनक रीति से हल कर सकेंगे जब हम समझ लेंगे कि हमारा लक्ष्य केवल इतना ही नहीं है—न होना भी चाहिए—कि कम-से-कम श्रम में और तेजी के साथ काम करनेवाले यन्त्रों की सहायता से हम जैसे-तैसे अपना उत्पादन बढ़ा लें। अपने आर्थिक जीवन के मानवीय पहलू की उपेक्षा करके हम कभी अपना भला नहीं कर सकते। यन्त्रों और भौतिक सम्पत्ति की अपेक्षा मनुष्य का मूल्य कहीं अधिक है। अधिक उत्पादन करके राष्ट्र की सम्पत्ति आखिर मनुष्यों को दुख नहीं सुख पहुंचाने के लिए ही तो हम बढ़ाना चाहते हैं। मैं तो समझता हूं कि डॉ॰ धन गोपाल सेन ने 'जनता के

प्रामर ऑफ पॉलिटिक्स — ...

तीन सिद्धान्तों का यही अर्थ नहीं है। संयोग की बात है कि एशिया के एक दूसरे महान लोकनायक महात्मा गांधी ने भी यही बात कही है। हां उनके शब्द दूसरे हैं। अब मैं उन तमाम पूंजीवादी और समाजवादी योजनाओं का परीक्षण करना और देखना चाहता हूं कि संयोजन के ऊपर बताये तीन जरूरी सिद्धान्तों का उनमें कहांतक पालन होता है।

१

पिछले कुछ दशकों म संसार मे अपनी उत्पादन-शक्ति बहुत अधिक बढ़ा ली है—केवल उद्योगों मे ही नहीं खेती में भी। जनसंख्या भी बेशक बढ़ रही है परन्तु यह उत्पादन-शक्ति हर जगह जनसंख्या की वृद्धि के अनुपात से कहीं आगे बढ़ गई है। जाहिर है कि इतना उत्पादन बढ़ जाने के फलस्वरूप संसार को अधिक समृद्ध स्वस्थ और सुखी होना चाहिए था और गरीबी की समस्या अपने-आप हल हो जानी चाहिए थी। परन्तु इसके विपरीत आज हम संसार में क्या देखते हैं? संसार में आज भयंकर आर्थिक मन्दी फैली है जैसी कि पहले कभी नहीं देखी गई थी। इसके कारण संसार बेहद परेशान है। कारखानों और कच्चे माल के पर्वताकार संग्रह पड़े हुए हैं, जिनके खरीदार नहीं मिल रहे हैं। करोड़ों लोग बेकार पड़े हैं क्योंकि उनके लिए कारखानों में काम नहीं अर्थात् कारखानेदार जो माल पैदा करते हैं मुनाफा देकर उसके खरीदनेवाले उन्हें नहीं मिलते। इस प्रकार जितनी भी यह उत्पादन-शक्ति बढ़ती जाती है संसार उतना ही उसका उपयोग करने में कम समर्थ बनता जा रहा है। कौल ने ठीक ही कहा है

"यदि मनुष्य की उत्पादन—निर्माण—शक्ति बढ़ाने से लोग उलटे बेकार और दुखी होते हैं तो ऐसी शक्ति बढ़ाने से क्या फायदा? विज्ञान शास्त्री क्यों यह बेकार का श्रम करते हैं? इस प्रकार परिश्रम को हलका करने से क्या लाभ है यदि ऐसा करने से अधिकाधिक लोग बेकार होकर रोजी से वंचित होते हैं? कैसा जमाना आ गया है जो आज किसान बोते समय भगवान से उलटी प्रार्थना करता है कि उसकी फसल बिगड़ जाय नहीं तो वह मन्दी के संकट मे फंस जायगा। बड़ा बुरा समय है परन्तु इसमें

आश्चर्य की बात भी क्या है ? [१]

चीजें पैदा करने की भौतिक शक्ति हमने इतनी बढ़ा ली है कि हम इसका पूरा उपयोग भी नहीं कर पाते। संसार में फैली हुई व्यापक बेकारी दुःख और लोगों का शारीरिक तथा मानसिक पतन इसीका परिणाम है। "हमारे सामने एक अजीब समस्या है। कारखानों में माल इतनी तेजी से पैदा होता जाता है और उसके ढेर लगते जाते हैं कि उसकी मांग ही मरती जा रही है। इतनी अधिक समृद्धि और विपुलता के बीच भी आदमी दरिद्र हो और भूखों मरे, यह सचमुच ऐसी बात है कि इसपर किसीको विश्वास नहीं होगा हँसी आवेगी। क्रेब ने लिखा है—समृद्धि मुस्कराती है, परन्तु हाय ! केवल मुट्ठीभर आदमियों के लिए ही। शेष तो केवल देखते रहें उनके लिए वह नहीं है। वे तो खानों में मरनेवाले उन अभागों के समान हैं जिनके आसपास ऊपर-नीचे संपत्ति-ही-संपत्ति है, किन्तु जो उनकी दरिद्रता को दूना दुखदायी बना देती है।[२]

असलियत यह तो स्पष्ट है कि हमारी मुसीबतों का कारण यह उत्पादन की विपुलता नहीं है, बल्कि हमारी आर्थिक रचना का दोष और उसके गलत आदर्श हैं। पूंजीवाद अपने साथ केवल शोषण और बेकारी ही नहीं लाया बल्कि उसने तो मनुष्य को निरा एक जड़ यन्त्र और बलिराम का पशु बना दिया है। धीरे-धीरे, परन्तु निश्चित गति से उसने प्रजातन्त्र को अन्दर से खोखला कर दिया है जो अब केवल ढांचा-मात्र रह गया है। मानवता को उसने अपने मार्ग से हटा दिया है। अब तो संसार में सोने और राक्षसों का राज्य है। पूंजीवाद को झूठमूठ की स्वतन्त्रता का लबादा पहनाने का लज्जाजनक प्रयास व्यर्थ ही किया जा रहा है। न्याय और प्रजातंत्र की डींगे हांकी जा रही हैं जबकि हर आदमी अब जानता है कि अब

---

[१] 'दी स्प्रेडिकेल मैन्यु गास्ट टू वर्ल्ड स्पोस' पृ० ६२
[२] 'वर्ल्ड, वेल्थ एण्ड हैप्पिनेस ऑफ मैनकाइन्ड'—एच जी. वेल्स पृ० ६२१

When plenty smiles — alas she smiles for few
And those wh taste not, yet behold her store
Are as the sla es dig th ore
The wealth around them makes them doubly poor

मन के बहलाने के अन्दर छोड़े का पैदा किया हुआ है क्योंकि पूंजीवाद की प्रभुसत्ता को मानने से यदि कहीं इन्कार हुआ या उसे जरा भी खतरा महसूस हुआ तो वह नाजीवाद या फासिस्म के रूप में अपना असल रूप धारण कर लेता है और पैशाचिक बीभत्सता के साथ दानवी शक्ति प्रकट करने लग जाता है। प्रो० लास्की ने अपनी 'हम यहां से कहां जा रहे हैं? व्हेयर डू वी गो फ्रौम हीयर नामक पुस्तक में पश्चिम के आधुनिक राजनैतिक इतिहास का सिंहावलोकन करते हुए साफ-साफ बताया है कि पूंजीवादी देशों में लोकतंत्र पन्प ही नहीं सकता। जहां प्रतिपक्ष जोरदार नहीं होता वहां पूंजीवाद लोकतन्त्र का दिखावा टिकाये रख सकता है और संसदीय ढंग का शाब्दिक ढांचा दिखाये जाता है। परन्तु जब कभी यह खतरा महसूस करता है और देखता है कि वह सुरक्षित नहीं है तो सर्वसत्ता धारण करके राक्षसी हिंसा का अवलम्बन करने में वह क्षण-भर की भी देरी नहीं करता।

लॉर्ड कैनीज ने अपनी पुस्तक 'खुले व्यापार का अन्त' (एण्ड ऑव लेसा फर) में पूंजीवाद के सिद्धान्त की परिभाषा करते हुए लिखा है—"मनुष्य की धन-लालसा और उसकी प्राप्ति की सहज वृत्ति को कितना अधिक संतुष्ट किया जा सकता है इसपर यह अर्थ-रचना निर्भर करती है। धन की इस प्रकार तृष्णा ने शोषण उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद की पेचीदा परम्परा पैदा कर दी है, जिसका निश्चित परिणाम होता है खूंखार युद्ध और मनुष्यों का कत्लेआम। बर्नार्ड शॉ कहता है कि "पूंजीवाद को न विवेक होता और न उसका अपना कोई ध्येय। मुनाफा उसकी एकमात्र आकांक्षा और पैसा उसका भगवान होता है। इसीको हम मानव-शक्ति के बजाय पैसे की शक्ति कहते हैं। अमरीका के उपराष्ट्रपति श्री वैलेस ने हमें सावधान करते हुए कहा है कि "व्यापारी जगत के लिए वॉलस्ट्रीट सर्वोपरि है राष्ट्र उसके बाद। प्रो० जोडी ने पैसे को आसमान की तरह बरताने वाला प्रस्ताबीन का जादुई कालीन कहा है। "किसी समय लोग मानते थे कि पृथ्वी स्थिर है और सूरज उसके आस-पास घूमता है। तब यदि कोई कहता कि यह गलत है वास्तव में सूर्य नहीं पृथ्वी सूर्य के आस-पास घूमती है तो लोग उसे नास्तिक कहते। इसी प्रकार आज के अर्थ-विशारद से कोई

कहे कि पैसे के लिए मनुष्य नहीं बनाया गया बल्कि मनुष्य के लिए पैसा बनाया गया है तो वह इसे नास्तिक ही कहेगा।

इस प्रकार आज हम पैसे के संसार में रह रहे हैं जहां पूंजीपति सर्व सत्ताधीश हैं जैसा कि कार्लोटिन ने कहा है 'मुनाफे और पैसे की इस प्यास और अनवरत दौड़ का फल है मानवता के साथ घोर अत्याचार।' परन्तु पूंजीवाद के विनाश के बीज उसके अन्दर ही छिपे हुए हैं क्योंकि अति सबकी बुरी होती है। इस प्रकार पूंजीवाद का अपार लोभ आगे-पीछे उसीको ले बैठेगा और उसका सर्वनाश करके रहेगा। अगर हम दूसरे के लिए खड्डा खोदते हैं तो हम ही उसके अन्दर गिरेंगे। साम्यवाद के प्रसिद्ध घोषणापत्र में लिखा है—"वर्तमान बुर्जुआ समाज ने अपार उत्पादन विनिमय और वैभव के साथ नाता जोड़कर अपने लिए आफत पैदा कर ली है। वह उस जादूगर की तरह है जिसने मसान तो जगा लिया पर उसे अपने वश में रखना नहीं जानता।" तो अब इसका उपाय क्या है? विपुलता के बीच दरिद्रता और अपार उत्पादन तथा अविचारपूर्ण विनाश की यह समस्या कैसे सुलझेगी? समय अपने आप सब ठीक कर देगा इस आशा से हाथ-पर-हाथ रखकर निष्क्रिय तो नहीं बैठे रह सकते। "यह तो भागनेवाले बिगड़े घोड़े की गाड़ी में निष्क्रिय बैठे रहने जैसा होगा। आप भले ही कह दें कि हम और कर ही क्या सकते हैं? परन्तु आपकी यह लाचारी आपको आनेवाली दुर्घटना से बचा नहीं सकेगी।"[१]

संसार के विभिन्न देशों में तीन विभिन्न प्रकार की योजनाओं के प्रयोग किये गए हैं। पहली है फासिज्म की या नाजीवादी योजना परन्तु इसमें तो उलटे बीमारी से उसका इलाज अधिक बुरा साबित हुआ है। स्वयं हिटलर ने सन् १९३६ के सितम्बर में स्वावलम्बन की अपनी चारसाला योजना की घोषणा की। स्वावलम्बन के द्वारा उसने राष्ट्र को आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र और युद्ध-सामग्री से लैस करने के उपाय किये। इनसे बेकारी निस्सन्देह बहुत-कुछ घटी थी परन्तु इतना काम देने पर भी जनता का

'मनी पर्लेस मैन' पृ० १०८

[१] 'दी इन्टेलिजेन्ट वुमन्स गाइड टु सोशलिज्म एण्ड कैपिटलिज्म—बर्नार्ड शॉ' पृ० ४

जीवनस्तर ऊंचा नहीं उठ पाया। इसके विपरीत उसने तो राष्ट्र को सैनिक दृष्टि से पूरा लैस बनाने पर ही सारी शक्ति लगा दी। अपने इस आदर्शों से उसने कहा "मक्खन के बजाय बन्दूक" अधिक काम की चीज है। इस प्रकार नात्सी अर्थ रचना वास्तव में युद्ध की अर्थ-रचना साबित हुई। यह अत्यन्त विस्फोटक की ओर अन्त में उसका विस्फोट होकर ही रहा जिसके धमाके ने समस्त संसार की नींव को हिला दिया। यद्यपि उसने 'समष्टि राज्य' (कॉर्पोरेट स्टेट) के नाम पर मजदूरों को सुख और शान्ति देने के यत्न हुए, फिर भी बात तो बड़े-बड़े उद्योगपतियों की ही चलती रही। सत्ता उन्हीं के हाथों में केन्द्रित रही। वास्तव में फासिज्म का जन्म ही मरणोन्मुख पूंजीवाद की कोख से हुआ था और बुझते हुए दीये की ज्योति जिस प्रकार अधिक बड़ी हो जाती है उसी प्रकार अपने विनाश के समय पूंजीवाद भी इस फासिज्म या नात्सीवाद के रूप में अधिक आक्रामक बन गया था। उसका उद्देश्य था लाभ और शोषण के ढहते हुए दुर्ग को बचाना। इस फासिस्ट योजना में राज्य ने अपने हाथों में सम्पूर्ण सत्ता केन्द्रित कर ली थी और व्यक्ति की स्वाधीनता निर्ममता के साथ कुचल दी गई थी। "राज्य को भगवान के सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर दिया गया है। यही कारण है जो आज हम सबसे अधिक भयंकर बुतपरस्ती के जमाने में जी रहे हैं।"[1]

प्रजातन्त्र की बुनियाद है मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा और आदर, परन्तु सारी ताकत से उसे कुचलकर उसके स्थान पर सर्व सत्ताधारी अधिनायकत्व (डिक्टेटरशिप) को स्थापित किया जा रहा है। यूनान का प्रसिद्ध विचारक प्रोटेगोरस कहता था कि "हर चीज को नापने का गज आदमी इन्सान हो। परन्तु आज तो सारे सिद्धान्तों की भलाई, बुराई, उपयोगिता अथवा निकम्मेपन को नापने का गज राज्य बन गया है। एथीनियन आदर्श में मनुष्य सर्वोपरि था परन्तु फासिस्ट अर्थ-रचना राज्य को सर्वोपरि माननेवाले स्पार्टा के आदर्श की पुजारिन है।

आर्थिक नियोजन के दूसरे नमूने का प्रयोग अमरीका के संयुक्त राज्य ने किया। मेरा संकेत राष्ट्रपति रूजवेल्ट के 'न्यू डील' की तरफ है। सच पूछिये

---

[1]दि [illegible] —[illegible], पृ. १

तो उसने एक व्यवस्थित योजना का रूप कभी ग्रहण नहीं किया। वह तो मुसीबत में फंसे पूंजीवाद को बचाने के लिए काम में लिये गए तात्कालिक उपायों का एक सिलसिला भर था। समाज में फैली दुरवस्था के बहुत प्रकट कारणों को दूर करके पूंजीवाद को फिर से जिलाने का वह एक जोरदार प्रयत्न था। राष्ट्रपति रूजवेल्ट अमरीका में कोई नई अर्थ रचना निर्माण नहीं करना चाहते थे। उन्होंने तो पुरानी रचना में छोटे बड़े सुधार करके केवल उसे काम चलाने-लायक बनाने का यत्न किया। मजदूरों को काम देने की दृष्टि से उन्होंने अनेक लोक-निर्माण-कार्य चालू कर दिये ताकि बेकारी कुछ घटे और कारखानेदारों का बोझ कुछ हल्का हो। काम के घण्टे कम कर दिये मजदूरी बढ़ा दी कर प्रणाली में यहां-वहां जरूरी फर्क कर दिया बाजार की मंदी को कम करने और किसानों की मदद करने के लिए सरकार ने खेती की उपज की चीजें खरीदना शुरू कर दिया खेती में जो चीजें अधिक पैदा होती थीं उनका रकबा कम कर दिया ताकि बाजार में उनके भाव गिरने न पावें। आर्थिक स्थिरता को बनाये रखने के लिए बैंकों को सरकार ने ऋण दे दिये। चीजों की कीमतों का नियमन करने के लिए खुले बाजार में सौदों का लेन-देन शुरू कर दिया। इन सब कदमों ने आर्थिक मन्दी के संकट को पार करने में अमरीका की बड़ी मदद की। परन्तु भीतर की बीमारी का यह कोई स्थायी इलाज नहीं था। यह तो दर्द को कम करने के लिए वास्तविक चिकित्सा के रूप में किये गए तात्कालिक उपचार-मात्र थे। अमरीका में समाजवाद की स्थापना करना 'न्यू डील' का जरा भी उद्देश्य नहीं था। वह तो अमरीकी पूंजीवाद को फिर से कमाई करने लायक पूरी तरह से स्वस्थ बना देने का प्रयास-मात्र था।

ग्रेट ब्रिटेन अपनी पुरानी परम्पराओं के अनुसार संयोजन में भी प्रवाह-पतित की ही नीति का पालन कर रहा है। यदि यह कहें कि सन् १९१४ तक उसकी आर्थिक गति-विधि योजना-शून्य थी तो गलत नहीं बल्कि सत्य के बहुत निकट होगा। परन्तु यह हालत युद्ध में नहीं टिकी रह सकी। युद्ध की अवस्था में तो सरकार को व्यापार-व्यवसाय उद्योग और खेती पर भी नियन्त्रण लगाना ही पड़ता है। हां युद्ध के बाद जो मन्दी आई

प्रैक्टिकल इकॉनॉमिक्स—जी. डी. एच. कोल पृ. १९४

उसमें दूसरों के समान ब्रिटेन को भी आर्थिक संयोजन की दिशा में कुछ कदम उठाने पड़े। परन्तु उसका सारा संयोजन टुकड़ों में हुआ है। उसमें समन्वय और सुसम्बद्धता नहीं थी और जहाँतक ऊपरी दिखावे से सम्बन्ध है उसके पीछे कोई निश्चित उद्देश्य भी नहीं था। उसने जो भी कुछ किया परिस्थिति से लाचार हो जाने पर सामने खड़ी मुसीबत का मुकाबला करने भर के लिए किया। इस दिशा में उसका सबसे ताजा कदम था 'बीवरेज योजना'। इस योजना का मुख्य उद्देश्य था 'पूरा काम' और राष्ट्र के द्वारा नागरिकों को यह आश्वासन देना कि वह उन्हें किसी भी मुसीबत में असहाय नहीं छोड़ देगी। इसलिए उसने उन्हें रोटी दिलाने की हामी भरी; पंगुता के बदले निर्माण किये बूढ़ों को घरबैठे सहायता का प्रबन्ध किया, नये बच्चों के कारण बढ़े हुए खर्च का प्रबन्ध किया और बीमारों के उपचार की व्यवस्था की। उसका उद्देश्य था धनवानों पर कर लगाकर उन्हें कुछ नीचे लाना और इस धन की सहायता से गरीबों के लिए कुछ सहूलियतें करके उनके जीवन स्तर को कुछ ऊपर उठा देना। डिज़रैली कहा करता था कि इंग्लैंड अमीरों और गरीबों के अलग-अलग दो राष्ट्रों में बंट गया है—परन्तु बीवरेज-योजना जैसे उपचारों से गीलरिंग के शब्दों में कहें तो देश दूसरे प्रकार के 'दो राष्ट्रों में बंट जाता है। एक तो कर देनेवालों का राष्ट्र और दूसरा करों से लाभ उठानेवालों का राष्ट्र।' यह सच है कि बेकारी से रक्षा का आश्वासन देना उतनी खराब चीज़ नहीं है, जितनी दान और भिक्षा। परन्तु हमें मानना पड़ेगा कि यह कोई बहुत बड़ा फर्क नहीं है। यह तो डाकिनी प्राणायाम के ढंग का संयोजन हुआ अर्थात् पहले तो धनवानों को खुला छोड़ दें कि वे गरीबों को पेट भर लूट लें और फिर उन्हीं धनवानों पर कर लगाकर उसकी सहायता से गरीबों के सामने भत्ते और सहूलियतों के रूप में कुछ टुकड़े फेंक दें। यह सारी प्रक्रिया अस्वाभाविक अपमानजनक और अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के विपरीत है।

तीसरे प्रकार की योजना वह है, जिसे सोवियत रूस ने अपनाया है। रूस की पंचवर्षीय योजनाओं ने सारे संसार का ध्यान अपनी तरफ आकर्षित कर लिया है। सबने उन्हें सराहा भी क्योंकि वे ऐसे सिद्धान्तों पर

दि पॉव ऑफ दि भारतम्, पृ० १०५

बनाई गई थीं जो पूंजीवादी नहीं थे। सारे संसार के लोगों ने शोषित मानवता के उद्धारक के रूप में उनका स्वागत किया। यह भी सत्य है कि यह योजना सर्वांगपूर्ण थी और उसकी मदद से सोवियत रूस अपनी जनता के जीवन-स्तर को ऊपर उठाने में सफल भी हुआ। उसने पूरी सख्ती से काम लिया और पूंजीपति-वर्ग को जड़-मूल से उखाड़कर फेंक दिया। कत्ले आम हुए, राष्ट्र-द्रोहियों को अदालतों में खड़ा करके उन्हें कठोर सजाएं सुनाई गईं और मैदान साफ कर दिया गया। इस प्रकार सर्वहारा वर्ग की तरफ से साम्यवादी दल सर्वसत्ताधीश बन गया और व्यक्ति की स्वाधीनता को कठोरता के साथ कम कर दिया गया। फिर भी आर्थिक नव-निर्माण की दिशा में रूस का यह प्रयोग एक बहुत बड़ी चीज माना जाता है, इसलिए कि उसने पूंजीवाद को उसके ऊंचे सिंहासन से घसीटकर नीचे गिरा दिया और जनसाधारण के हितों को सामने रखकर संयोजन किया। उद्योग कारखाने और नौकरी तथा बाहरी व्यापार को राज्य ने अपने हाथों में ले लिया और इन सबका नियन्त्रण एवं संचालन जनता के हित में किया। इस कारण रूस की क्रान्ति ने संसार के गरीब शोषित और पद-दलित राष्ट्रों को स्वमा नव नई आशा से भर दिया।

परन्तु अब इसकी भी प्रतिक्रिया शुरू हो गई है। अबतक जो लोग रूस की क्रान्ति और रूस की अर्थ-व्यवस्था की तारीफ करते थे उनका भ्रम दूर हो गया है। उनकी आंखें खुलने लगी हैं। लुई फिशर, मैक्स ईस्टमन आन्द्रे जीद और ग्रेडा ग्रटसी जैसे लेखक और विचारक वर्षों रूस में जाकर रहे। इन्होंने रूस का प्रयोग दुनिया के सामने रक्खा और बड़े उत्साह के साथ दुनिया को वह समझाया भी। परन्तु रूस की यह क्रान्ति जिस दिशा में जा रही है उसे देखकर इन्हींको अब बड़ी निराशा हो रही है। प्रारंभ में यह बताया गया था कि साम्यवादी समाज प्रजातन्त्री होगा उसमें वर्ग नहीं होंगे और वह अन्तर्राष्ट्रीय होगा अर्थात् राष्ट्र-राष्ट्र के बीच उसमें कोई भेद-भाव नहीं होगा। कहा गया है कि सर्वहारा अधिनायक-तन्त्र तो तात्कालिक संक्रमण काल की व्यवस्था-मात्र है। उसके बाद स्वयं राज्य संस्था गलकर नष्ट हो जायगी। लोकतन्त्र सोवियत संघटन की धारणा बताया जाता था और क्रान्ति का अन्तिम लक्ष्य अंतर्राष्ट्रीय साम्यवाद

बताया जा रहा था। परन्तु आज वास्तविकता क्या है? समाज से वर्ग हटने के बजाय व्यवस्थापकों का एक नया वर्ग वहां निर्माण हो गया है और वह सारे समाज पर हावी हो गया है। इसके अलावा आमदनियों की विषमता भी बढ़ रही है यहांतक कि   १ का अन्तर हो गया है। व्यक्तिगत स्वाधीनता पर लगी बन्दिशों के जरा भी कम होने के चिह्न कहीं दिखाई नहीं दे रहे हैं और अधिनायक-तन्त्र इस हद तक पहुंच गया है कि सारा समाज सैनिक अनुशासन में जकड़ दिया गया है। इसके अतिरिक्त जब देश राष्ट्रीयता की ओर फिर लौट आता है तो उसके अनिवार्य परिणाम अर्थात् साम्राज्यवाद से बचना असम्भव हो जाता है—फिर उसकी शान भले ही 'समाजवादी' हो।

इस रूप-परिवर्तन का असली कारण बहुत दूर नहीं है। जहां नियन्त्रण केन्द्रित और संयोजन विराट होगा निश्चय ही वहां व्यक्ति की स्वाधीनता कुचली जायगी नष्ट होगी और इस परिस्थिति में निर्माण होनेवाली राज सत्ता शासकों को नीति भ्रष्ट किये बिना नहीं रहेगी—फिर वे कितने ही महान् और बड़े दिलवाले क्यों न हों। प्राध्यापक जोड ने अपनी पुस्तक 'गाइड टू दी फिलासफी ऑफ मोरल्स एण्ड पॉलिटिक्स—नीति और राजकारण के तत्त्वज्ञान की मार्ग-दर्शिका'—में लिखा है—

"इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अधिनायक तन्त्र की प्रकृति ही ऐसी है कि ज्यों-ज्यों उसकी उम्र बढ़ती जाती है, वह कम नहीं अधिक उग्र और आलोचना के प्रति अधिक असहिष्णु बनता जाता है। संसार की वर्तमान घटनाएं इस कथन की पुष्टि करती हैं। परन्तु साम्य-वाद के सिद्धान्त इतिहास के इस अनुभव के ठीक विपरीत दावा करते हैं। कहते हैं कि एक निश्चित समय पर साम्यवादी शासन के इंजिन अपना मुंह फेर लेंगे और सत्ता का त्याग कर देंगे तथा अबतक लोगों को स्वतन्त्रता देने से जो इन्कार किया जाता रहा है, वह दे दी जायगी। परन्तु न तो इतिहास और न मानस-शास्त्र इस नतीजे पर पहुंचाने में हमारी मदद करता है।

---

[1] बर्नहम का 'मैनेजरियल रेवोल्यूशन'

यह सच है कि सोवियत रूस में उत्पादन के साधनों और औजारों पर राज्य का स्वामित्व है। परन्तु सबसे बड़ी बात तो यह है कि स्वयं राज्य यन्त्र पर किसका प्रभुत्व या स्वामित्व है? राजनैतिक और आर्थिक मामलों पर केन्द्रीय शासन की सम्पूर्ण सत्ता है और इस कारण सारी सत्ता सर्वोच्च अधिनायक और उसके प्रबन्धकों की बनाई गई नौकरशाही के हाथों में अपने-आप इकट्ठी हो गई है। डॉ ज्ञानचन्द ने अपनी 'इकॉनॉमिक प्रॉबलम्स ऑव इंडिया' की भूमिका में लिखा है

"हमें मानना ही पड़ेगा कि जहां उत्पादन की सम्पूर्ण प्रणाली पर केन्द्र की अधिसत्ता होती है वहां मनमानी होगी ही और यह मनमानी खतरनाक बड़ी खतरनाक है। यों तो अपनी आजीविका के लिए किसी एक मालिक का मुहताज होना भी बुरा है परन्तु इस प्रकार राज्य का मुहताज होना तो हजार-लाख गुना बुरा है क्योंकि वहां काम देने-दिलाने के सारे साधन उसीके हाथों में होते हैं।

प्राध्यापक गिन्सबर्ग ने अपनी पुस्तक 'साइकोलॉजी ऑव सोसाइटी' में कहा है

सत्ता का केन्द्रीकरण करनेवाले हर प्रकार के शासन में अन्ततोगत्वा सत्ता के सारे सूत्र एक हाथ में पहुंच जाते हैं। हमें कहा जाता है कि राज्य गलकर गिर जायगा परन्तु उस सूरत में निश्चय ही कोई नई अन्य-संस्था सत्ता को हथिया लेगी। इसलिए यदि पुनर्निर्माण करना है और यदि आप चाहते हैं कि वह सच्चा पुनर्निर्माण हो तो आपको विकेन्द्रीकरण की ही राह पकड़नी पड़ेगी।

इस प्रकार जनता के तीन सिद्धान्तों—राष्ट्रीयता प्रजातन्त्र और जीविकोपार्जन—के प्रकाश में देखने पर नाजी अमरीकी और रूसी तीनों प्रकार की योजनाएं हमें अपने आदर्श की ओर नहीं ले जा सकतीं। रूसी योजना जीविकोपार्जन के लक्ष्य को बहुत बड़ी हद तक पूरा करती है, परन्तु केवल जीविकोपार्जन ही काफी नहीं है। उसके साथ-साथ मानवी की और मनुष्य के अपने व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास की भी गुंजाइश और अवसर का होना जरूरी है।

तब हमारे सामने क्या उपाय है? यह कि जीवन को सादा बनावें

सत्ता और सम्पत्ति का विकेन्द्रीकरण हो और गृहोद्योगों के ढंग पर औद्योगीकरण हो। आज यद्यपि दूसरे तमाम आर्थिक सिद्धान्तों ने अंधेरी गली में छोड़ दिया है, गांधीजी के आर्थिक विचार असाधारण महत्त्व पाते जा रहे हैं। उसका कारण उनकी अनोखी दृष्टि है। एक समय था जब गांधीजी के विचार लोगों को स्वप्न समान और अव्यावहारिक मालूम होते थे परन्तु उसके बाद इस देश में तथा संसार में समस्त मनुष्य जाति को जो अनुभव हुए हैं उन्होंने उसे गृहोद्योगों के आधार पर विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था के लाभ और परिणामों के बारे में अधिक गहराई से विचार करने पर मजबूर कर दिया है। प्राध्यापक कोल जैसे ब्रिटेन के प्रमुख अर्थशास्त्री को यह स्वीकार करना पड़ा है कि "खादी और गृहोद्योगों के विकास के लिए गांधीजी ने जो अभियान प्रारंभ किया है, वह भूतकाल को फिर से लौटा लाने के लिए किया गया अव्यावहारिक प्रयास नहीं है, बल्कि भारत के ग्रामीणों की भयंकर गरीबी को दूर करके उनके जीवन-स्तर को ऊंचा उठानेवाला एक व्यावहारिक और लाभदायक कदम है।"[1] इसलिए गांधीवादी योजना सामयिक व्यावहारिक और एक जरूरी चीज है क्योंकि युद्ध-जर्जर संसार के सामने यह एक ऐसी अर्थ-रचना प्रस्तुत करती है, जो शान्ति प्रजातन्त्र और मानवी मूल्यों पर आधारित है।

: ४ :

समाज की आर्थिक रचना कैसी हो इसके बारे में गांधीजी के विचार जिन सिद्धान्तों पर आधारित हैं उनका अब हम विश्लेषण करें। जबतक हम इन मूलभूत कल्पनाओं को नहीं समझ लेंगे तबतक हम शायद यह नहीं जान पायेंगे कि वे ग्रामोद्योगों पर और विकेन्द्रित उत्पादन पर इतना जोर क्यों देते थे।

सादगी

गांधीजी पुरातनपन्थी और प्रगति-विरोधी नहीं हैं। वह यंत्रों के

[1] 'ए गाइड टु मार्डन पॉलिटिक्स' जी. डी. एच. कोल, पृ० ११

कांटे पीछे नहीं हटा रहे हैं। वास्तव में वह एक व्यावहारिक आदर्शवादी हैं। इसलिए वह पहचान गये हैं कि वर्तमान सभ्यता का रोग क्या है। उन्होंने इस रोग से बचने का उपाय भी बता दिया है और इसमें भी वह जमाने के पीछे नहीं आगे ही हैं। आज की पश्चिमी सभ्यता भौतिक समृद्धि को बहुत चाहती है। वह चाहती है कि एक प्रगतिशील व्यक्ति या राष्ट्र इन सुख-साधनों और विलास की सामग्री को जितना भी जुटा सके जुटावे। गांधीजी ने अपने 'हिन्द स्वराज्य' में लिखा भी है कि 'आधुनिक सभ्यता की मुख्य पहचान यह है कि इसके भक्त शरीर के सुखों को अपने जीवन का आदर्श मानते हैं।

परन्तु भारतीय आदर्श यह नहीं रहा है। गांधीजी कहते हैं 'मन बड़ा चंचल है। उसे जितना अधिक मिलता जाता है उसका लालच बढ़ता ही जाता है और अन्त उसे कभी सन्तोष नहीं होता। विषयों का हम जितना सेवन करते हैं वे बढ़ते ही जाते हैं। इसलिए हमारे पूर्वजों ने इनके भोग की सीमा निश्चित कर दी। उन्होंने देखा कि सुख मन की चीज है। धनवान मनुष्य सुखी होगा ही ऐसी बात नहीं है और न यही सच है कि जिसके पास धन नहीं है वह जरूर ही दुखी रहेगा। धनवान अक्सर दुखी देखे गये हैं और गरीब सुखी। यह सब देखकर और अनुभव करके हमारे पुरखों ने हमें भोग-सामग्री से दूर रहने का उपदेश दिया है। हम यन्त्रों का आविष्कार नहीं कर सकते थे सो बात नहीं है परन्तु हमारे पूर्वज जानते थे कि यदि हम अपना दिमाग इन चीजों में लगायेंगे तो हम उनके गुलाम बन जायेंगे और अपनी नैतिक शक्ति को खो देंगे। इसलिए बहुत गहरे विचार के बाद उन्होंने यही निश्चय किया कि हम केवल वही करें, जो अपने हाथों और पांवों से कर सकते हैं। उन्होंने देखा कि सच्चा सुख और आरोग्य अपने हाथ-पांव और शरीर का उपयोग करने ही में है।'[1]

गांधीजी कहते हैं "मैं नहीं मानता कि जरूरतें बढ़ाने से और इन्हें पूरी करने के लिए यन्त्रों की सहायता लेने से मानव-जाति अपने आदर्श की तरफ एक कदम भी बढ़ सकती है। समय और दूरी को नष्ट करने की इस

[1] 'हिन्द स्वराज्य' पृ. [illegible]

अभिलाषा का—भौतिक विकारों को बढ़ाना और उन्हें शान्त करने के लिए पृथ्वी के उस पार तक दौड़ लगाना—मैं बहुत बुरा मानता हूँ।[1]

एल० पी० जैक्स ने एक पुस्तक लिखी है—'[illegible]'। उसमें व्यंग्योक्तिपूर्ण वर्णन है

"आखिर इस प्रगति के मानी क्या हैं? इससे क्या लाभ है? बस बढ़ चलो, बढ़ चलो! पर कहां? हम कहते हैं बढ़ जाओ। जीवन का उद्देश्य है सुखमय भोग जीवन।

इस प्रकार आधुनिक सभ्यता की विपुलता के प्रवाह में बहे हुए लोग कहते गांधीजी के विचार तो संन्यासियों के-से हैं। परन्तु सच यह है कि गांधीजी ने वर्तमान अर्थव्यवस्था और राजनैतिक संघर्ष की जड़ में पहुंच कर देख लिया है और हमारी दुरवस्था के असली कारण पर अपनी अंगुली रख दी है। एक प्रसिद्ध अंगरेज लेखक ने लिखा है "वास्तव में समाजवाद और साम्यवाद भी सामन्ती पूंजीवाद के ही आविष्कार हैं।" इसका कारण यह है कि धन को और उसकी सहायता से खरीदी जानेवाली चीजों के संग्रह को दोनों सर्वोपरि महत्त्व प्रदान करते हैं। इसीलिए तो बर्ट्रेण्ड रसल ने कहा है, "यदि कभी समाजवाद आया तो वह समाज के लिए तभी लाभदायक हो सकेगा जब वह पैसे को नहीं वस्तुओं को महत्त्व देगा और इस आदर्श पर दृढ़ता के साथ चलेगा।[2]

यूनान में एक अति सुन्दर युवक की कहानी है, जो अपने ही रूप पर मोहित होकर घुल घुलकर मर गया। वर्तमान सभ्यता भी इसी प्रकार अपने वैभव और विपुलता पर मोहित है, इसलिए शायद इसके भाग्य में भी उसी युवक की भांति अपने रूप पर मोहित होकर घुल-घुलकर मर जाना लिखा है। धन और भौतिक सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए एक लम्बी दौड़ लग रही है। उसने संसार को भीषण कठोर साम्राज्यवाद और नर-संहार के भंवर में ढकेल दिया है। इसलिए यदि हम अपने विचारों का परीक्षण करके अपने आदर्शों और जीवन के प्रति रुख को नहीं बदलेंगे तो चतुर-से-चतुर संयोजन और विद्वान-से विद्वान अर्थशास्त्रियों की तरकीबें और मार्ग

[1] 'यंग इंडिया'—१७-३-१९२७
[2] 'रोड्स टु फ्रीडम'

दर्शन भी संसार को अंतिम सर्वनाश से नहीं बचा सकेंगे। सचमुच हम बड़े जबरदस्त सांसारिक मोह में फंस गए हैं। हमारी सारी बुद्धि और शक्ति दौलत कमाने में लगी हुई है। हमने उसीको सबकुछ मान लिया है। पैसा पहले-पहल विनिमय के एक साधन के रूप में आया किन्तु आज तो वही सम्पत्ति बन बैठा है और उसके अत्याचारी शासन में संसार पिसा जा रहा है। सोने के पीछे पागल मिडास की कहानी हम जानते हैं जो बड़ी अर्थ पूर्ण है। समय रहते इस कहानी से हमें शिक्षा ग्रहण कर लेना चाहिए, क्योंकि यदि इस पागलपन को हमने दूर नहीं किया तो पैसे पर हम तमाम मानवी मूल्यों को निछावर कर देंगे और अंत में हम स्वयं भी सोने की किन्तु निष्प्राण मूर्ति बन जायंगे। हमारे सारे सम्बन्धों का आधार केवल पैसा ही न हो। मानव-जीवन मे सबसे अच्छी चीज वह नहीं है, जिसमें एक का लाभ और दूसरे की हानि है। राष्ट्र का सच्चा धन बड़े-बड़े आलीशान महल भीमकाय कारखाने और विलास की सामग्री नहीं बल्कि सच्चे नेक सुसंस्कारशील और नि:स्वार्थ नागरिक—स्त्रियां और पुरुष—हैं। बर्न्स ने कहा है, 'गरीब होने पर भी ईमानदार आदमी राजाओं से भी अधिक इज्जत पाता है।

रवि ठाकुर पूछते हैं 'केवल 'चोंको-चोंको-चोंको' में क्या लाभ है? आवाज को अधिक-से-अधिक ऊंचा करने से वह कर्ण-कटु—कर्कश—ही बनती है। संगीत तो स्वर के संयम और उसके तालबद्ध करने में है।'[1]

ईसा से कोई चारसौ वर्ष पूर्व आचार्य कौटिल्य भारत के बहुत बड़े विचारक हो गये हैं। वह अत्यन्त व्यवहार-कुशल और चतुर माने जाते हैं। अपने अर्थशास्त्र म उन्होंने लिखा है

"समस्त शास्त्रों ने इन्द्रियों के संयम को सबसे ऊंचा बताया है। जिसने इन्हें अपने वश में नहीं किया जिसका जीवन इसके विपरीत है, उसका नाश अवश्यम्भावी है चाहे वह सारी पृथ्वी का स्वामी हो।"

पूर्व के लोगों को इन वचनों में पूरी-पूरी श्रद्धा होती है। उनके लिए ये सूर्य के समान प्रत्यक्ष हैं। उन्हें ये अपनी माता के दूध के साथ ही मिल

---

[1] [illegible]

अभिलाषा को—आधिभौतिक विकारों को बढ़ाना और उन्हें शान्त करने के लिए पृथ्वी के उस छोर तक दौड़ लगाना—मैं बहुत बुरा मानता हूँ।

एच. जी. वेल्स ने एक पुस्तक लिखी है—'मिस्ड टू बर्म'। उसमें म्योम्नोकोपुमस कहता है

"आखिर इस प्रगति के माने क्या हैं? इसमें क्या लाभ है? बस बढ़ चलो, बढ़ चलो! पर कहाँ? हम कहते हैं रुक जाओ। जीवन का उद्देश्य है सुखमय शांत जीवन।

इस प्रकार आधुनिक सभ्यता की विपुलता के प्रवाह में डूबे हुए लोग कहते गांधीजी के विचार या सम्भावनाएँ कैसे हैं। परन्तु सच यह है कि गांधीजी ने वर्तमान अव्यवस्था और राजनैतिक संघर्ष की जड़ में पहुँच कर देख लिया है और हमारी बुराइयों के असली कारण पर अपनी अंगुली रख दी है। एक प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक ने लिखा है "वास्तव में समाजवाद और साम्यवाद भी असल में पूँजीवाद के ही भाईबन्द हैं। इसका कारण यह है कि धन को और उसकी सहायता से खरीदी जानेवाली चीजों के संग्रह को दोनों सर्वोपरि महत्त्व प्रदान करते हैं। इसीलिए तो बर्ट्रेण्ड रसेल ने कहा है, "यदि कभी समाजवाद आया तो वह समाज के लिए तभी लाभदायक हो सकेगा जब वह पैसे को नहीं वस्तुओं को महत्त्व देगा और इस आदर्श पर दृढ़ता के साथ चलेगा।"[२]

यूनान में एक अति सुन्दर युवक की कहानी है, जो अपने ही रूप पर मोहित होकर घुल-घुलकर मर गया। वर्तमान सभ्यता भी इसी प्रकार अपने वैभव और विपुलता पर मोहित है, इसलिए शायद इसके भाग्य में भी उसी युवक की भाँति अपने रूप पर मोहित होकर घुल-घुलकर मर जाना लिखा है। धन और भौतिक सम्पत्ति को पाने के लिए एक अन्धी दौड़ लग रही है। उसने संसार को शोषण, कठोर साम्राज्यवाद और नर-संहार के भँवर में ढकेल दिया है। इसलिए यदि हम अपने विचारों का परीक्षण करके अपने आदर्शों और जीवन के प्रति रुख को नहीं बदलेंगे तो चतुर-से चतुर प्रयोजन और विज्ञान-से विज्ञान अर्थशास्त्रियों की तरकीबें और आयो-

---

[१] यंग इंडिया—१०-८-१९२०

[२] 'रोड्स टु फ्रीडम'

दर्शन भी संसार को प्रतिम सर्वनाश से नहीं बचा सकेंगे। सचमुच हम बड़े जबरदस्त सांसारिक मोह में फंस गये हैं। हमारी सारी बुद्धि और शक्ति दौलत कमाने में लगी हुई है। हमने उसीको सबकुछ मान लिया है। पैसा पहले-पहल विनिमय के एक साधन के रूप में आया किन्तु आज तो वही सम्पत्ति बन बैठा है और उसके अत्याचारी शासन में संसार पिसा जा रहा है। सोने के पीछे पागल मिडास की कहानी हम जानते हैं जो बड़ी अर्थपूर्ण है। समय रहते इस कहानी से हमें शिक्षा ग्रहण कर लेना चाहिए, क्योंकि यदि इस पागलपन को हमने दूर नहीं किया तो पैसे पर हम तमाम मानवी मूल्यों को निछावर कर देंगे और अन्त में हम स्वयं भी सोने की किन्तु निष्प्राण मूर्ति बन जायंगे। हमारे सारे सम्बन्धों का आधार केवल पैसा ही न हो। मानव-जीवन में सबसे अच्छी चीज वह नहीं है, जिसमें एक का लाभ और दूसरे की हानि है। राष्ट्र का सच्चा धन बड़े-बड़े आलीशान महल भीमकाय कारखाने और विलास की सामग्री नहीं बल्कि सच्चे नेक संस्कारशील और निःस्वार्थ नागरिक—स्त्रियां और पुरुष—हैं। बर्न्स ने कहा है गरीब होने पर भी ईमानदार आदमी राजाओं से भी अधिक इज्जत पाता है।

रवि ठाकुर पूछते हैं "केवल 'ओहो-ओहो-ओहो' में क्या लाभ है? आवाज को अधिक-से-अधिक ऊंचा करने से वह कर्ण-कटु—कर्कश—ही बनती है। संगीत तो स्वर के संयम और उसके तालबद्ध करने में है।"[1]

ईसा से कोई बारसौ वर्ष पूर्व आचार्य कौटिल्य भारत के बहुत बड़े विचारक हो गये हैं। वह अत्यन्त व्यवहार-कुशल और चतुर माने जाते हैं। अपने अर्थशास्त्र में उन्होंने लिखा है

"समस्त शास्त्रों ने इन्द्रियों के संयम को सबसे ऊंचा बताया है। जिसने इन्हें अपने वश में नहीं किया जिसका जीवन इसके विपरीत है उसका नाश अवश्यम्भावी है चाहे वह सारी पृथ्वी का स्वामी हो।

पूर्व के लोगों को इन बातों में पूरी-पूरी श्रद्धा होती है। उनके लिए ये सूर्य के समान प्रत्यक्ष हैं। उन्हें ये अपनी माता के दूध के साथ ही मिल

---

[1] 'ऑदुम कोम टैगोर'

जाते हैं। परन्तु पश्चिम के लोगों को ये विचार अनयुक्त और हवाई लगते हैं। इन्हें वे निरी भावुकता समझते हैं। इसका कारण भी है। आधुनिक अर्थशास्त्र की रचना पूरी तरह से पश्चिमी मान्यताओं के आधार पर हुई है। पूर्व अभी उसे अपने सिद्धान्तों और विचारों से प्रभावित नहीं कर सका है। परन्तु हम यह नहीं भूलना चाहिए कि पूर्व का भी अपना अर्थशास्त्र रहा है—आज भी है और वह यदि अधिक नहीं तो कम-से-कम इतना ही आत्माधारित है, जितना कि पश्चिमी अर्थशास्त्र। इसलिए अपने अर्थशास्त्र सम्बन्धी विचारों को दृढ़ता के साथ प्रकट करने में गांधीजी ने कभी संकोच और झिझक का अनुभव नहीं किया क्योंकि वे भारतीय अर्थशास्त्र पर आधारित हैं। गांधीवाद का सबसे पहला और मूलभूत सिद्धान्त है सादगी। गांधीजी नहीं मानते कि जीवन जितना जटिल होगा उतना ही वह प्रगतिशील होगा। उनकी दृष्टि में तो प्रगतिशील अर्थ रचना वह है, जिसमें व्यक्ति और समाज का जीवन अधिक सादा और पूर्ण हो।

गांधीजी के विचार में औद्योगिकता का अर्थ है भौतिक सम्पत्ति के लिए अनवरत दौड़। इसमें नीति और मानवीय मूल्यों का ह्रास ही होता है। इसीलिए उन्होंने इसके भारत में प्रवेश का बड़ी दृढ़ता के साथ विरोध किया है। इस बारे में वह किसीसे समझौता करने के लिए तैयार नहीं हैं।

"राष्ट्रीय संयोजन के बारे में आज आम तौर पर जो विचार लोगों में पाये जाते हैं उनसे मेरे विचार भिन्न हैं। मैं नहीं चाहता कि हमारा संयोजन औद्योगीकरण के ढंग पर हो। मैं तो चाहता हूं कि हमारे गांव इस रोग की छूत से दूर ही रहें।"[1]

सादगी के नैतिक और मनोवैज्ञानिक मूल्य तो हैं ही। परन्तु अफलातून के शब्दों में कहें तो औद्योगीकरण के द्वारा धन के पीछे "आंखें मूंदकर" दौड़ना दूसरे कारणों से भी बुरा है और इसलिए गांधीजी उसके विरुद्ध हैं। यदि सदा जागरूक रहकर हम अपने ही परिश्रम के सहारे जीते हैं तो अधिक-से-अधिक स्वावलम्बी अर्थात् आज़ाद रहते हैं। औद्योगीकरण द्वारा तो आर्थिक गुलामी की जंजीर में बुरी तरह जकड़ लिये जाने का खतरा होता है। इसलिए जहां तक हमारी रोजमर्रा की जरूरतों और साधारण

[1] 'हरिजन' २९-८।४४

सुविधाओं का सम्बन्ध है वह इनके केन्द्रित उत्पादन को बहुत बुरा मानते हैं और कहते हैं कि इनके बारे में जहांतक सम्भव हो हर मनुष्य को स्वतन्त्र और अपने परिश्रम पर ही निर्भर रहना चाहिए। उनका कथन है कि हमारी सारी प्रवृत्तियों और कामों का उद्देश्य मानव के व्यक्तित्व का विकास हो और वह आजादी के वातावरण में हो। इसीलिए उद्योगों को अपने-अपने स्वाभाविक क्षेत्रों में फैला देने पर वे जोर देते हैं। यह सच है कि बड़े पैमाने पर उत्पादन करने से चीजें अधिक परिमाण में बनने लगेंगी और हमें बड़ी सहूलियत हो जायगी परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि हमें कदम-कदम पर दूसरे का मुंह ताकना होगा। स्वतन्त्र होने के लिए अपनी आजादी खोकर हम अपनी दुर्गति कर लेंगे। तब सच्चे प्रजातन्त्र के कहीं दर्शन भी नहीं होंगे क्योंकि प्रजातन्त्र वहीं जिन्दा रह सकता है अथवा यों कहें कि प्रजातन्त्र का जन्म वहीं हो सकता है जहां अपना तन्त्र चलानेवाले प्रजाजनों में से हर आदमी और औरत अपने जीवन का नियमन खुद करने की क्षमता—योग्यता—रखती है।

अहिंसा

गांधीजी के आर्थिक विचारों का दूसरा आधारभूत सिद्धान्त अहिंसा है। *गांधीजी का निश्चित मत है कि हिंसा के बल पर, चाहे वह किसी प्रकार की हो* कभी स्थायी शान्ति अथवा सामाजिक या आर्थिक नवरचना की स्थापना नहीं की जा सकती। सच्चा प्रजातन्त्र और मनुष्य के व्यक्तित्व का सही-सही विकास अहिंसक समाज में ही सम्भव है। हिंसा से हिंसा बढ़ती है और जिस चीज को हिंसा के बल पर प्राप्त किया जाता है उसकी रक्षा के लिए और भी अधिक हिंसा की जरूरत होती है। हिंसा और सच्ची स्वतंत्रता एकदम बेमेल चीजें हैं। हिंसा के बल पर प्राप्त की हुई आजादी झूठी ही कही जायगी क्योंकि जो हाथ में तलवार पकड़ेंगे उन सबकी मौत तलवार से ही होगी। इसीलिए गांधीजी हिंसा से कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहते थे। समाज का संयोजन अपने-आपमें कोई साध्य या आदर्श नहीं है। वह तो एक साध्य का साधन-मात्र है और यदि मान लें कि वह साध्य है तो भी वह नहीं मानते कि अच्छा साध्य कभी बुरे साधनों से प्राप्त किया जा सकता है। साध्य की अच्छाई की रक्षा तभी हो सकेगी जब

उसकी प्राप्ति के साधन भी उतने ही अच्छे होंगे। इसीलिए गांधीजी कहते हैं कि समाजवादी समाज की रचना भी खूनी क्रान्ति के द्वारा नहीं अहिंसक उपायों के द्वारा ही की जानी चाहिए।

यह अहिंसा कोई धार्मिक यम-नियम नहीं है और अकेले गांधीजी ही इसकी जरूरत और महत्व पर जोर नहीं दे रहे हैं। प्राध्यापक लास्की ने सामाजिक और राजनैतिक घटनाओं के विकास क्रम का गहराई से अध्ययन किया है। इसके बाद उन्होंने स्वीकार किया है कि "द्वेष और हिंसा हमारे काम की चीजें नहीं हैं। क्रान्ति तो समझा-बुझाकर अर्थात् विचार-परिवर्तन से ही होनी चाहिए, क्योंकि दूसरे तमाम दोषों में द्वेष अपने मालिक के लिए एक नासूर (कैंसर) के समान है। दूसरे की जिस प्रकृति या स्वभाव की हम निन्दा करते हैं, द्वेष उसी को हमारे अन्दर पैदा कर देता है। आज के समाज में यदि बलवान पुरुष चाहता है कि वह सदा बलवान बना रहे तो उसे सच्चा और न्यायशील भी बनना पड़ेगा। यूरोप के आध्यात्मिक जीवन का सिलसिला सीजर अथवा नेपोलियन नहीं देता है। इसी प्रकार पूर्व की संस्कृति चंगेज खां और अकबर की अपेक्षा बुद्ध द्वारा अधिक प्रभावित हुई है। अगर हम जिन्दा रहना चाहते हैं तो हमें इस सत्य को समझना ही होगा। हम द्वेष और शत्रुता पर प्रेम से ही विजय पा सकते हैं और असत् पर सत् के द्वारा। नीचता से तो नीचता ही पैदा होती है।"[1]

'स्ट्रेटेजी ऑव फ्रीडम' में लास्की ने लिखा है

"हम मानते हैं कि जोर-जबरदस्ती से लादी गई चीज उतने दिन नहीं टिकती जितनी समझा-बुझाकर अपने साथ ली हुई टिकती है।

पहला महायुद्ध इसलिए लड़ा गया कि संसार में प्रजातंत्र की रक्षा और स्थायी शान्ति की स्थापना हो। परन्तु युद्ध में और उसके बाद भी जर्मनी को इतनी बुरी तरह कुचला गया कि उसकी प्रतिक्रिया के रूप में उसने हिटलर को जन्म दिया और अब चूंकि हिटलर को उसी प्रकार हिंसा से कुचल दिया गया है तो इस हिंसा-जनित शान्ति के अन्दर से निश्चय ही कोई और नया हिटलर पैदा हुए बगैर नहीं रहेगा। यह कहने से काम नहीं

[1] 'ग्रामर ऑव पॉलिटिक्स' पृ० १८८

मानेंगा कि "संसार में तो हिंसा सदा से चली आई है और युद्ध या गांधी के कहने से वह जानेवाली नहीं है। मनुष्य मूलतः आखिर एक पशु ही तो है। इस बात को अब कोई नहीं मानता। अतः यह बेकार का बुद्धिवाद है कि संसार में खून-खराबी जारी ही रहनेवाली है। मारकाट और खून-खराबी से संसार में कभी सच्ची शान्ति सुख और समानता स्थापित नहीं हो सकती। इसका नतीजा तो मौत और सर्वनाश ही होगा। संसार की घटनाएं इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अतलांतिक चार्टर के प्रणेता भी उसमें लिखते हैं कि "वास्तविक या आध्यात्मिक कारण इतने बलवान हैं कि संसार के समस्त राष्ट्रों को अब बल का प्रयोग छोड़ना पड़ेगा। इसलिए मैं तो गांधीजी की अहिंसा को कोरी भावुकता नहीं मानता। उसमें ठोस वास्तविकताओं की स्वीकृति और वर्तमान निराशा की खाई में से संसार के उद्धार का रामबाण उपाय है।

गांधीजी के अर्थशास्त्र को हम अहिंसा का अर्थशास्त्र कह सकते हैं क्योंकि उसमें उनकी अहिंसा ओत-प्रोत है। पूंजीवाद का आधार है 'अतिरिक्त मूल्य' को हड़प जाना यह सरासर हिंसा है। यंत्र तो पूंजीवाद का गुलाम-मात्र है। वह मजदूरों को हटाकर मुट्ठीभर आदमियों के हाथों में संपत्ति और सत्ता को केन्द्रित कर देता है। इस प्रकार संपत्ति हिंसा की मदद से एकत्र की जाती है और उसीकी मदद से उसकी रक्षा भी की जाती है। इसलिए गांधीजी बड़े-बड़े यन्त्रों और बड़े पैमाने पर उत्पादन के विरोधी रहे हैं। इनको वे संसार के वर्तमान संकटों का मूल कारण मानते हैं। वह कहते हैं

"मेरा मुझाव है कि यदि भारत को अहिंसा के जरिये अपना विकास करना है तो उसे बहुत-सी चीजों को विकेन्द्रित करना होगा। जबतक पास में पर्याप्त सैन्य बल नहीं होता केन्द्रीकरण जारी नहीं रह सकता और न उसकी रक्षा ही की जा सकती है। सीधे-सादे घरों में दूसरों को ललचाने लायक कुछ नहीं होता। इसलिए उनकी रक्षा के लिए लम्बे-चौड़े साधनों की भी जरूरत नहीं होती जबकि चोर-डाकुओं से धनवानों के महलों की रक्षा करने के लिए पुलिस और फौज के बड़े-बड़े दस्तों की जरूरत होती है। यही हाल बड़े-बड़े कारखानों का है। ग्रामीण सभ्यता के ढंग

पर संगठित भारत को बाहरी आक्रमणों का इतना खतरा नहीं होगा जितना जल थल और हवाई सेनाओं से सज्जित बाहरी भारत को।[1]

जोर-जबरदस्ती से और शक्ति के प्रयोग से आधुनिक समाज में आर्थिक समानता की स्थापना करने के भी गांधीजी विरोधी हैं।

"जबतक समाज के करोड़ों भूखों और मुट्ठीभर अमीरों के बीच बड़ी गहरी खाई बनी रहेगी तबतक अहिंसक सरकार की स्थापना स्पष्ट ही असम्भव है। स्वतंत्र भारत में गरीब-से-गरीब और अमीर-से-अमीर के हाथों में समान सत्ता होगी। तब नई दिल्ली के आलीशान महलों और गरीब मजदूरों की दरिद्र झोंपड़ियों के बीच यह अन्तर एक दिन भी नहीं टिकनेवाला है। यदि देश के धनवान अपनी सम्पत्ति का और उससे मिलने वाली सत्ता का खुद अपनी इच्छा से त्याग नहीं कर देंगे और सबको अपना साझीदार नहीं बनायेंगे तो एक-न-एक दिन महाभयंकर खूनी क्रान्ति होकर रहेगी। ट्रस्टीशिप (संरक्षक) वाले मेरे सिद्धान्त की लोग चाहे कितनी ही खिल्ली उड़ाएं मैं उसपर दृढ़ हूं। यह सच है कि उसका अमल मुश्किल है परन्तु इस तरह तो अहिंसा का अमल भी मुश्किल है। मेरा ख्याल है कि हिंसा के रास्ते को तो हमने बहुत आजमा लिया। वह कहीं भी सफल नहीं हुआ है। कुछ लोग कहते हैं कि रूस में यह बहुत कुछ हद तक सफल हो गया है। परन्तु मुझे तो शक है। इतनी जल्दी हम उसके बारे में इतना बड़ा दावा नहीं कर सकते। ...हमारी अहिंसा तो अभी प्रयोगावस्था में ही है। आज तो संसार को दिखाने लायक हमारे पास कुछ भी नहीं है। परन्तु जहांतक मैं देख सका हूं यह पद्धति हमें धीरे-धीरे सही अर्थात् समानता की दिशा में बढ़ाकर ले जा रही है और अहिंसा तो हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया है न। इसलिए यदि हृदय-परिवर्तन होगा तो वह हमेशा के लिए ही होगा। जो समाज या राष्ट्र अहिंसा के आधार पर अपना निर्माण करता है उसके अन्दर भीतरी तथा बाहरी आक्रमणों का भी मुकाबला करने की पूरी शक्ति होती है।[2]

आचार्य कृपलानी का भी मत है—"कोई भी आर्थिक सुधार चाहे

[1] हरिजन १ [illegible]
[2] रचनात्मक कार्यक्रम १

अपने-आपमें कितने ही अच्छे हों व्यक्ति और समाज में अभीष्ट परिवर्तन नहीं ला सकते जबतक कि वे अभीष्ट संदर्भ में और अनुरूप तरीकों से नहीं किये जायगे। जहांतक राज्य से सम्बन्ध है अभीष्ट संदर्भ का अर्थ है सार्वत्रिक विकेन्द्रीकरण और स्वायत्त शासन। और सुधारों के जारी करने का अभीष्ट तरीका है अहिंसा की पद्धतियां। गांधीजी की भांति हिंसा की सहायता से रूस में स्थापित समाजवाद को प्राध्यापक हक्सले भी बुरा मानते हैं।

"निर्दयता और जोर-जबरदस्ती से रोष पैदा होता है और रोष को दबाने के लिए फिर जबरदस्ती तथा ज्यादती करनी पड़ती है। जैसाकि हम प्राय देखते है हिंसा का मुख्य परिणाम यही होता है कि हर बार अधिकाधिक हिंसा का अवलम्बन करना पड़ता है। सोवियत समाजवाद का यही हाल हुआ है। उसका उद्देश्य अच्छा है परन्तु उसे पूरा करने के लिए वहां ऐसे तरीकों से काम लिया है, जो गलत हैं। स्वभावत इसके वे ही परिणाम हुए है जिन्हें क्रान्ति के आयोजकों ने कभी सोचा भी नहीं था।

गांधीजी के मत के अहिंसक समाज में शोषण के लिए कहीं कोई गुंजा इश नहीं होगी क्योंकि उत्पादन केवल स्थानीय और तात्कालिक जरूरत के लिए होगा दूर के बाजारों म मुनाफा कमाने के लिए नहीं। प्रत्येक गांव या ऐसे कुछ गांवों का समूह स्वशासित और स्वावलंबी होगा। इसलिए कठोर केन्द्रित संयोजन की जरूरत ही नहीं होगी। तभी लोग सच्ची आजादी और लोकतन्त्र का आनन्द पा सकेंगे। निःसन्देह इन छोटी-छोटी स्वशासित प्रजातन्त्रात्मक इकाइयों की सीमाएं छोटी होंगी परन्तु यदि आर्थिक स्वावलम्बन को छोड़ दें तो उनकी सर्वसामान्य दृष्टि संकुचित नहीं होगी न होनी चाहिए। छोटे-छोटे क्षेत्रों का इस प्रकार आर्थिक बातों में स्वावलम्बी होना बुरा नहीं है। विचार और संस्कृति के क्षेत्र में व्यापक राष्ट्रीयता अथवा अंतर्राष्ट्रीयता से यह असंगत नहीं है।

श्रम-धर्म की पवित्रता

गांधीजी के अर्थशास्त्र का तीसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त शरीर-श्रम की

'एण्ड्स एण्ड मीन्स' पृ ७०

पर संगठित भारत को बाहरी आक्रमणों का इतना खतरा नहीं होगा जितना जल थल और हवाई सेनाओं से रक्षित बाहरी भारत को।[1]

जोर-जबरदस्ती से और शक्ति के प्रयोग से आधुनिक समाज में आर्थिक समानता की स्थापना करने के भी गांधीजी विरोधी हैं।

"जबतक समाज के करोड़ों भूखों और मुट्ठीभर अमीरों के बीच जबर दस्त खाई बनी रहेगी तबतक अहिंसक सरकार की स्थापना स्पष्ट ही असम्भव है। स्वतन्त्र भारत में गरीब-से-गरीब और अमीर-से-अमीर के हाथों में समान सत्ता होगी। तब नई दिल्ली के आलीशान महलों और गरीब मजदूरों की दरिद्र झोंपड़ियों के बीच यह अन्तर एक दिन भी नहीं टिकनेवाला है। यदि देश के धनवान अपनी सम्पत्ति का और उससे मिलने वाली सत्ता का खुद अपनी इच्छा से त्याग नहीं कर देंगे और सबको अपना साझीदार नहीं बनायेंगे तो एक-न-एक दिन महाभयंकर खूनी क्रान्ति होकर रहेगी। ट्रस्टीशिप (संरक्षक) वाले मेरे सिद्धान्त की लोग चाहे कितनी ही खिल्ली उड़ायें मैं उसपर दृढ़ हूं। यह सच है कि उसका अमल मुश्किल है परन्तु इस तरह तो अहिंसा का अमल भी मुश्किल है। मेरा ख्याल है कि हिंसा के रास्ते को तो हमने बहुत आजमा लिया। वह कहीं भी सफल नहीं हुआ है। कुछ लोग कहते हैं कि रूस में वह बहुत बड़ी हद तक सफल हो गया है। परन्तु मुझे तो शक है। इतनी जल्दी हम उसके बारे में इतना बड़ा दावा नहीं कर सकते। हमारी अहिंसा तो अभी प्रयोगावस्था में ही है। आज तो संसार को दिखाने लायक हमारे पास कुछ भी नहीं है। परन्तु जहांतक मैं देख सका हूं यह पद्धति हमें धीरे-धीरे सही अर्थात् समानता की दिशा में जरूर ले जा रही है और अहिंसा तो हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया है न! इसलिए यदि हृदय-परिवर्तन होगा तो वह हमेशा के लिए ही होगा। जो समाज या राष्ट्र अहिंसा के आधार पर अपना निर्माण करता है उसके अन्दर भीतरी तथा बाहरी आक्रमणों का भी मुकाबला करने की पूरी शक्ति रहती है।"[2]

प्राध्यापक हस्मने का भी मत है—"कोई भी आर्थिक सुधार चाहे

---

[1] हरिजन १-३-१९४६
[2] [illegible] १ १ ११

अपने-आपमें कितने ही अच्छे हों व्यक्ति और समाज में अभीष्ट परिवर्तन नहीं ला सकते जबतक कि वे अभीष्ट संदर्भ में और अनुरूप तरीका से नहीं किये जायगे। जहांतक राज्य से सम्बन्ध है अभीष्ट संदर्भ का अर्थ है सार्वत्रिक विकेन्द्रीकरण और स्वायत्त शासन। और सुधारों के जारी करने का अभीष्ट तरीका है अहिंसा की पद्धतियां। गांधीजी की भांति हिंसा की सहायता से रूस में स्थापित समाजवाद को प्राध्यापक हक्सले भी बुरा मानते हैं।

"निर्दयता और जोर-जबरदस्ती से रोष पैदा होता है और रोष को दबाने के लिए फिर जबरदस्ती तथा ज्यादती करनी पड़ती है। जैसाकि हम प्रायः देखते हैं हिंसा का मुख्य परिणाम यही होता है कि हर बार अधिकाधिक हिंसा का अवलम्बन करना पड़ता है। सोवियत संयोजन का यही हाल हुआ है। उसका उद्देश्य अच्छा है परन्तु उसे पूरा करने के लिए वहां ऐसे तरीकों से काम लिया है जो गलत हैं। स्वभावतः इसके वे ही परिणाम हुए हैं जिन्हें क्रान्ति के आयोजकों ने कभी सोचा भी नहीं था।"[1]

गांधीजी के मत के अहिंसक समाज में शोषण के लिए कहीं कोई गुंजा इश नहीं होगी क्योंकि उत्पादन केवल स्थानीय और तात्कालिक जरूरत के लिए होगा दूर के बाजारों में मुनाफा कमाने के लिए नहीं। प्रत्येक गांव या ऐसे कुछ गांवों का समूह स्वशासित और स्वाश्रयी होगा। इसलिए कठोर केन्द्रित संयोजन की जरूरत ही नहीं होगी। तभी लोग सच्ची आजादी और लोकतन्त्र का आनन्द पा सकेंगे। निःसन्देह इन छोटी-छोटी स्वशासित प्रजासत्तात्मक इकाइयों की सीमाएं छोटी होंगी परन्तु यदि आर्थिक स्वावलम्बन को छोड़ दें तो उनकी सर्वसामान्य दृष्टि संकुचित नहीं होगी न होनी चाहिए। छोटे-छोटे क्षेत्रों का इस प्रकार आर्थिक बातों में स्वावलम्बी होना बुरा नहीं है। विचार और संस्कृति के क्षेत्र में व्यापक राष्ट्रीयता अथवा अंतर्राष्ट्रीयता से यह असंगत नहीं है।

श्रम-धर्म की पवित्रता

गांधीजी के अर्थशास्त्र का तीसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त शरीर-श्रम की

[1] 'एण्ड्स ऐण्ड मीन्स' पृ० ७०

प्रतिष्ठा और पवित्रता है। गांधीजी मानते हैं कि शरीर-श्रम एक प्राकृतिक नियम है और आज चारों ओर जो आर्थिक असमता दिखाई दे रही है उसका मूल कारण इस प्राकृतिक नियम का भंग ही है।

"बहुत बड़े दुर्भाग्य की बात है कि आज करोड़ों लोगों ने अपने हाथों का सही उपयोग करना छोड़ दिया है। मनुष्य बनाकर प्रकृति ने हमें इन हाथों के रूप में जो बहुमूल्य देन दी है उसको बेकार करके हम प्रकृति का बड़ा अपराध कर रहे हैं, जिसकी वह हमें पूरी-पूरी सजा दे रही है।[1]

'हमारे शरीर में अद्वितीय सजीव यन्त्र हैं। इनसे काम न लेकर उनके बदले निष्प्राण यन्त्रों से हम काम ले रहे हैं और इस प्रकार शरीररूपी इन अनमोल यन्त्रों को नष्ट कर रहे हैं।"[2]

सन्त पाल का वचन है—"जो काम नहीं करना चाहता उसे खाने का कोई अधिकार नहीं है। और जो खुद अपने हाथों से काम करता है उसकी सदा विजय है क्योंकि वह अपना भार दूसरों पर नहीं डालता। उससे कोई अन्याय सम्भव नहीं बन सकता। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—"जो मनुष्य देवताओं का भाग लगाये बिना पृथ्वी के फलों का उपभोग करता है वह चोर है, पापी है।"[3]

गांधीजी भी मानते हैं "कर्म—श्रम—एक प्रकार से भगवान की पूजा है और सुस्त आदमी के दिमाग में शैतान का निवास होता है।

गांधीजी का मत है कि मनुष्य के मानसिक विकास के लिए बुद्धियुक्त शरीर-श्रम बड़ा जरूरी है और मन को संस्कारवान बनाने के लिए हाथों का काम उपयोगी होता है। आधुनिक मनोविज्ञान ने भी इस बात को स्वीकार किया है। गांधीजी द्वारा बताई गई बुनियादी शिक्षा जिसका दूसरा नाम वर्धा-शिक्षा-योजना भी है इसी—काम करते-करते सीखो—सिद्धान्त पर आधारित है। समरीका के प्रख्यात डेवी ने भी शिक्षा के इसी सिद्धान्त पर बड़ा जोर दिया है।

---

[1] [illegible]
[2] [illegible]
[3] इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥ (३. १२)

"दस्तकारी के आधार पर दी जानेवाली शिक्षा में दूसरी किसी भी पद्धति की अपेक्षा शिक्षा-शास्त्र के सिद्धान्त अधिक भरे पड़े हैं। उसमें सहज बुद्धि और व्यवहार—दोनों के विकास के लिए स्वाभाविक अवसर मिल जाता है। सुन लिया और मान लिया इसमें बुद्धि का विकास नहीं होता।

टॉल्स्टाय ने अनुभव से यह सीखा कि शरीर-श्रम मानसिक—बौद्धिक—काम में बाधक होने के बजाय न केवल उसके गुणों को बढ़ाता है बल्कि उसे अधिक अच्छा बनाने में मददगार होता है। इसलिए वह उसे अभिशाप समझने के बजाय आनन्द की वस्तु मानने लगे क्योंकि वह मनुष्य को अधिक स्वस्थ अधिक आनन्दमय काम करने के लिए अधिक योग्य और अधिक स्वाधीन बना देता है। शरीर-श्रम को वह मनुष्य की शान पवित्र कर्तव्य और समाज के प्रति एक ऋण समझते थे। सैम्युएल स्माइल्स् ने कहा है 'शरीर-श्रम एक बोझ और सजा के समान भले ही लगे परन्तु वह एक सम्मान और उत्कर्ष देनेवाली वस्तु है।' प्रिन्स क्रोपाटकिन ने 'अनार किस्ट कम्युनिज्म' में लिखा है 'हमारे लिए तो काम एक मनोरंजन की वस्तु है और निठल्लापन कृत्रिम विकास।'

फुरसत का प्रलोभन

इसलिए जब लोग अधिकाधिक फुरसत के लिए आवाज उठाते हैं तो गांधीजी इसे अस्वाभाविक और खतरनाक समझते हैं।

"फुरसत केवल एक हद तक ही जरूरी और अच्छी होती है। भगवान ने मनुष्य को इसलिए बनाया कि वह अपने खरे पसीने की रोटी खावे और जब कोई कहता है कि हम अपनी जरूरत की सारी चीजें—रोटी भी—जादू की लकड़ी घुमाकर बना सकते हैं तो मुझे इसमें बहुत बड़ा खतरा दिखाई देता है। मैं डर से कांपता हूं।

और भी

"मान लीजिए कि अमरीका से कुछ करोड़पति यहां आते हैं और कहते हैं कि हम आपके भोजन की सारी चीजें अमरीका से भेज दिया करेंगे और वे हमसे अनुरोध करें कि आप कुछ भी काम न करें, हमारी दानशीलता को

'हरिजन' १६-८-१९३९

काम करने का मौका देने की कृपा करें तो मैं उनका यह उदार दान लेने से साफ इन्कार कर दूंगा खास तौर पर इसलिए कि वह हमारे जीवन के बुनियादी कानून पर ही कुठाराघात करता है।

फुरसत की इस समस्या पर बर्नार्ड शा ने अपने 'इन्टेलिजेन्ट वुमन्स गाइड टु सोशलिज्म एण्ड कैपिटलिज्म' में कुछ दिलचस्प बात कही है।

"जो लोग जीवन को एक लम्बी छुट्टी बना देना चाहते हैं, वे भी अनुभव करने लगते हैं कि इससे भी छुट्टी पाने की जरूरत है। काम न होना बड़ी अस्वाभाविक बात है। उसमें भी आदमी ऊब जाता है। फुरसतमन्द लोग बाद लगातार ऐसे निकम्मे काम करते रहते हैं जो उन्हें थका देते हैं।

बर्नार्ड शा ने यह भी कहा है जिन्हें खूब फुरसत होती है, वे कुछ न करने के बजाय सदा ऐसे कामों में लगे रहते हैं जो उन्हें कुछ न करने के लायक बनाये रखें। अपने धर्मोपदेश में भी वह कहते हैं "नरक की सबसे अच्छी परिभाषा है सदा की छुट्टी।

असल में लोग साधारण परिश्रम को नहीं लेकिन आजकल के कारखानों में जिस प्रकार का आत्मनाशक एक-सा और कठोर परिश्रम करना पड़ता है, उसे बुरा मानते हैं। आजकल के इस काम में कोई आनन्द नहीं होता है। इसीलिए बारबार और फुरसत के लिए पुकार उठती रहती है। यह फुरसत का प्रलोभन गांधीजी को एक भयंकर नैतिक जाल-सा लगता है क्योंकि फुरसत पाना बहुत मुश्किल नहीं है। मुश्किल है उसका अच्छा उपयोग करना क्योंकि यदि पूरा काम नहीं होगा तो शारीरिक मानसिक और नैतिक पतन का खतरा सदा मानव-समाज के सामने बना रहेगा। इसलिए वह सदा कहते रहते कि शहरों के दम घोंटनेवाले बन्द कारखानों की अपेक्षा गांवों की खुली हवा में और सीधे-सादे धन्धों में किया जाने वाला काम बहुत अच्छा होता है।

शरीर-श्रम को गांधीजी केवल नैतिक और मनोवैज्ञानिक कारणों से ही जरूरी और अच्छा नहीं मानते। वह कहते हैं कि हर मनुष्य को जितना भी सम्भव हो स्वावलम्बी होना चाहिए। इससे शोषण की जड़ कट

हरिजन ७-१२-१९३५

जायगी। आज की अर्थ-व्यवस्था में दूसरों के परिश्रम को अन्यायपूर्वक चुराया जा रहा है। इसका परिणाम आज हम यह देखते हैं कि एक ओर तो वे काहिल धनवान हैं जो कुछ भी शरीर-श्रम नहीं कर रहे हैं और दूसरी ओर मजदूर हैं जो अत्यधिक मेहनत के कारण पिसे जा रहे हैं और जिन्हें फुरसत—विश्राम—की अत्यधिक आवश्यकता है। इसके स्थान पर यदि हम ऐसे ग्रामीण समाज की रचना करें, जिसके अन्दर हर पुरुष और स्त्री सहकारिता की पद्धति पर अपनी आजीविका के लिए काम किया करे तो वहां शोषण के लिए कहीं कोई गुंजाइश ही नहीं रह जायगी और बीच का मुनाफा खानेवाला वर्ग अपने-आप धीरे-धीरे समाप्त हो जायगा। यह बात गुरुदेव टैगोर को समझाते हुए गांधीजी ने कहा "मुझे स्वयं अपना पेट भरने के लिए काम करने की जरूरत नहीं है। तब मैं क्यों चरखा चलाता हूं? इस प्रकार का प्रश्न कोई कर सकता है। तो मैं कहता हूं कि इसलिए कि जो मेरा कमाया हुआ नहीं है वह मैं खा रहा हूं। मैं अपने देश-भाइयों के परिश्रम पर जी रहा हूं। अपनी जेब में पड़े हुए एक-एक पैसे का ध्यान कीजिये और सोचिये कि यह कहां से आया है। तब आप मेरी बात की सचाई को जान जायंगे।

इसके जवाब में कोई कह सकता है कि समाजवादी समाज में ऐसा शोषण नहीं हो सकता। इसके लिए प्राचीनकालीन समाज रचना की ओर लौट चलने की कोई जरूरत नहीं है। परन्तु जैसाकि पहले ही बताया जा चुका है इस प्रकार का समाजवादी संयोजन तभी सम्भव होगा जब केन्द्र का कठोर नियन्त्रण होगा। उसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता समाप्त होकर मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास रुक जाता है। इसके अलावा समाजवादी समाज की रचना हिंसा के बगैर सम्भव ही नहीं जिसे गांधीजी बरदाश्त भी नहीं कर सकते। इसलिए जनता के लिए अधिक परिमाण में उत्पादन करने के बजाय गांधीजी चाहते हैं कि कारखानों में जनता अपनी जरूरत के लिए खुद ही उत्पादन कर लिया करे। वह कहते हैं 'मेरी पद्धति में तो धातु का सिक्का नहीं श्रम नकद सिक्का होगा। जो भी आदमी उस सिक्के का उपयोग कर सकेगा वह धनवान कहलायेगा। वह इससे कपड़ा बना सकता

'यंग इंडिया' १-९-१९२१

है और अनाज भी पैदा कर सकता है। मान लीजिये कि मनुष्य को पैराफिन तेल की जरूरत है। उसे वह बना नहीं सकता। तो वह अपने पास के अनाज के ढेर में से कुछ अनाज देकर उसे खरीद लेगा। यह श्रम का एक विनिमय है—स्वतन्त्र न्याययुक्त और समान शर्तों पर। इसलिए इसमें लूट खसोट नहीं है। आप कहेंगे यह तो पुरानी असभ्य स्थिति को लौट जाना हुआ। परन्तु क्या सारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इसी पद्धति से नहीं चल रहा है?[1]

रोटी के लिए शरीर-श्रम गांधीजी के लिए एक जीवन-सिद्धान्त है। उनका आग्रह है कि आदर्श समाज में प्रत्येक मनुष्य के लिए प्रतिदिन आठ घण्टे का श्रम करने की व्यवस्था होनी चाहिए। आठ घंटे काम आठ घंटे विश्राम और आठ घंटे अन्य सामाजिक सांस्कृतिक कार्य। उनकी दृष्टि में स मय का यह आदर्श विभाजन है।

मानवीय मूल्य

गांधीजी के अर्थशास्त्र में चौथा मूलभूत सिद्धान्त यह है कि जीवन के वर्तमान मूल्य ही बदल देने की जरूरत है। प्रचलित अर्थशास्त्र में धन और भौतिक सम्पत्ति को अत्यधिक महत्व दिया जा रहा है और नैतिक तथा मानवीय मूल्यों को उसमें कहीं स्थान ही नहीं है। परन्तु हम देख रहे हैं कि अब इस पैसा-पन्थी मनुष्य के दिन पूरे होने को आ गये और अब मानविक मूल्यों में संशोधन करने का समय आ पहुंचा है। फ्रांस के अर्थशास्त्री सिस मॉण्डी की भांति गांधीजी भी मानते हैं कि अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। जीवन को उसकी सम्पूर्णता में ही लेकर उसके बारे में विचार किया जाना चाहिए।

"मुझे स्वीकार कर लेना होगा कि अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र के बीच मैं बहुत क्या कुछ भी भेद नहीं करता हूं। जो अर्थशास्त्र व्यक्ति या राष्ट्र के चरित्र के लिए हानिकर है वह अनैतिक और पापपूर्ण है। इसलिए जो अर्थशास्त्र दूसरे देश को अपने देश का शिकार—गुलाम—बनाने की अनुमति देता है वह अनीतियुक्त है। जिन वस्तुओं के निर्माण में मजदूरों को उनके परिश्रम का पूरा मुआवजा नहीं दिया जाता ऐसी वस्तुओं का उपयोग और उपयोग पाप है। मेरा पड़ोसी अनाज का व्यापारी ग्राहकों के अभाव में

[1] हरिजन २-१ १९३४

भूखों मरे और मैं अमरीका का अनाज खाऊं यह भी पाप है। इसी प्रकार यदि मैं जानता हूं कि अपने पड़ोस में रहनेवाले कातनेवालों और बुनकरों के बनाये कपड़े मैं पहनूं तो मेरा और उनका शरीर भी ढक जायगा और फिर भी मैं रीजेण्ट स्ट्रीट की नई-से-नई फैशन के कपड़े पहनता रहूं तो यह भी पाप है।

"किसी उद्योग या कारखाने का मूल्य मापने का तरीका यह नहीं होना चाहिए कि वह अपने अकर्मण्य हिस्सेदारों को कितना मुनाफा बांटता है बल्कि यह हो कि उसमें काम करनेवाले मनुष्यों के शरीर मन और आत्मा पर उसका क्या असर होता है। वह कपड़ा महंगा है जो खरीदार की कुछ पैसे की बचत करता है परन्तु जो बम्बई की चालों में रहनेवाले पुरुषों स्त्रियों और बच्चों के जीवन को सस्ता बना देता है।

मानवीय मूल्यों के महत्व पर जोर देना गांधीजी के स्वदेशी-सम्बन्धी आदर्शों की आत्मा है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों का सिद्धान्त है कि मनुष्य को अच्छी-से-अच्छी चीज सस्ते-से-सस्ते मूल्य पर खरीदनी चाहिए, परन्तु गांधीजी को इन अर्थशास्त्रियों के अन्य सिद्धान्तों में यह सबसे अधिक अमानवीय लगता है।

रस्किन ने भी इस कल्पना की बड़ी तीव्र आलोचना की है। वह लिखते हैं

राष्ट्रों के अर्थशास्त्र में यह सिद्धान्त बड़ा अच्छा माना जाता है कि किसी भी चीज को सस्ते-से-सस्ते मूल्य पर खरीदो और महंगे-से-महंगे दामों पर बेचो। परन्तु जहांतक मुझे पता है मनुष्य की बुद्धि के सब पतन की इतनी बुरी मिसाल इतिहास में कहीं ढूंढे भी नहीं मिलेगी। सस्ते-से-सस्ते भावों में आप खरीदना चाहते हैं? अच्छा परन्तु यह तो बताइये कि उस चीज को सस्ता किसने बनाया? आपके मकान में आग लग जाने पर जली हुई लकड़ी का कोयला सस्ता हो सकता है अथवा किसी भूचाल में मकानों के गिर जाने पर ईंटें भी सस्ते भावों पर मिल सकती हैं परन्तु इस कारण आग और भूचाल राष्ट्र के उपकारकर्ता नहीं माने जा सकते। इसी प्रकार

'यंग इंडिया' ९-१०-१९२१

यंग इंडिया ६-४-१९२२

उसका ख्याल तक नहीं करता।

"स्वदेशी-भावना का अर्थ है पृथ्वी के हर मनुष्य के साथ सहानुभूति। उसमें उन सारी चीजों का त्याग है जिनसे हमारे भाइयों को—प्राणिमात्र को—जरा भी हानि पहुंचने की सम्भावना है।

'खादी मानवीय मूल्यों की ओर मिल का कपड़ा धातु के टुकड़े का प्रतीक है।'[3]

इस प्रकार सादगी अहिंसा श्रम-धर्म की पवित्रता और मानवीय मूल्य इन चार सिद्धान्तों पर गांधीजी ने अपने स्वावलम्बी ग्रामीण समाज संगठन की और विकेन्द्रित आदर्श गृह-उद्योग-प्रणाली की रचना की है।

आइए अब हम विकेन्द्रीकरण के भावार्थ और उसकी महान सम्भावनाओं का विस्तृत परीक्षण करें खास तौर पर भारतीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए।

५

भारत अनादिकाल से ग्राम-पंचायतों का देश रहा है। कहा जाता है कि इस संस्था का प्रारम्भ सबसे पहले राजा पृथु ने किया जब उसने गंगा यमुना के दोआबा को आबाद किया। महाभारत के शांतिपर्व में और मनुस्मृति में ग्राम-पंचायतों के निश्चित उल्लेख पाये जाते हैं। कौटिल्य ईसा के चार सौ वर्ष पूर्व हुए। उनके अर्थशास्त्र में भी ग्राम-पंचायतों का वर्णन है। वाल्मीकि रामायण में जनपदों का उल्लेख है। ये शायद अनेक ग्राम-पंचायतों के संघ रहे होंगे। निश्चय ही सिकन्दर की चढ़ाई के समय ग्राम-पंचायतें इस देश में व्यापक रूप से फैली हुई थीं। मैगस्थनीज ने इनको 'पेंटापूल' कहा है। यह पंचायत का अपभ्रंश प्रतीत होता है और इनका वर्णन उसने विस्तार से किया है। इनके बाद चीनी यात्री ह्यूएनसांग और फाहियान आये। उन्होंने अपने संस्मरणों में लिखा है कि भारत 'बड़ा उपजाऊ है" और 'यहां के लोग इतने वैभवशाली और सुखी हैं कि जिनकी तुलना नहीं हो

[1] 'हरिजन' १६-७-१९४१
[2] 'यंग इंडिया' २१-१-१९३०
[3] 'हरिजन' ६-२-१९४४

परन्तु होनहार कुछ और ही थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी चाहती थी कि जमीन के लगान से उसे अधिक-से-अधिक आय हो। सो अबतक जो वसूली ग्राम-पंचायतों की मारफत होती थी उसे बन्द करके उसने काश्तकार से सीधे लगान लेना शुरू कर दिया। इसी प्रकार अंग्रेज सरकार को लगा कि न्यायदान और शासन प्रबन्ध का भी सारा काम स्वयं उसके अपने हाथों में ही हो यह अनुचित था परन्तु फिर भी उसने पंचायतों के शेष सब अधिकार भी अपने हाथों में ले लिए जो अनादिकाल से उनके हाथों में थे। इस प्रकार ये छोटे छोटे प्रजातन्त्र धीरे-धीरे नष्ट हो गये जैसाकि श्री रमेशचन्द्र दत्त ने अपने 'भारत के आर्थिक इतिहास' में लिखा है—"भारत में अंग्रेजी राज्य के बुरे परिणामों में सबसे अधिक दुखदायी यह था कि गांवों में अपना शासन खुद कर लेने की जो प्रथा संसार में सबसे पहले विकसित हो गई थी और अधिक-से-अधिक समय तक जारी रही उसका इस राज्य ने नामो निशान मिटा दिया।

मजे की बात तो यह है कि भारत के इन छोटे-छोटे प्रजातन्त्रों ने कार्ल मार्क्स का भी ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। अपने 'दास कैपिटल' में वह लिखते हैं

"भारत ने अति प्राचीन काल से एक प्रकार की ग्राम-संस्थाओं का विकास किया है जो आज भी कहीं-कहीं है। वे इस सिद्धान्त पर आधारित हैं कि सारे ग्राम की जमीनों की वे स्वामिनी हों और खेती दस्तकारी तथा अन्य प्रकार के श्रम का प्रबन्ध भी वे करें। जहां-जहां ऐसी संस्थाएं नये सिरे से स्थापित होती हैं वहां श्रम-विभाजन के निश्चित सिद्धान्त के आधार पर इन सब कामों का बटवारा कर दिया जाता है। अपने परिश्रम से उत्पादन करनेवाले वे स्वावलम्बी समाज होते हैं। इनके पास सौ एकड़ से लेकर हजारों एकड़ जमीन होती है। वे प्राय अपनी जरूरतों के लिए ही उत्पादन करते हैं बेचने के लिए नहीं। वहां उत्पादन श्रम-विभाजन के आधार पर नहीं होता चीजों की अदला-बदली के कारण वहां अपने-आप श्रम-विभाजन भी हो जाता है। भारत के अलग-अलग भागों में इस संस्था के अलग-अलग रूप हैं। उसका सबसे सीधा-सादा रूप यह है कि जमीन को सारा गांव मिलकर जोतता है और जो पैदावार होती है उसे

सब सदस्य आपस में बांट लेते हैं। इसके अलावा प्रत्येक परिवार में सहायक उद्योग के रूप में कताई, बुनाई इत्यादि होती रहती है। उत्पादन की यह पद्धति इन स्वावलम्बी संस्थाओं की सफलता और चिर स्थायित्व का रहस्य है। एशिया में कितने राज्य और कितने साम्राज्य बनते रहे फिर भी ये संस्थाएं ज्यों-की-त्यों कायम हैं। इसका कारण यही है। राजनैतिक जगत में चाहे कितनी ही उथल-पुथल होती रहे समाज के आर्थिक तत्त्वों पर इसका कोई परिणाम नहीं होता।

सर हेनरी मेन ने अपनी 'विलेज कम्युनिटीज इन दि ईस्ट एण्ड वेस्ट' में लिखा है, 'भारत की ग्राम-संस्थाएं मरी हुई नहीं, जीवित संस्थाएं थीं।' और यह कि "यूरोप की प्राचीन ग्राम-संस्थाएं और ये भारतीय ग्राम संस्थाएं लगभग एक-सी थीं।" सर हेनरी ने आगे लिखा है, ध्यान देने की बात है कि इंग्लैंड के जो लोग पहले-पहल अमरीका में जाकर बसे उन्होंने भी खेती के लिए इसी प्रकार के ग्राम-संगठन बनाये थे। प्रिंस क्रोपाटकिन ने अपनी असाधारण किताब 'म्यूचुअल एड' में पश्चिम और खासतौर पर रूस, जर्मनी, फ्रांस और स्विटजरलैंड में इन संस्थाओं के ऐतिहासिक अध्ययन पर काफी विस्तार से लिखा है। वह कहते हैं कि ये संस्थाएं इन देशों में अपने-आप उत्क्रान्ति की प्रक्रिया में नष्ट नहीं हुईं बल्कि स्वार्थी लोगों ने इन्हें बहुत सोच-समझकर योजना बनाकर नष्ट किया है।

संक्षेप में यह कहना कि ये ग्राम-संस्थाएं अर्थशास्त्र के स्वाभाविक नियमों के अनुसार अपनी स्वाभाविक मौत मरी हैं, एक ऐसा ही निर्दय मजाक होगा जैसे यह कहना कि युद्ध के मैदान में कटे सैनिक अपनी स्वाभाविक मौत मरे हैं।

भारत के आर्थिक इतिहास का जिन्होंने अध्ययन किया है वे खूब अच्छी तरह जानते हैं कि प्रिंस क्रोपाटकिन के ये शब्द कितने यथार्थ हैं।

भारत के गांवों ने एक तरफ एकदम खुला व्यापार और दूसरी तरफ पूरी तरह का केन्द्रित नियन्त्रण इन दोनों सिरों को छोड़कर एक संतुलित आर्थिक और राजनैतिक नीति का विकास कर लिया था। उन्होंने खेती

और उपायों की एक ऐसी आदर्श सहकारी पद्धति विकसित कर ली थी कि जिसके अन्दर धनवानों द्वारा गरीबों के शोषण की कोई गुंजाइश ही नहीं रहती थी। जैसाकि गांधीजी ने लिखा है "तब उत्पादन, वितरण और उपभोग सब लगभग साथ-साथ चलते थे और पैसे के अर्थशास्त्र का कुचक्र पैदा नहीं हुआ था। उत्पादन दूर के बाजारों के लिए नहीं, स्थानीय और तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता था। सारी समाज रचना अहिंसा और भ्रातृ-भाव पर आधारित थी। इसीलिए तो गांधीजी इतने जोर से प्राचीन ढंग की ग्राम-पंचायतों के पुनरुज्जीवन का आग्रह कर रहे हैं, जिनके मातहत अच्छी खेती होती थी और विकसित कलापूर्ण दस्तकारियां तथा छोटी-छोटी सहकारी संस्थाएं समाज की सेवा करती रहती थीं।

आदर्श प्रजातन्त्र

राजनैतिक संगठन की दृष्टि से ये ग्राम-पंचायतें एक प्रकार से आदर्श ढंग की प्रजातन्त्र थीं। जॉन स्टुअर्ट मिल ने लिखा है "समाजरूपी राष्ट्र की सारी जरूरतों की पूर्ति केवल वही शासन-पद्धति कर सकती है, जिसके अन्दर सम्पूर्ण जनता भाग लेती है।" सच्चे प्रजातन्त्र की यह शर्त प्राचीन यूनान के नगर राज्यों में बहुत बड़ी हद तक पूरी हो जाती थी, जिनके अन्दर नगर के समस्त नागरिक एक सभा के रूप में भाग लेते थे। लॉर्ड ब्राइस ने लिखा है "नागरिकों की यह सभा संसद, सरकार और अमल करनेवाला अमला सबकुछ खुद ही थी। वही कानून बनानेवाली सभा थी और न्यायदान भी वही करती थी। यूनान के ये राज्य बहुत छोटे-छोटे थे। नगर के प्रबन्ध के बारे में राय देने का जिन-जिनको अधिकार होता वे सब आसानी से एक सभा के रूप में एकत्र हो सकते थे, जिसमें आदमी की आवाज इस छोर से उस छोर तक बड़ी आसानी से सुनी जा सकती थी। इससे नेतृत्व या अधिकार की जगहों के लिए जो भी उम्मीदवार होते उनके गुणावगुणों का प्रत्यक्ष परिचय पाने का सबको अवसर मिलता रहता था।" प्राचीन यूनान के इन नगर राज्यों की भांति प्राचीन भारत की ग्राम पंचायतें भी अपना भीतरी प्रबन्ध बहुत अच्छी तरह और शान्ति के साथ

¹ मार्डर्न डेमोक्रेसीज़ १, १७

कर सकती थी क्योंकि जो बात सबके हिताहित से सम्बन्ध रखती थी उसका निर्णय सब मिलकर करते थे। अन्याय और छल-कपट का कहीं अवसर ही नहीं मिलता था। पश्चिम में प्रजातंत्र मुख्यतः इस कारण असफल सिद्ध हुआ है कि इसमें चुनाव-क्षेत्र बहुत बड़े-बड़े होते हैं। इसलिए सही आदमी को चुनना बहुत कठिन हो जाता है। इसी प्रकार जनता और नेताओं के बीच निकट का व्यक्तिगत सम्पर्क नहीं होता। इसलिए आधुनिक प्रजातंत्र में सुधार करने के बारे में जितने भी सुझाव पेश किये जाते हैं, उनमें विकेन्द्रीकरण पर ही प्राय: जोर दिया गया है। सिंडिकलिज्म[1] गिल्ड सोशलिज्म[2] और अनार्किज्म[3] अन्य बातों में चाहे आपस में कितना ही मतभेद रखें परन्तु एक बात में वे सब सहमत हैं अर्थात् सब मानते हैं कि समाज की इकाइयां छोटी-छोटी हों।

प्राध्यापक जोड कहते हैं

"इसका मतलब यह होता है कि सामाजिक कर्तृत्व में मनुष्यों की श्रद्धा को यदि फिर से जीवित करना है तो राज्य के टुकड़े-टुकड़े करने होंगे और उसके कामों का बंटवारा कर देना पड़ेगा। व्यवस्था कुछ इस प्रकार हो कि एक आदमी एक साथ कई छोटी छोटी संस्थाओं का सदस्य हो सके जिनको उत्पादन और स्थानीय शासन-सम्बन्धी अलग-अलग अधिकार हो ताकि इनमें काम करते हुए वह फिर से अनुभव करने लगे कि राजनीति में उसकी भी कहीं पूछ है, उसकी राय और इच्छा का भी कुछ महत्व है और वह अनुभव करे कि वह सचमुच समाज के लिए कुछ कर रहा है। इससे स्पष्ट होगा कि शासन के यन्त्र को छोटा करना पड़ेगा। उसे ऐसा स्थानीय रूप देना होगा जिससे वहां के लोग उसको संभाल सकें। वे अपने राजनैतिक निर्णयों और कामों का परिणाम खुद अपनी आंखों से

[1] यह सिद्धान्त कि [illegible] उद्योगों में उत्पादन-नियन्त्रण का या अधिकार श्रमजीवियों का हो [illegible]।

[2] व्यवसाय और उद्योग के संचालन और प्रबन्ध के नियन्त्रण का अधिकार [illegible] संस्थाओं का हो।

[3] अराजक व्यवस्था जिसमें किसी एक या अनेक व्यक्तियों के हाथों में शासन [illegible]

देख सकें। इससे लोगों को विश्वास होगा कि शासन एक वास्तविकता है और समाज पर उनकी इच्छाओं का असर भी होता है क्योंकि वे खुद ही समाज भी हैं।[1]

डॉ. बूहिन भी मानते हैं कि 'छोटे छोटे सुसंबद्ध प्रजातंत्र संस्कृति और सभ्यता की सच्ची नैतिक इकाइयां होते हैं।'[2]

यन्त्रीकरण की बुराइयां

राजनैतिक प्रजातन्त्र के विचारों के अलावा भी गांधीजी गांवों के पुनरुज्जीवन की बहुत आग्रह के साथ इसलिए हिमायत करते हैं कि वे बड़े बड़े कारखानों में यन्त्रों द्वारा बड़े पैमाने पर किये जानेवाले केन्द्रित उत्पादन को बहुत बुरा मानते हैं क्योंकि इससे मनुष्य यंत्र का ही एक पुर्जा बन जाता है और उसके अन्दर के मानवी गुण सूख जाते हैं। इस बड़े पैमाने के यन्त्रीकरण का विरोध अकेले महात्माजी ही नहीं कर रहे हैं। ऐडम स्मिथ ने जो आधुनिक राजनीति-शास्त्र के जनक माने जाते हैं और जिन्होंने आधुनिक उद्योगों में श्रम-विभाजन की हिमायत भी की है उन्हें भी स्वीकार करना पड़ा कि "जो आदमी अपने घर पर अबतक अपने सीधे-सादे ढंग से सुन्दर चीजें बना लिया करता था वही अब यन्त्रों की छाया में इतना बुद्धू और बुद्धिहीन बन जाता है कि जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। एक जगह खड़े रहकर या बैठकर केवल एक-सी हरकत करते-करते उसका आत्म विश्वास चला जाता है। इस नये काम में लगते ही वह कुछ समय में निपुणता प्राप्त कर ले परन्तु इसमें उसे अपने बहुत-से बौद्धिक नैतिक और वीरोचित गुणों से हाथ धोना पड़ता है।[3] डेविड रिकार्डो को भी यह निश्चय हो गया था कि "मनुष्य की जगह यन्त्र से काम लेना बुरा है। इससे मजदूर-वर्ग की ही हानि है। 'यह राय भूल से या केवल दूषित पूर्वाग्रह के कारण नहीं दी गई है बल्कि राजनीति शास्त्र के सही सिद्धान्तों से इसका समर्थन होता है।'[4] कार्ल मार्क्स ने

---

[1] माडर्न पालिटिकल थ्योरी पृ ११०-११

[2] ह्यूमन सोशियोलाजी—[illegible]

[3] वैल्थ आफ नेशन्स

[4] प्रिंसिपल्स आफ पोलिटिकल इकानमी

में से जबर उन्हें कुछ खाने के लिए मिल जाता है जिस प्रकार इंजिन में कोयला-पानी डालना पड़ता है। इसीलिए तो कवि गोल्डस्मिथ ने कहा है 'हम धन के ढेर लगाते जा रहे हैं और आदमी सड़ रहे हैं।' वह निरा कवि नहीं बड़ा दूरदर्शी अर्थशास्त्री भी था।

प्राध्यापक डीलाइस ने अपनी 'इवोल्यूशन ऑव इण्डस्ट्रियल ऑरगैनाइजेशन' नाम की पुस्तक में साफ तौर पर सिद्ध कर दिया है कि वैज्ञानिक रीति से प्रबन्ध करने की आधुनिक पद्धतियों से काम जरूर अच्छी और अधिक होता है परन्तु "एक सीमा से अधिक आगे गति न बढ़ जाय अथवा मजदूर को अत्यधिक थकावट न आ जाय इसकी कोई निश्चित और भरोसे के लायक रोक उसमें नहीं है।" "यन्त्रों द्वारा किया जानेवाला सारा काम परिपूर्णता के साथ हो यह वृत्ति बढ़ती जा रही है। इससे मजदूर की विचार शक्ति स्वतन्त्र बुद्धि सर्जनशील कल्पना और काम में मिलनेवाला आनन्द इन सबसे मनुष्य हाथ धोता जा रहा है।" अर्नेस्ट हूव्स बड़े दर्द के साथ मनोविज्ञान की दृष्टि से कहते हैं

'हमारे जमाने में शक्ति का कुछ अजीब ढंग से विकास हो रहा है। वह कारीगरों को निरे जड़ यन्त्र बना देती है। पुराने जमाने में एक कारीगर अपना सारा काम घर पर या दूकान में बैठकर कर लिया करता था और उसे अपनी प्रत्येक कृति पर एक प्रकार का गर्व होता था परन्तु कारखाने में आ जाने पर अब तो वह सिफर बन गया है। लोग भी शायद उसे नाम से नहीं संख्या से ही पहचानते हैं।

वर्तमान यन्त्र-पद्धतियों में ये बुराइयां अनिवार्य हैं। केवल समाजवाद के आने से ये दूर नहीं होंगी। कार्ल मार्क्स ने इनको बहुत साफ शब्दों में स्वीकार किया है और उसे आशा थी कि साम्यवादी शासन में ये नहीं रहेंगी परन्तु मजदूरों को कम करने की दृष्टि से यन्त्रों में जितने अधिक सुधार होंगे मनुष्य के शरीर, मन और चरित्र पर इनका बुरा असर पड़े बिना हरगिज न रहेगा फिर शासन की पद्धति पूंजीवादी हो या समाजवादी। अपनी पुस्तक 'दिस अगली सिविलाइजेशन' में बोरसोदी ने लिखा है

"उत्पादन और वितरण में ऊपर से कानूनी स्वामित्व को हटाकर शोषण को मिटाने से भी इस बुराई की जड़ नष्ट होनेवाली नहीं है। कारखानों में कुछ बुनियादी बुराइयां हैं और वे मानवता को कष्ट देती रहेंगी। कारखानों पर समाज का स्वामित्व हो जाने भर से या कारखाने के प्रत्येक विभाग को स्वायत्त बना देने से भी सतयुग आनेवाला नहीं है जिसके लिए कुछ आदर्शवादी लालायित हैं। समाजवाद बुराई की जड़ में प्रहार नहीं करता। इसलिए वह सफल नहीं हो सकेगा। आज तो मानवता पर थोड़े-से-थोड़े समय में अधिक-से-अधिक पैदावार बढ़ाने का भूत सवार है। जब तक यह भूत नहीं उतरेगा तबतक मानव सुखी नहीं होगा और इस भूत की दवा समाजवाद के पास नहीं है।

महात्माजी का यही विचार था।

"पंडित नेहरू यन्त्रीकरण चाहते हैं क्योंकि उनका ख्याल है कि यदि कारखानों को राष्ट्र की सम्पत्ति बना दिया जायगा तो उनमें फिर से पूंजीवाद की बुराइयां नहीं रहेंगी। परन्तु मेरी अपनी राय यह है कि ये बुराइयां यन्त्रों में स्वाभाविक और अन्तर्भूत हैं। इन्हें राष्ट्र की या समाज की सम्पत्ति बना देने से ये दूर नहीं होंगी।

यन्त्रों के प्रति गांधीजी का मत

एक बात साफ तौर से समझ लेने की जरूरत है कि गांधीजी यन्त्र-मात्र के विरोधी नहीं हैं। वह कहते हैं "मैं यन्त्रों का दुश्मन नहीं हूं। चरखा खुद भी तो एक कीमती यन्त्र है।" उनका विरोध है यन्त्रों के 'पागलपन' से और उनके 'अन्धाधुन्ध उपयोग और प्रचार' से। इसीलिए वह यन्त्रों को नष्ट नहीं करना चाहते बल्कि उनके उपयोग पर कुछ मर्यादाएं लगा देना चाहते हैं। वह ऐसे यन्त्रों का बड़ी खुशी से स्वागत करेंगे जो झोपड़ों में रहनेवाले करोड़ों आदमियों के परिश्रम को हलका करने में मदद कर सकें। परन्तु हां, ऐसे तमाम यन्त्रों के वे कट्टर पक्के विरोधी हैं जो मनुष्य को उन्हींके समान जड़ बना देते हैं या समाज में बेकारी फैलाते हैं।

जहां पर्याप्त संख्या में आदमियों की बहुत कमी हो वहां यन्त्रों से काम लेना अच्छा है परन्तु जहां भारत के समान जरूरत से अधिक आदमी हों

यहां यन्त्र हानिकर है। आज हमारे सामने प्रश्न यह नहीं है कि भारत के गांवों में रहनेवाले करोड़ों आदमियों को विश्रान्ति कैसे दें। वर्ष में लग लग छः महीने वे बेकार रहते हैं।

'भारत के सात लाख गांवों में बसनेवाले इन जीते-जागते यन्त्रों के मुकाबले में यह निर्जीव यन्त्रों को नहीं खड़ा करना चाहिए। इसी प्रकार करोड़ों को नुकसान पहुंचाकर मुट्ठीभर आदमियों का घर भरनेवाले यन्त्रों का भी यह विरोधी है।

वैज्ञानिक आविष्कारों और यन्त्रों में सुधार करने के यह विरोधी नहीं है। 'सर्वसाधारण का जिसमें भला होता है ऐसे हर यन्त्र को तो मैं इनाम दूंगा। मान लीजिये कि एक छोटा-सा यन्त्र है, जिसे एक आदमी अपने घर पर बैठे-बैठे चलाकर आजीविका प्राप्त करता है। ऐसे गृहो द्योगों के काम में आनेवाले छोटे-से यन्त्र में कोई अच्छा-सा सुधार कर दे जिससे कम परिश्रम में अधिक काम होने लग जाय तो वह उसका स्वागत करेंगे परन्तु आज के बेकारी फैलानेवाले यन्त्रों को वह अच्छा नहीं समझते।

'लोग मजदूरों को कम करने पर तुले हैं और इधर हमारे आदमी बेकार होकर भूखों मर रहे हैं। मैं मुट्ठीभर आदमियों का नहीं सब मनुष्यों का—मनुष्यमात्र का—समय और परिश्रम बचाना चाहता हूं। मैं चाहता हूं कि धन-सम्पत्ति बढ़े परन्तु केवल कुछ आदमियों के घर में नहीं घर-घर में सबके यहां बढ़े। आज यन्त्रों की सहायता से कुछ आदमी करोड़ों के सिर पर सवार हो गये हैं। इसके पीछे श्रम बचाने की परमार्थ वृत्ति नहीं धन की लालसा है। अपनी सारी ताकत के साथ मैं इस दुष्प्रवृत्ति के खिलाफ लड़ रहा हूं।

बेकारी

यूरोप और अमरीका में यन्त्र एक आवश्यक वस्तु थी क्योंकि वहां सम्पत्ति बहुत है और मजदूरों की कमी है। अपने देश की प्राकृतिक सम्पत्ति को प्राप्त करने और उसे विकसित करने के लिए उन्हें यन्त्रों की मदद लेनी

'हरिजन' १६ ११ १९३४
'यंग इंडिया' १३-११ १९२४

पड़ी। परन्तु भारत की स्थिति पश्चिम के देशों से बिल्कुल उल्टी है। यहां पूंजी कम और मजदूर अधिक हैं। इसलिए यहां प्रश्न यह नहीं है कि परिश्रम बचानेवाले अर्थात् कम आदमियों की मदद से अधिक काम करनेवाले यन्त्र कहां से और कैसे आवें बल्कि यह है कि जो लोग बेकारी के कारण भूखों मर रहे हैं, उन्हें रोजी कैसे दें ? आज तो पश्चिम में भी यन्त्र अपनी उपयोगिता की मर्यादा को पार कर गये हैं बल्कि वे एक समस्या विभीषिका और दुखदायी चीज बन गये हैं। यन्त्रों ने लाखों-करोड़ों आदमियों को वहां भी बेकार कर दिया है। उन्हें बेकारी की अपमानभरी भिक्षा पर जिन्दगी बसर करनी पड़ रही है। संयुक्त राज्य अमरीका में यन्त्रों के आविष्कार ने हद कर दी है। वहां के लोगों की उत्पादन-शक्ति इतनी बढ़ गई है कि संसार के चौदह प्रगतिशील राष्ट्रों के बराबर अकेले संयुक्त राज्य का उत्पादन है। वहां का फी आदमी उत्पादन भारत के फी आदमी उत्पादन की अपेक्षा पच्चीस गुना है। फिर भी वहां लाखों आदमी बेकार हैं। यही हाल संसार के अन्य उद्योग-प्रधान देशों का है। जैसा कि सब जानते हैं हमारे देश में सत्तर प्रतिशत आदमी खेती और खेती से सम्बन्धित काम-काज में लगे हुए हैं। केवल दस प्रतिशत उद्योगों में काम करते हैं। इनमें भी केवल तीन लाख भारी उत्पादनवाले उद्योगों में लगे हुए हैं। यदि इन उद्योगों का इतना विकास कर दिया जाय कि वे सारे देश की जरूरत पूरी कर सकें तो भी देश की जनसंख्या के पांच प्रतिशत लोगों को भी वे रोजी नहीं दे सकेंगे। छोटे उद्योगों में बड़े उद्योगों से पांचगुने अधिक आदमी काम कर रहे हैं।

अच्छा, अब हम यहांपर तुलना करके देखें कि कपड़े की मिलों में कितने मजदूर काम करते हैं और खादी-उद्योग में कितने आदमी काम कर रहे हैं। सन् १९४३-४४ की 'इंडियन ईयर बुक' में बताया गया है कि ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों की कपड़ों की मिलों में सन् १९४४ में प्रतिदिन औसतन ४१, ११५ मजदूर काम करते थे जबकि अखिल भारत चरखा-संघ के आंकड़े बताते हैं कि उसी वर्ष में देश के खादी-उद्योग में कुल मिलाकर २,५६,८४५ कतवैये और बुनकर केवल संस्था के मातहत काम करते थे। इसके अलावा सम्पूर्ण देश में कोई एक करोड़ गुजारे लायक तौर

पर काम कर रहे हैं। यद्यपि पिछले तीस वर्षों में भारत में कारखानों की संख्या चौगुनी बढ़ गई है, तथापि कारखानों में काम करनेवालों की संख्या जनसंख्या के अनुपात में बराबर गिरती जा रही है।

वर्ष	प्रतिशत
१९११	५५
१९२१	४९
१९३१	४३
१९४१	४२

इन अंकों से स्पष्ट है कि देश में बड़े पैमाने पर उत्पादन के कारखाने बढ़ाने से बेकारी की समस्या हल नहीं होगी फिर इन कारखानों का संचालन चाहे पूंजीवादी पद्धति से हो या समाजवादी पद्धति से। पश्चिम की पद्धति पर औद्योगीकरण के विरुद्ध गांधीजी क्यों हैं उसका एक मुख्य कारण यह भी है।

वितरण की समस्या

गांधीजी गृह-उद्योग के विस्तार पर जो अधिक जोर देते हैं उसका कारण बेकारी के अलावा वितरण का प्रश्न भी है।

क्षण भर के लिए मान लें कि यंत्रोत्पादन से देश की सारी जरूरत पूरी हो जाती है परन्तु इससे उत्पादन केवल कुछ भागों में केन्द्रित हो जायगा और फिर वितरण का जटिल प्रश्न रह जायगा। इसके विपरीत जहां चीजों की जरूरत है वहीं उनके उत्पादन की व्यवस्था कर दी जाय तो वितरण अपने-आप बड़ा आसानी से हो जायगा और ठगी तथा सट्टे के लिए कोई अवकाश नहीं रह जायगा।" गांधीजी कहते हैं—"यदि उत्पादन वहीं हो जाता है तो वितरण अपने आप समान हो जाता है अर्थात् उत्पादन के साथ साथ वितरण भी हो जाता है।

समाजवादी ढंग के वितरण को गांधीजी पसन्द नहीं करते। वह कहते हैं "आप चाहते हैं कि सोवियत रूस में जिस प्रकार आज उत्पादन और वितरण राज्य के नियंत्रण में चल रहा है, इस पद्धति पर मैं अपनी राय दूं। अच्छा सुनिये। अभी यह प्रयोग बिल्कुल नया है। अन्त में जाकर यह किस

हरिजन ९-११-१९३४

दूर तक सफल होगा मैं नहीं जानता। यदि वह हिंसा अर्थात् ज़ोर-ज़बर दस्ती पर आधारित नहीं होता तो मैं इसे खूब प्यार करता परन्तु चूंकि वह बल पर आधारित है, इसलिए मैं नहीं कह सकता कि वह हमें कहां और कितनी दूर तक ले जायगा।

एक विख्यात अर्थशास्त्री ने कहा है, "बड़े पैमाने का यांत्रिक केन्द्रित उत्पादन यदि किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के द्वारा खानगी तौर पर होता है तो कारोबार विशाल हो जाता है और एकाधिकार की समस्या खड़ी कर देता है। यदि राज्य द्वारा होता है तो यह एक नया राक्षस पैदा हो जाता है। इस प्रकार यह नया-नया अनर्थ पैदा करेगा इसका कोई ठिकाना नहीं। फिर गांधीजी वितरण के सस्ते (स्वी) तरीके को अच्छा नहीं मानते। केन्द्रित उत्पादन और राज्य द्वारा वितरण करने से प्रबन्धकों का एक ऐसा नया वर्ग पैदा हो रहा है जो अपने ही हाथों में सारी सत्ता हथि याने लगा है।

इसलिए गांधीजी चाहते हैं कि बड़े पैमाने पर और राज्य के नियन्त्रण में अथवा अन्य प्रकार से केन्द्रित उत्पादन के बजाय विकेन्द्रित रूप में जनता ही सर्वत्र अपनी जरूरत के हिसाब से थोड़ा-थोड़ा उत्पादन कर लिया करे। खादी के उत्पादन के बारे में वह लिखते हैं

"खादी जरूर बड़े पैमाने पर उत्पन्न की जाती है परन्तु यह उत्पादन कारीगरों के अपने घर पर ही होता है। यदि आप एक आदमी द्वारा किये जानेवाले उत्पादन को लाखों से गुणा कर दें तो क्या माल का ढेर नहीं लग जायगा? परन्तु मैं जानता हूं कि बड़े पैमाने के उत्पादन से आपका मतलब क्या है। बड़े पैमाने के उत्पादन से आपका मतलब है बड़े-बड़े जटिल यन्त्रों की सहायता से कम-से-कम आदमियों द्वारा अधिक-से-अधिक उत्पा दन। परन्तु मैं पहले ही कह चुका हूं कि यह ठीक नहीं है गलत है। मेरा यन्त्र बहुत सीधा-सादा हो जिसे मैं करोड़ों के घरों में पहुंचा सकूं।

राष्ट्रीय सुरक्षा

बाहरी आक्रमण से सुरक्षा की दृष्टि से भी उद्योगों का विकेन्द्रीकरण और ग्रामीकरण बहुत आवश्यक है। उद्योग जहां केन्द्रित हो जाते हैं वहां आसमान से बड़ी आसानी से बम बरसाये जा सकते हैं और ऐसे कुछ उद्योग

केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर देश सैनिक दृष्टि से बहुत कमजोर हो जाता है। यही नहीं सारे राष्ट्र की जनता का जीवन बड़ा अव्यवस्थित तथा अस्त व्यस्त हो जाता है। इसलिए इग्लैंड जापान जर्मनी जैसे देश जो केन्द्रित उद्योग-प्रधान देश के अब अपने उद्योगों का विकेन्द्रीकरण करने की तैयारी में लग गये हैं ताकि आर्थिक क्षेत्र में वे अपनेको अधिक सुरक्षित कर सके। जापान ने चीन पर बहुत जोरदार हमले किये परन्तु चीन उनके सामने झुका नही। इसका रहस्य यही है कि चीन ने अपने उद्योगों को सहकारिता की पद्धति से बहुत सुन्दर ढग से विकेन्द्रित कर लिया है। हम अभी अपनी भावी योजनाए बना रहे हैं। अत जो भूलें दूसरे राष्ट्रों ने की हैं वे ही यदि हम भी करेंगे तो क्या यह मूर्खता नहीं होगी? उदाहरण के लिए कपड़े के उद्योग को ही लीजिये। इसे बम्बई, अहमदाबाद जैसे कुछ शहरों मे केन्द्रित करने की अपेक्षा गृह-उद्योगों को प्रोत्साहन देकर हर गाव में खादी पैदा करना क्या अच्छा नहीं होगा? गांधीजी लिखते हैं

"जिस प्रकार लोग हर घर में अपना खाना खुद ही पका लेते हैं उसी प्रकार लोग हर गाव में अपनी जरूरत के लायक कपड़ा खुद बना सकते हैं। हमारे इस ११ मील लम्बे और १५ मील चौड़े देश मे सात लाख गाव हैं। उनकी और सारे देश की रक्षा के लिए भी ऐसा करना हर हालत में बुद्धिमानी की बात होगी। जाने कितने समय से ये गांव एक प्रकार की आजादी का उपभोग करते आये हैं। यदि वे अपनी प्राथमिक जरूरतों को अपने काबू म नहीं रख सके तो इस आजादी की वे रक्षा नहीं कर सकेंगे।

उत्पादन की कीमत

बड़े पैमाने पर देश के औद्योगीकरण के हिमायती कहते हैं कि अनेक प्रकार की भीतरी तथा बाहरी आर्थिक सुविधाओं और सहूलियतों के कारण कारखानों में बनी चीज खादी में बनी चीजों की अपेक्षा सस्ती पड़ती है। परन्तु यह भी निरा भ्रम है। डॉ. ज्ञानचन्द ने इस भ्रम का जिस प्रकार निराकरण किया है यह देखिये

"यह कीमतवाली बात भी एकदम गलत है। इसका कारण यह है कि

[illegible]

हमारी कुल धारणाएं ही मूलतः गलत हैं। सामाजिक दृष्टि से देखें तो औद्योगीकरण अत्यन्त महंगा है। इसके कारण मजदूरों को गन्दी बस्तियों में पशुओं की तरह रहना पड़ता है। खराब जगहों में काम करना पड़ता है। इससे उनके अपने नैतिक व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का ढांचा इतना बिगड़ जाता है कि वह असह्य हो जाता है और कभी तो टूट भी जाता है। समाज में जोरदार उपद्रव फूट पड़ते हैं। यह सब कारखानों के उत्पादन का ही परिणाम है। यह कीमत कारखानेवालों को नहीं समाज को चुकानी पड़ती है और वह बहुत भारी कीमत है। वह आगे लिखते हैं

"और महायुद्धों के आर्थिक कारणों की जांच करेंगे तो उनमें होने-वाला जन-धन का अपार संहार भी कारखानों के उत्पादन के नाम पर ही लिखा जायगा।

मध्य प्रदेश और बरार के औद्योगिक सर्वेक्षण-सम्बन्धी अपने प्रतिवेदन में डॉ. कुमारप्पा लिखते हैं

केन्द्रित उत्पादन में दूर-दूर से माल मंगाना पड़ता है और उत्पादन को एक जगह केन्द्रित करना पड़ता है। इसके लिए परिवहन (माल की ढोवाढोई) और उसके साधनों पर भी नियन्त्रण रखना जरूरी हो जाता है। इसका अर्थ है दूसरों के जीवन और व्यवहारों पर अंकुश। यह काम थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में नहीं दिया जा सकता। ऐसे नियन्त्रण के बगैर बड़े पैमाने पर उत्पादन हो ही नहीं सकता। इसलिए यदि इस पद्धति से माल का उत्पादन करने में कोई सस्तापन है तो उसका कारण यह है कि ये गड़बड़ियां निर्माण करने का बोझ और खर्च समाज पर डाला जाता है। इसलिए यह मानना मूर्खता है कि बड़े कारखानों में बना माल सस्ता है।

इसी कारण कपड़े के उद्योग का उदाहरण लेकर गांधीजी कहते हैं "एकांगी अर्थ की दृष्टि से देखेंगे तो शायद मिलों के कपड़ों की तुलना में खादी महंगी पड़ेगी। परन्तु यदि कुल मिलाकर और गांवों के हित की दृष्टि से विचार करेंगे तो खादी के मुकाबले में दूसरी कोई चीज टिक ही नहीं सकती। इसकी लाभदायक और व्यावहारिकता यह है। इसी प्रकार

देखिए १ १११

मिलों में साफ किये जानेवाले चावलों के मुकाबले में हाथकुटे चावल महंगे लगेंगे पर मिलों के चावलों से मनुष्य के शरीर को जो नुकसान होता है उसका भी यदि हिसाब जोड़ा जाय तो हाथकुटे चावल बहुत लाभदायक साबित होंगे। मिलों के तेल और घानी के तेल की बात भी ऐसी ही है। इसके अतिरिक्त बड़े कारखानों में बना माल सस्ता पड़ता है उसका कारण केवल भीतरी और बाहरी किफायतें या कमखर्ची नहीं है जो एक ही जगह माल बनाने से सम्भव है। इसके दूसरे अनेक कारण और सहूलियतें हैं जो राज्य और समाज द्वारा कारखानों को मिलती हैं और जो ग्रामोद्योगों को नहीं दी जाती या मिल पातीं। उदाहरण के लिए, कारखानों के लिए कच्चा माल बड़ी तादाद में थोक-के-थोक खरीदा जाता है। इसी प्रकार तैयार माल के थोक-के-थोक बच जाते हैं। इसमें निःसन्देह बड़ी सहूलियत और किफायत भी होती है। फिर पूंजी रेल द्वारा किफायती दरों पर माल का भेजा जाना सरकारी सहायताएं, जो कारखानों को दी जाती हैं वे ग्रामोद्योगों को नहीं दी जाती। परन्तु यदि सरकार ग्रामोद्योगों को बिजली की मदद देकर व्यवस्थित रीति से संगठित करे और उन्हें भी इस प्रकार सारी सहूलियतें दे तो निश्चय ही वे बड़े उद्योगों का मुकाबला कर सकेंगे। सर विक्टर सेसून कपड़ा-उद्योग की पहली परिषद् के अध्यक्ष थे। घर-घर में चलनेवाले करघों को बिजली की मदद पहुंचा दी जाय तो इस उद्योग का बहुत विकास हो सकता है यह बताते हुए उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था—

छोटे-छोटे (बिजली के) मोटरों से चलनेवाले हलके करघों के उद्योग के लिए इस देश में बड़ा अच्छा क्षेत्र है। एक छोटा-सा पूंजीपति इस तरह के कुछ करघे और मोटर आसानी से खरीद सकता है और यदि सहकारिता के सिद्धान्त पर इस उद्योग को संगठित किया जाय तो माल की कीमत और गुण दोनों बातों में यह किसी भी देश को टक्कर दे सकता है।

सर विक्टर ने इसमें पूंजीवाद के ढंग पर इस उद्योग को संगठित करने की बात कही है। यह ठीक नहीं। चीन की भांति विकेन्द्रीकरण की पद्धति से करघा-उद्योग का सहकारी संगठन बनाया जा सकता है परन्तु सर विक्टर ने कहा है कि बड़े उद्योगों की तुलना में इन छोटे संगठनों द्वारा

बतलाया गया माल कीमत और गुण में भी बराबर टिक सकता है। यह बड़े मार्के की बात है। हेनरी फोर्ड इस युग के बड़े-से-बड़े उद्योगपतियों में से एक रहे हैं। उन्होंने भी कहा है कि "आम तौर पर बड़ा क्षेत्र लाभदायक नहीं होता। "[1] जनता की सेवा और हित मुख्य बात है। यदि यह स्वीकार है तो बड़े-बड़े उद्योगों को इस प्रकार सारे देश में फैल जाना चाहिए कि जिससे उत्पादन में कौशल भी कम न हो और धन का वितरण भी अधिक से-अधिक गांवों में हो सके। इस प्रश्न के यंत्र-सम्बन्धी और अर्थ-सम्बन्धी पहलुओं पर भी रिचर्ड ग्रेग ने अपनी 'इकनॉमिक्स ऑफ खद्दर' नामक पुस्तक में विस्तार से विचार किया है।

प्राणि-शास्त्र का प्रमाण

प्राणि-शास्त्र की दृष्टि से भी ग्रामीण समाज का पुनरुज्जीवन बहुत अभीष्ट है। माल्थस को जनसंख्या की अतिवृद्धि का बड़ा डर था। परन्तु इस युग के प्राणि-शास्त्रियों और समाज-शास्त्रियों को भय है कि कहीं मनुष्य जाति ही समाप्त न हो जाय क्योंकि पिछले कुछ दशकों से कई देशों की आबादीबराबर घटती जा रही है। यह एक मानी हुई बात है कि शहरों में रहनेवाले धनवान लोगों की प्रजनन-शक्ति गांवों के गरीब लोगों की अपेक्षा बहुत कम होती है। स्कम एडम स्मिथ ने अपनी 'वैल्थ ऑफ नेशन्स' पुस्तक में लिखा है "संपत्ति जहां विलासिता के काम-विकार को बढ़ाती है वहां उनकी प्रजनन-शक्ति को वह सामान्यतया घटाती है और अक्सर नष्ट तक कर देती है। इसके कई कारण होते हैं। सबसे बड़ा कारण तो शहरों की घनी आबादी है। दूसरा कारण है मनोरंजन के अन्य साधन। अनेक बार ये काम-विकार को रोकने का काम कर जाते हैं। फिर शहरों में समाज का ढांचा बदल जाता है। कुछ धनका भी असर होता है। आखिर उत्पादन मनुष्य-जीवन को भी बन्धनों से बांध देता है जिससे काम-विकार भी बहुत कमजोर हो जाता है। इंग्लैंड के विख्यात प्राणि-शास्त्री प्रोफेसर कार-सॉंडर्स ने इस प्रवृत्ति का बड़ा सूक्ष्म विश्लेषण किया है

"गांवों में बच्चा स्वाभाविक—प्राकृतिक वातावरण में रहता है। वहां

[1] माई लाइफ एंड वर्क

वे प्राणियों और पौधों में उन्नत की क्रियाएं देखते रहते हैं और वे उनके लिए स्वाभाविक प्राकृतिक घटनाएं बन जाती हैं। शहरों में यह स्वाभाविक और दैनिक जीवन से कुछ भिन्न अस्पताल की एक घटना बन गई है। मंत्रों का प्रजनन और पालन-पोषण से कोई सम्बन्ध ही नहीं होता। शहरों के मानव-व्यवहारों पर इसका भी असर होता है।

कुछ समाजशास्त्रियों पर माल्थस के विचारों का बड़ा प्रभाव है। वे मानते हैं कि यदि पूंजीवाद को नष्ट कर दिया जा सके तो जनसंख्या की समस्या खुद-ब-खुद हल हो जायगी। परन्तु जैसा कि प्राध्यापक हॉगबेन कहते हैं केवल पूंजीपतियों के ही कम बच्चे नहीं होते। यह तो आधुनिक औद्योगीकरण और उससे जुड़ी अनेक बुराइयों का परिणाम है। इसलिए स्वयं मनुष्य-जाति को मरने से बचाने के लिए प्राणि-शास्त्री अब 'गांवों में लौट चलो' की आवाज उठाने लगे हैं।

खेती और ग्रामीण जीवन

खेती और ग्रामीण जीवन की दृष्टि से छोटे-छोटे स्वाश्रयी ग्रामीण समाजों की रचना करना कठिन नहीं है। पिछले दिनों खेती की कला का असाधारण विकास और प्रगति होगई है। इसलिए अब सभी देश अनेक प्रकार की फसलें पैदा कर सकते हैं, जिनके लिए पहले उन्हें दूसरे देशों का मुंह ताकना पड़ता था। यही नहीं अब तो एक ही देश के अन्दर उसके अलग अलग ग्राम भी ये फसलें उगाकर स्वाश्रयी हो सकते हैं। उन्हें अपने ही देश के दूसरे भागों का मुंह नहीं देखना पड़ेगा। कैलीफोर्निया के प्राध्यापक गैरिक ने बताया है कि बगैर मिट्टी के भी खेती हो सकती है। अभी यह खोज प्रयोगावस्था में ही है परन्तु यदि यह प्रयोग सफल हो गया तो खेती के क्षेत्र में एक बहुत बड़ी क्रान्ति हो जायगी। उसके द्वारा कम परिश्रम से थोड़ी-सी जमीन में बहुत अधिक अन्न पैदा किया जा सकेगा। इस प्रश्न के अधिक अध्ययन के लिए पाठक डॉ० विलकॉक्स की 'ऐबन्स ऐन्ड सिव ऐट होम' पुस्तक पढ़ें।

अमरीका के प्रसिद्ध समाज-शास्त्री लेविस ममफर्ड अपनी 'टेकनिक्स एण्ड सिविलाइज़ेशन' और 'कल्चर ऑव सिटीज़' नामक पुस्तकों में इसी

¹ 'बैक टु दी लैंड' पृ० १०४

बनाया गया माल कीमत और गुण में भी बराबर टिक सकता है। यह बड़े मार्के की बात है। हेनरी फोर्ड इस युग के बड़े-से-बड़े उद्योगपतियों में से एक रहे हैं। उन्होंने भी कहा है कि "आम तौर पर बड़ा पैमाना लाभदायक नहीं होता। जनता की सेवा और हित मुख्य बात है। यदि यह स्वीकार है तो बड़े-बड़े उद्योगों को इस प्रकार सारे देश में फैल जाना चाहिए कि जिससे उत्पादन में कीमत भी कम लगे और धन का वितरण भी अधिक-से-अधिक लोगों में हो सके। इस प्रश्न के धन-सम्बन्धी और अर्थ-सम्बन्धी पहलुओं पर भी रिचर्ड ग्रेग ने अपनी 'इकनॉमिक्स ऑफ खद्दर' नामक पुस्तक में विस्तार से विचार किया है।

प्राणि-शास्त्र का प्रमाण

प्राणि-शास्त्र की दृष्टि से भी ग्रामीण समाज का पुनरुज्जीवन बहुत अभीष्ट है। माल्थस को जनसंख्या की अतिवृद्धि का बड़ा डर था। परन्तु इस युग के प्राणि-शास्त्रियों और समाज-शास्त्रियों को भय है कि कहीं मनुष्य जाति ही समाप्त न हो जाय क्योंकि पिछले कुछ दशकों से कई देशों की आबादी बराबर घटती जा रही है। यह एक मानी हुई बात है कि शहरों में रहनेवाले धनवान लोगों की प्रजनन-शक्ति गांवों के गरीब लोगों की अपेक्षा बहुत कम होती है। स्वयं एडम स्मिथ ने अपनी 'वेल्थ ऑव नेशन्स' पुस्तक में लिखा है "धनवति बड़ों विलासियों के काम-विकार को बढ़ाती है, वह उनकी प्रजनन-शक्ति को यह सामान्यतया घटती है और अक्सर नष्ट तक कर देती है। इसके कई कारण होते हैं। सबसे बड़ा कारण तो शहरों की घनी आबादी है। दूसरा कारण है मनोरंजन के अन्य साधन। अनेक बार वे काम-विकार को रोकने का काम कर जाते हैं। फिर शहरों में समाज का ढांचा बदल जाता है। कुछ उसका भी असर होता है। यांत्रिक उत्पादन मनुष्य-जीवन को भी मशीनों से काम लेता है जिससे काम-विकार भी कुछ कमजोर हो जाता है। इंग्लैंड के विख्यात प्राणि-शास्त्री प्राध्यापक लान्सलॉट हॉगबेन ने इस प्रवृत्ति का बड़ा सूक्ष्म विश्लेषण किया है

गांवों में बच्चे स्वाभाविक—प्राकृतिक वातावरण में रहते हैं। वहां

अ... आदत नहीं बड़ी

चाहते हैं कि भारत अपनी आर्थिक योजनाएं शान्ति और स्वावलंबन के सिद्धान्तों के आधार पर बनावे और अपने माल के लिए संसार के बाजार पाने की आशा न रक्खे। "क्या आप साफ तौर पर नहीं देख रहे हैं कि यदि भारत का औद्योगीकरण हो जाय तो इसके माल को खपाने के लिए नये-नये लोकों में बाजार खोजने के लिए जाने कितने नादिरशाहों की हमें जरूरत होगी? और इसमें हमें इंग्लैंड जापान अमरीका और इटली के दरियाई बेड़ों और फौजों की होड़ में उतरना होगा। इससे हमारे बीच जो ईर्ष्या और द्वेष जागेंगे उसकी कल्पना-मात्र से मेरा तो सिर चकरा जाता है।" राष्ट्रीय संयोजन-समिति ने भी अपने उद्देश्यों की परिभाषा करते हुए लिखा है कि हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण राष्ट्र को स्वावलम्बी बनाना है और इस प्रयत्न में अपना आर्थिक साम्राज्य स्थापित करने के चक्कर में हमें नहीं पड़ना है। चीन के औद्योगिक सहकारिता-आन्दोलन के लाभ बताते हुए निम वेल्स ने लिखा है— 'यह याद रखना बड़ा जरूरी है कि चीन स्वयं कहीं साम्राज्यवादी न बन जाय अथवा जापान के साम्राज्यवाद का औजार। हां यदि उसका विकास प्रजातांत्रिक सहकारिता-पद्धति पर हो सका तो यह खतरा टल जायगा। यदि वहां उद्योगों का विकास इस प्रकार स्वस्थ और संतुलित रीति से किया जा सके तो वह अपने देश के बाहर प्रतिस्पर्धा निर्माण न करते हुए अपनी खरीदने की शक्ति को बढ़ाकर अपने माल के लिए घर में और बाहर भी समानता के आधार पर काफी विशाल बाजार बना लेगा।

अन्य प्रमाण-पत्र

इस प्रकार गृहोद्योगों पर आधारित ग्रामीण साम्यवाद गांधीजी की निरी सनक नहीं है बल्कि अनेक दृष्टियों से वह एक वैज्ञानिक और व्यावहारिक जीवन-दर्शन है। पिछले वर्षों में पश्चिम के अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथकारों और विचारकों ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उसकी सराहना और समर्थन किया है। ब्रिटेन की सामाजिक सुरक्षा-योजना के प्रसिद्ध प्रणेता सर विलियम बीवरेज ने भारत के लिए भी इसी प्रकार की एक योजना की सिफारिश करते हुए लिखा है— 'भारत के उद्योगों का भी अच्छा विकास हो सकेगा परन्तु ध्यान रहे कि उनको सारे देश में फैला

'हरिजन' २६-८-१९३६

नतीजे पर पहुंचते हैं कि बड़ी-बड़ी और घनी आबादीवाले शहर अब पुराने और अनावश्यक होगये। वे तो मानते हैं कि विज्ञान ने इतनी प्रगति कर ली है कि अब हम सारे देश में अल्प-जनसंख्यावाले छोटे छोटे शहर बना सकते हैं। उनमें छोटी-छोटी कारखाने-नुमा दुकानें हों जिनमें हर तरह की चीजें बनाई जा सकती हैं। ऐसे छोटे-छोटे कारखाने और शहर समाज की दृष्टि से अत्यन्त आरामदायक तथा उत्पादन की दृष्टि से बहुत लाभदायक सिद्ध होंगे। प्रिन्स क्रोपाटकिन ने भी अपनी 'कान्क्वेस्ट ऑफ ब्रेड'* और 'फील्ड्स, फैक्टरीज एण्ड वर्कशाप्स' नामक पुस्तकों में यही बात दसियों वर्ष पहले बड़े अध्ययन और खोज के बाद लिखी है।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति

आर्थिक-साम्य और समाज-शास्त्र के अलावा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की दृष्टि से भी उद्योगों का सहकारिता के सिद्धान्तों पर विकेन्द्रित पद्धति से संचालन जरूरी है, क्योंकि बड़े पैमाने पर केन्द्रीकरण की पद्धति पर आश्रित कारखाने निश्चित रूप से विदेशी बाजारों पर अधिकार करने की प्रवृत्ति पैदा करते हैं फिर चाहे व्यक्ति समाज या राज्य। इससे राष्ट्रों के बीच अन्धाधुन्ध होड़ पैदा होती है, जिसका नतीजा आगे-पीछे होता है महानाशकारी युद्ध। पिछली दो सदियों का यही दुखदाई अनुभव है। पहले तथा दूसरे महायुद्ध का मूल कारण मुनाफे की यह अनियंत्रित तृष्णा ही था। विशाल रूप के यन्त्रीकरण में यह वृत्ति स्वाभाविक रूप से रहती है। सोवियत रूस का वर्तमान में जो अनुभव हो रहा है वह भी बड़ा चिन्ताजनक है। हाल में भी भावी बाजारों के बारे में समस्त राष्ट्रों के बीच बड़े गम्भीर विवाद खड़े हो गये हैं। स्वयं ब्रिटेन की लोकसभा में औपनिवेशिक राज्यों के बाजारों के बारे में हुई बहस जिस-किसने पढ़ी होगी उसकी याद ताजा बनी होगी। इसीलिए गांधीजी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के इतने विरोधी हैं। जैसाकि पहले ही बताया जा चुका है वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विरुद्ध नहीं हैं, यदि वह इन राष्ट्रों की असली जरूरतों की पूर्ति करता हो और उनके पारस्परिक हितों का पोषक हो। परन्तु साम्राज्यों के वर्तमान माहौल के बीच यह तो असम्भव ही है। इसीलिए गांधीजी

* यह पुस्तक 'रोटी का सवाल' नाम से 'सस्ता साहित्य मंडल' से प्रकाशित हुई है।

चाहते हैं कि भारत अपनी आर्थिक योजनाएं शान्ति और स्वावलम्बन के सिद्धान्तों के आधार पर बनावे और अपने माल के लिए संसार के बाजार पाने की आशा न रक्खे। "क्या आप साफ तौर पर नहीं देख रहे हैं कि यदि भारत का औद्योगीकरण हो जाय तो इसके माल को खपाने के लिए नये-नये लोकों में बाजार खोजने के लिए जाने कितने नादिरशाहों की हमें जरूरत होगी? और इसमें हमें इंग्लैंड जापान अमरीका और इटली के दरियाई बेड़ों और फौजों की होड़ में उतरना होगा। इससे हमारे बीच जो ईर्ष्या और द्वेष जागेंगे उनकी कल्पना-मात्र से मेरा तो सिर चकरा जाता है।" राष्ट्रीय संयोजन-समिति ने भी अपने उद्देश्यों की परिभाषा करते हुए लिखा है कि हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण राष्ट्र को स्वावलम्बी बनाना है और इस प्रयत्न में अपना आर्थिक साम्राज्य स्थापित करने के चक्कर में हमें नहीं पड़ना है। चीन के औद्योगिक सहकारिता-आन्दोलन के बारे बताते हुए निम वेल्स ने लिखा है— 'यह याद रखना बड़ा जरूरी है कि चीन स्वयं कहीं साम्राज्यवादी न बन जाय अथवा जापान के साम्राज्यवाद का औजार। हां यदि उसका विकास प्रजातान्त्रिक सहकारिता-पद्धति पर हो सका तो यह खतरा टल जायगा। यदि वहां उद्योगों का विकास इस प्रकार स्वस्थ और सन्तुलित रीति से किया जा सके तो वह अपने देश के बाहर प्रतिस्पर्धा निर्माण न करते हुए अपनी खरीदने की शक्ति को बढ़ाकर अपने माल के लिए घर में और बाहर भी मानवता के आधार पर काफी विशाल बाजार बना लेगा।

अन्य प्रमाण-पत्र

इस प्रकार गृहोद्योगों पर आधारित ग्रामीण साम्यवाद गांधीजी की निरी सनक नहीं है बल्कि अनेक दृष्टियों से वह एक वैज्ञानिक और व्यावहारिक जीवन-दर्शन है। पिछले वर्षों में पश्चिम के अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथकारों और विचारकों ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उसकी सराहना और समर्थन किया है। ब्रिटेन की सामाजिक सुरक्षा-योजना के प्रसिद्ध प्रणेता सर विलियम बीवरेज ने भारत के लिए भी इसी प्रकार की एक योजना की सिफारिश करते हुए लिखा है—"भारत के उद्योगों का भी अच्छा विकास हो सकेगा परन्तु ध्यान रहे कि उनको सारे देश में फैला

हरिजन' २९-८-१९३६

देना चाहिए ताकि वहां इंग्लैंड और अमरीका की भांति बड़े-बड़े भयंकर शहर न खड़े हो जायं।

हार्सॉडस बुर्लेन फ्रांस के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री हैं। उन्होंने लिखा है कि बड़े-से-बड़े उद्योगों को छोटे-छोटे स्वयं-शासित भागों में अलग स्थानों में फैलाया जा सकता है। उन्होंने उदाहरण दे-देकर यह सिद्ध किया है कि इससे उद्योग की उत्पादन-शक्ति घटती नहीं उल्टे बढ़ती ही है। यूरोप के प्रसिद्ध विचारक काउण्ट कारेन्होव कालेरजी ने अपने—'टोटैलिटेरियन स्टेट अगेन्स्ट मैन' में युद्धग्रस्त संसार में फैली बुराइयों को दूर करने के लिए खेती की सहकारी समितियों की स्थापना करने की सिफारिश की है। आर्थिक शांति की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है—"इसके लिए एक स्वतन्त्र आर्थिक पद्धति की जरूरत है जिसका अमल भी स्वतन्त्रतापूर्वक हो। जरूरत यह है कि ऐसे छोटे-छोटे स्वतन्त्र संगठन जितने भी अधिक स्थापित किये जा सकें किये जायं। सहकारिता का केवल एक बन्धन उनमें हो। आर्थिक अराजकता और जबरदस्ती का समूहीकरण (कलेक्टिविज्म) इन दोनों से वह मुक्त हो। खेती-सम्बन्धी सहकारी समितियां इसका एक अच्छा नमूना हैं जिनमें खानगी सम्पत्ति भी कायम है और भाईचारे के साथ एक-दूसरे की मदद करने की वृत्ति भी।

हमारे अपने देश में ही डॉ. राधाकमल मुकर्जी ने ग्रामीण समाज रचनावाली सभ्यता की जरूरत पर जोर दिया है:

"भारतीय संयोजन अपने ढंग का अनोखा होगा। फासिस्ट देशों में जो आर्थिक स्वतन्त्रता और दूसरे पड़ोसी राष्ट्रों पर हावी होने की इच्छा होती है वह इसमें नहीं होगी। प्रजातन्त्री देशों में मुट्ठीभर पूंजीपतियों और शासकों के हाथों में सारी सम्पत्ति और सत्ता होती है और वे व्यापार और धन के बल पर अपना साम्राज्य फैलाना चाहते हैं। हम यह भी नहीं चाहते और न रूस के ढंग की वह फौजी संस्कृति हमें प्रिय है। हमारे आर्थिक संयोजन के पीछे कल्पना यह है कि हमारी परम्परागत शान्तिपूर्ण कृषि-प्रधान संस्कृति का राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से व्यापक विस्तार हो। इसके साथ ही दूसरी तरफ आज के बदलते हुए युग के सन्दर्भ में हमारे नैतिक

और सामाजिक गुणों को पूरी तरह विकास करने और फैशन का अवसर भी मिले।"[1]

गृहोद्योगों की पद्धति के औद्योगीकरण का हमारे राष्ट्रीय जीवन में कितना महत्त्व है यह बम्बई-योजना वालों को भी स्वीकार करना पड़ा है

"बड़े उद्योगों के साथ हम छोटे उद्योगों और गृहोद्योगों को भी अवश्य स्थान देना चाहते हैं। यह तो हमारी योजना का एक आवश्यक अंग है। अधिक लोगों को रोजी देने के लिए तो यह जरूरी है ही परन्तु योजना के प्रारम्भिक वर्षों में पूंजी की (खासकर बाहर की पूंजी की) बचत की दृष्टि से भी यह आवश्यक है।"

परन्तु मुझे स्पष्ट रूप से कहना पड़ेगा कि उपर्युक्त कथन के बावजूद ग्रामोद्योगों के बारे मे इस योजना के बनानेवालों का रुख साफ नहीं है। केवल अपनी सुविधा के लिए योजना के प्रारम्भिक वर्षों में वे इस प्रकार के उद्योगों को काफी स्थान देना चाहते हैं या अपने राष्ट्र की अर्थ-रचना को सतुलित करके उसे पक्की नींव पर खड़ी करने के लिए इस प्रकार के उद्योगो को फिर से जिलाकर उनका विकास करना स्वतन्त्र रूप से भी उपयोगी मानते हैं? अगर वे केवल संक्रमण काल के लिए अर्थात् प्रारम्भिक वर्षों में पूंजी की जरूरत को कम करने के लिए गृहोद्योगों को पुनरुज्जीवित करना चाहते हैं और बड़े और उन्नत उद्योगों के विकास का समय आते ही इन्हें फिर छोड़ देना चाहते हैं तो बम्बई-योजना के निर्माताओं को अपने विचारों में मूलगामी परिवर्तन करना होगा।

चीन में

युद्धों के कारण चीन जर्जर हो रहा है। वहां गृहोद्योगों पर आधारित औद्योगीकरण बहुत सफल हुआ है। निम वेल्स ने अपनी पुस्तक "चाइना बिल्ड्स डेमोक्रेसी" में औद्योगिक सहकारी समितियों का बड़ा सजीव और मनोरंजक वर्णन किया है। सन् १९३८ तक जापान की सेनाओं ने चीन के लगभग अस्सी प्रतिशत उद्योगों को नष्ट कर दिया था और इससे हजारों लाखों आदमी बेकार और बेघरबार हो गये थे। चीन का सम्पूर्ण भविष्य अन्धकारमय था। इस नाजुक समय में कुछ साहसी युवक सामने आये।

[1] 'इकनोमिक मौवमेन्ट ऑफ माडर्न इण्डिया'

इसका नेता या रेवी ऐली। जहां-जहां भी इन्हें मौका मिला सहकारिता के आधार पर इन्होंने छोटे-छोटे गुरीला उद्योगों का संगठन शुरू कर दिया। आज ये सहकारी संस्थाएं चीन का गौरव और निधि बन गई हैं। इन्होंने चीन के लिए न केवल दुश्मनों के आक्रमणों के विरुद्ध अभेद्य रक्षा-पंक्तियों का काम किया है बल्कि जब बमों की मार से देश की सारी अर्थ-व्यवस्था टूटकर ढेर हो गई थी ऐसे समय में उपयोग की जरूरी चीजों के प्रवाह को जारी रखकर इन्होंने राष्ट्र के प्राण बचाये हैं। सारे चीन में इस समय हजारों छोटी-छोटी सहकारी संस्थाएं खड़ी हैं जो आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र और स्वावलंबित हैं और छोटे-छोटे यन्त्रों की सहायता से अनेक प्रकार की खाद्य चीजें कपड़े कागज साबुन तेल खाद रासायनिक द्रव्य दवाएं, लोहे की चीजें यन्त्रों के भाग और औजार, चमड़े की चीजें दवाखानों के काम की चीजें और फर्नीचर आदि ये बनाती हैं। ये औद्योगिक सहकारी समितियां बाल-मंदिर, क्लिनिक और रात्रि की पाठशालाएं दवाखाने और खेल-कूद की संस्थाएं भी चलाती हैं। इन समितियों के बारे में सबसे आश्चर्यजनक बात है उनका मासिक उत्पादन। बताया गया है कि इन उद्योग-समितियों में जो पूंजी लगी है, उसके मुकाबले में इनका मासिक उत्पादन दो गुना अधिक है। इसका कारण शायद युद्ध हो। फिर भी यह आश्चर्यजनक है। ये सहकारी संगठन चीन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं केवल युद्ध के कारण नहीं बल्कि देश के भावी औद्योगिक विकास की दृष्टि से भी। निम वेल्स लिखती हैं—"बहुत अध्ययन और सोच-विचार के बाद चीन के उद्योग-शास्त्री इस नतीजे पर पहुंचे हैं और विशेष तथा अमरीका के विशेषज्ञों की भी यही राय है कि ये औद्योगिक सहकारी समितियां चीन की उन्नति के लिए न केवल आज बल्कि भविष्य में भी अत्यन्त उपयोगी और व्यावहारिक साधन सिद्ध होंगी। "चीन में चल रही ये प्रायः बाल संस्थाएं इस युद्ध और सामाजिक उथल-पुथल के युग में बहुत महत्व का काम कर रही हैं। इनमें विकास की खूब गुंजाइश है। देश में चारों ओर जब युद्ध की मारकाट चल रही हो प्रजातन्त्र की पद्धति की ऐसी संस्थाएं कायम करना अपने-आपमें एक बहुत बड़ी बहादुरी का काम है। सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन चाहनेवाला तथा चीन के

भविष्य में दिलचस्पी रखनेवाले सैकड़ों विचारकों को यह देखकर बड़ा कौतूहल होता है।

चीन के इन 'कोरीला उद्योगों' के बारे में मई १९४४ के 'एशिया और अमरीका' में एडगर स्नो ने यही राय प्रकट की है

"ये संस्थाएं न केवल युद्ध के अन्तिम दौर में चीन को सफलता दिला सकती हैं अपितु यदि इन्हें पूरा मौका दिया जाय तो ये अपने प्रवर्तकों की आशा-अपेक्षाएं भी पूरी कर सकती हैं—अर्थात् चीनी समाज के लिए एक अच्छी आर्थिक नींव बना सकती हैं जिसपर शान्तिमय तरीकों से भावी चीन में प्रजातन्त्र की इमारत खड़ी की जा सकती है।

चीन की यह सहकारी प्रणाली भारत के लिए अत्यन्त शिक्षाप्रद और मूल्यवान है। मिस बेल्स की इस पुस्तक की भूमिका भी जवाहरलाल नेहरू ने लिखी है। उसमें इस विषय में वह लिखते हैं

"चीन की भांति भारत के पास भी बहुत-सा मनुष्य-बल है। पूरी तरह और आध बेकार लोग भी बहुत हैं। हमें अपने देश की तुलना यूरोप के छोटे-छोटे देशों से नहीं करनी चाहिए। उनकी आबादियां तो बहुत कम हैं। वे कम भी रही हों तो भी क्या हुआ उनका औद्योगीकरण बहुत कठिन नहीं है। परन्तु हमारे यहां ऐसी कोई योजना सफल नहीं हो सकती जिसके कारण बेकारी फैलती हो या लोगों की शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग न होता हो। मनुष्यों के बारे में हम न भी विचार कर केवल पैसे का ही विचार करें, तो भी हम ऐसी ही योजनाएं बनानी चाहिए, जिनमें अधिक आदमियों को काम मिल सके और जिनमें बहुत उलझनभरे यन्त्र न हों। लोगों को एकदम बेकार रखने के बजाय उन्हें कुछ कम मजदूरी देनेवाला काम भी दिया जा सके तो वह नहीं से अच्छा है। कुछ बड़े कारखानों के उत्पादन की अपेक्षा बहुत-से छोटे-छोटे कारखाने बहुत अधिक सम्पत्ति पैदा कर सकते हैं।

जापान में

हम सब जानते हैं कि जापान में भी छोटे छोटे गृहउद्योग बहुत हैं। वहां भिन्न-भिन्न आकार के उद्योगों की स्थिति क्या है इसके बारे में गुन्थर

स्टीन ने अपनी पुस्तक 'मेड इन जापान' में नीचे लिखी तालिका दी है

सबसे छोटे उद्योग	१ प्रतिशत
उनसे कुछ बड़े उद्योग	२६ "
मध्यम कोटि के उद्योग	१२
बड़े उद्योग	२६

ये छोटे कारखाने केवल उपभोग्य वस्तुएं ही नहीं बल्कि यन्त्र भी बनाते हैं। यह भी कहा जाता है कि जापान में बने यन्त्रों में से केवल १४ प्रतिशत यन्त्र बड़े कारखानों में बनते हैं। प्राध्यापक ऐलन अपनी पुस्तक 'जापान्स इण्डस्ट्री इट्स रिसेन्ट डेवलपमेन्ट एण्ड कण्डीशन' में लिखते हैं

'इस प्रकार हम इसी नतीजे पर पहुंचते हैं कि जापान के उद्योगों में छोटे-छोटे यन्त्रों की बहुलता इस देश की आर्थिक दरिद्रता का चिह्न नहीं है, बल्कि वे जापानियों की बुद्धिमत्ता को प्रगट करते हैं। अपने देश की वर्तमान परिस्थिति में किस प्रकार के यंत्र लाभदायक हो सकते हैं यह वे खूब जानते हैं। उस देश में पूंजी की कमी है और उसकी तुलना में उद्योगों में काम करनेवाले मजदूर अधिक हैं। मजदूरी की दरें भी कम हैं।

भारत में भी यही स्थिति है परन्तु जापान में एक बात अच्छी नहीं है। चीन की भांति ये उद्योग जापान में सहकारिता के तत्त्व पर नहीं चलाये जाते। ये मिलती के पूंजीपतियों के हाथों में हैं। यह बुरा है, क्योंकि ये कारीगर स्वयं मालिक नहीं बल्कि पूंजीपतियों के कब्जे में हैं और इनका बड़ा बुरी तरह शोषण हो रहा है।

दूसरे देश

मालिक-उत्पादकों की सहकारी संस्थाएं रूस में भी हैं। इन्हें वहां इस्कोप कहते हैं। इन्होंने भी अच्छी सफलता प्राप्त की है। सिडनी और बीट्रिस वेब ने अपनी पुस्तक 'सोवियत कम्युनिज्म ए न्यू सिविलाइजेशन' में बताया है कि सन् १९१९ से लेकर और खासकर सन् १९१२ के बाद वहां का कारीगर-मालिकों को किस प्रकार पुन: जिलाया और बढ़ाया गया है। "इन सदस्यों को तनख्वाहें या मजदूरी नहीं दी जाती। असल में यह न ठेका है, न किसी प्रकार की नौकरी। कारीगर अपने औजारों या यन्त्रों के भी

मालिक है और उनकी सहायता से पैदा किये जानेवाले माल के भी या तो अकेले या सम्मिलित रूप से मालिक होते हैं।

इंग्लैंड में भी सहकारी रूप के स्वय चालित कारखानों को लोग अधिकाधिक पसन्द करने लगे हैं। लड़ाई के दिनों में इस प्रकार के स्वचालित विकेन्द्रित उद्योग-संस्थानों की उपयोगिता और लाभ को लोगों ने खुद देख लिया। इस प्रकार की मजदूर-संस्थाएं वे बड़ी आसानी से स्थापित कर लेते हैं और उन्हें सफलतापूर्वक चला ले जाते हैं। उनमें माल भी अधिक बनता है और वे दुश्मनों के बमों की शिकार भी आसानी से नहीं हो सकती। जैसा कि लिम वस्त बताती हैं संयुक्त राज्य अमरीका में भी सहकारिता का आन्दोलन प्रगति कर रहा है। वहां केवल उपभोक्ताओं के ही सहकारी भण्डार और कर्ज देनेवाली सहकारी बैंक नहीं है बल्कि वहां तो उत्पादकों ने भी अपने माल को बेचने के लिए सहकारी संस्थान बना लिए हैं। यही नहीं सहकारी खेत सहकारी आरोग्य सदन और सहकारी बीमा संस्थाएं भी वहां काम कर रही हैं। आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड भी युद्धकालीन संकट की स्थिति का मुकाबला करने के लिए सहकारी उद्योगों की मदद ले रहे हैं। कहते हैं जर्मनी में बेकारी को कम करने के लिए हिटलर को भी कितने ही गृहोद्योग शुरू करने पड़े थे।

उपसंहार

इस प्रकार सारे संसार का रुख विकेन्द्रीकरण और गृहोद्योग और ग्रामीण समाज-रचना की ओर हो रहा है। भारत में यह पद्धति बहुत प्राचीन काल से प्रचलित थी। निश्चय ही उसे पुनरुज्जीवित करके उसमें आधुनिक युग के अनुरूप आवश्यक सुधार करके उसे फिर से जारी करने की जरूरत है। हमें पश्चिम की नकल नहीं करनी चाहिए। पिछले कई वर्षों से वह जो काटे के बीज बोती रही है उनकी पूरी फसल अब खड़ी है। भारत को अपने आर्थिक विकास की योजना ऐसी बनानी चाहिए, जो उसकी प्रकृति और संस्कृति के अनुरूप हो। इससे दूसरे देशों को भी लाभ होगा। श्रीमती ऐनी बेसण्ट ने जो 'कॉमनवेल्थ ऑव इण्डिया बिल' बनाया था उसमें इस प्रकार की एक योजना की रूपरेखा थी। गांधीजी भी इसी प्रकार की योजना चाहते थे जिसका आधार ग्रामोद्योग और ग्रामीण समाज रचना हो।

खण्ड २

योजना का विवेचन

गांधीवादी अर्थ-रचना के आधारभूत सिद्धान्तों की अब मैं विवेचना करना चाहता हूँ। परन्तु इससे पहले यह उचित होगा कि इस संबंध में जो आलोचनाएं हुई हैं उनपर विचार कर लें। स्पष्ट ही आलोचनाएं दोनों प्रकार की हैं—अनुकूल भी और प्रतिकूल भी। आर्थिक संयोजन का विषय ही ऐसा है। फिर इस पुस्तक में गांधीजी के विचारों की दृष्टि से संयोजन पर विचार किया गया है। यह विचार स्वतन्त्र नया है, इसलिए अभी पूर्णता को प्राप्त नहीं हुआ है, अर्थात् इसने कोई निश्चित रूप नहीं ग्रहण किया है, बल्कि उसका लगातार विकास हो रहा है। आर्थिक नव-निर्माण की योजना के रूप में गांधीजी के विचारों को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने की दिशा में 'गांधीवादी योजना' शायद पहला ही प्रयत्न था। इसने बहुत-से लोगों को—बुद्धिमान लोगों को—विचार की भी प्रेरणा दी है और उन लोगों को भी इसका अध्ययन करने के लिए बाध्य किया जो अबतक गांधीजी और उनके विचारों से अपने-आपको दूर ही रखते हुए थे। इस प्रकार "यह पुस्तक एक विचारोत्तेजक चर्चा का विषय बन गई।"[1] डॉ० राधा कुमुद मुकर्जी ने लिखा है—"पिछले कई युगों से भारत जिन परिस्थितियों में से गुजरा है तथा आज उसकी जो स्थिति है और उसकी जो जरूरतें हैं उनको देखते हुए गांधीवादी योजना से बढ़कर उसके लिए कोई योजना नहीं हो सकती। दूसरी योजनाएं भी हैं जरूर, परन्तु उनमें भारतीय परिस्थिति का सही आकलन नहीं है। इसलिए यहां की कठोर आर्थिक वास्त

---

[1] दि मार्डन वर्ल्ड—कुमार मेहरचन्दी, पृ० १

विकल्पनाओं को वे स्पर्श तक नहीं कर पातीं। कोई भी आर्थिक योजना हो उसे पहले देश और समाज की असली स्थिति को समझ लेना चाहिए। इसकी उपेक्षा करके दूसरे गलत आधारों को लेकर चलने से—दूसरों की नकल करने से—काम नहीं चल सकता वह सफल नहीं हो सकती।"
प्रो० एम० पी० रंगा ने तो इस योजना की प्रशंसा में एक छोटी-सी पुस्तिका ही लिख डाली। नाम है—"चार करोड़ कारीगरों द्वारा गांधीवादी योजना का स्वागत। अपनी पुस्तिका के अन्त में वह लिखते हैं

बम्बई-योजना तो निरी एक पूंजीवादी योजना है, जिसमें पसीना बहानेवाले श्रमजीवियों का केवल शोषण और अपमान भरा पड़ा है। जिस किसी योजना में यन्त्रीकरण केन्द्रीय उत्पादन और मुट्ठीभर आदमियों के हाथों में अधिकार है उसका दावा साम्यवादी हो या पूंजीवादी उसके अन्दर करोड़ों को गुलामी में डालनेवाले पिशाचों का निवास है। गांधीवादी योजना ही एक ऐसी वस्तु है जो मुनाफाखोरी से मुक्त हमारी बची-खुची औद्योगिक स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र को बचाने के लिए बनाई गई है और विशाल जनता को समाजवादी अर्थ-रचना की ओर ले जाने की आशा देती है। इसलिए उसे जनता का व्यापक समर्थन प्राप्त है। इस महान और अच्छी गांधीवादी योजना में जनता की जो श्रद्धा है उसे कोई सरकार नहीं मिटा सकती संयोजन-समिति भी नहीं।

गांधीवाद और संयोजन

कुछ आलोचकों ने यह आपत्ति की है कि गांधीवाद का आधार विकेन्द्रीकरण है जबकि संयोजन की आत्मा तो केन्द्रीकरण है। तब गांधीवाद और केन्द्रीकरण कैसे साथ-साथ चल सकते हैं? इस आपत्ति के निराकरण के लिए सबसे अच्छा तो यही होगा कि स्वयं गांधीजी ने इसका जो जवाब दिया है, वही मैं प्रस्तुत कर दूं

'योजना' शब्द के प्रयोग पर आपकी आपत्ति एक तरह से सही है, परन्तु मेरा ख्याल है कि उसमें कोई सार नहीं है। मैं नहीं मानता कि योजना की आत्मा केन्द्रीकरण है। केन्द्रीकरण की भांति विकेन्द्रीकरण भी संयोजन में क्यों मददगार नहीं हो सकता?"[1]

---

१ 'ह० से०', २ जून १९४७

गांधीवाद और राष्ट्रीयकरण

गांधीवादी योजना की मुख्य स्कीम पर दूसरी आपत्ति यह उठाई जाती है कि गांधीवाद के दो मुख्य सिद्धान्त हैं—विकेन्द्रीकरण और राज्य का नियन्त्रण कम-से-कम। परन्तु उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के साथ इनका मेल नहीं बैठता क्योंकि राष्ट्रीयकरण में तो केन्द्रीकरण और राज्य द्वारा कठोर नियन्त्रण अनिवार्य रूप से आवश्यक है। प्राध्यापक कुमारप्पा लिखते हैं—"राष्ट्रीयकरण को गांधीवाद में जो स्थान दिया गया है वह तो मार्क्सवाद के अनुयायियों में जो समाजवादी या पथ हैं उनके लिए रियायत है। परन्तु इससे तो गांधीवादी सिद्धान्तों का भंग होता है। आप या तो राष्ट्रीयकरण अर्थात् समाजवाद का पूरी तरह विरोध कर सकते हैं या उसको स्वीकार कर सकते हैं। स्वीकार और विरोध दोनों एक साथ नहीं कर सकते।"[1] इस आपत्ति पर मैं गांधीजी का ही जवाब उद्धृत करता हूं:

"भारत के गांवों के लिए जो उद्योग और दस्तकारियां आर्थिक दृष्टि से लाभदायक हैं उनका अधिक-से-अधिक विकेन्द्रीकरण हो और सारे देश के हित की दृष्टि से बड़े-बड़े और महत्त्वपूर्ण उद्योगों का केन्द्रीकरण अथवा राष्ट्रीयकरण हो। मेरा तो ख्याल है कि इन दो बातों में जरा भी परस्पर विरोध नहीं है। आचार्य श्रीमन्नारायण ने जो उदाहरण दिये हैं वे वर्तमान काल के हैं। परन्तु जब हम आजाद हो जायेंगे तब आज की भांति बड़े उद्योगों का महत्त्व घट जायगा और ग्रामोद्योगों का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जायगा तब वातावरण बहुत अधिक साफ हो जायगा और जिन बातों को आज आचार्य श्रीमन्नारायण और हम अच्छी तरह देख नहीं पाते हैं उन्हें हम तब स्वयं बहुत अच्छी तरह और साफ तौर पर देख सकेंगे। मुझे तो आशा है कि वह दिन बहुत दूर नहीं है। हम और आप उसे अवश्य देख सकेंगे। आज तो इस विदेशी राज्य ने हर चीज पर रोक लगा रखी है परन्तु कल राज्य पर जनता का अधिकार हो जायगा—और यह एक बहुत बड़ी बात होगी जिसका असर हर चीज पर पड़ेगा। तब यदि आचार्य श्रीमन्नारायण की योजना (इस ग्रन्थ के प्रकाश के लिए क्षमा करें) पर अमल होता है तो राज्य का नियन्त्रण

[1] व्यू पेपर आफ गांधियन इकॉनॉमिक्स, पृ० ३१

दीखने में बहुत बड़ा मालूम होने पर भी वास्तव में वह बहुत कम—कम से-कम—होगा। जरा कल्पना कीजिये कि इस देश के सात लाख गाँव जागृत हो जाते हैं वे अपना भला-बुरा समझने लग जाते हैं और वे केन्द्रीय शासन का संचालन कर रहे हैं तब क्या स्थिति होगी? बाहर तो बहुत कम है।[1]

मैं इतना और जोड़ दूँ कि गांधीजी के अर्थशास्त्र-सम्बन्धी विचारों का मूल्यांकन पश्चिमी अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर नहीं किया जाना चाहिए। वह तो पुराण-पन्थी और ठकसाली है। गांधीजी हमको एक नया और अधिक अच्छा रास्ता बता रहे हैं। उसकी आजमाइश हम भारत वासी नहीं करेंगे तो कौन करेगा?

क्या यह विचार मध्ययुगीन है?

गांधीजी के अर्थशास्त्र-सम्बन्धी विचारों की एक और आलोचना होती है जो घिसी-पिटी है। कुछ लोग कहते हैं कि 'ये विचार पुराण-पन्थी और अवैज्ञानिक हैं। गांधीजी तो हमें बीसवीं सदी से हमारे पुरखों के जमाने में वापस ले जाना चाहते हैं।'[2] इस दलील का जवाब मैं गांधीवादी योजना में पहले ही दे चुका हूँ। परन्तु मैं फिर कहूँगा कि यदि भारी भारी शक्ति संचालित यन्त्रों की सहायता से बहुत बड़े पैमाने पर माल बनाने का नाम ही सच्ची वैज्ञानिक और सांस्कृतिक प्रगति है—चाहे वह पूँजीवादी पद्धति से किया जाय या साम्यवादी पद्धति से—तो मैं कहता हूँ इस प्रगति और विकास को दूर से ही हमारा नमस्कार है क्योंकि इससे तो समस्त संसार की जड़ ही हिल जायगी। गांधीजी न तो सनकी थे और न निरे स्वप्न-दृष्टा। वह तो बिल्कुल व्यावहारिक आदर्शवादी थे। संसार के महापुरुषों में उन्होंने शायद सबसे कम पढ़ा था परन्तु अपने देश की नाड़ी को पहचानकर उसकी बीमारी पर सही औषधि की योजना करने की अप्रतिम शक्ति उनमें थी। वह बहुत विद्वान नहीं थे। पश्चिम के अर्थ शास्त्रियों के लिखे ग्रन्थ उन्होंने शायद ही पढ़े होंगे। परन्तु आज जो

---

[1] 'हरिजन', २ जून १९४६
[2] [illegible]

समस्याएं संसार को इतना परेशान कर रही हैं उनके लिए उन्होंने जो उपाय सुझाये हैं वे अत्यन्त अव्यावहारिक हैं। यह कहना भूल है कि गांधीजी का अर्थशास्त्र संसार को फिर से मध्ययुग में ले जानेवाला है या इतना ही विरुद्ध दिशा में किसी से जाने जैसा कठिन है। मुर्रे लिस्टर ने तो अपने अन्तर की गहराई से कहा है 'आज संसार चौराहे पर खड़ा है और गांधी बता रहा है कि किधर जाने में उसका कल्याण है। वह कहता है कि 'अपने दिलों के अन्दर सर्चलाइट की रोशनी फेंककर देखिये। तब हम देखेंगे कि गांधी के बताये मार्ग से ही हम एक इन्सान को शोभा देने लायक स्वतन्त्रता और शान्ति प्राप्त कर सकते हैं।'[1] और यह बिल्कुल सही है! मुझे तो जरा भी सन्देह नहीं कि गांधीजी जमाने से पीछे नहीं बल्कि आगे जाते हैं। यह भी सम्भव है कि पश्चिम के राष्ट्र गांधीजी के सादगी अहिंसा और विकेन्द्रीकरण के आदर्शों को पूर्व के राष्ट्रों की अपेक्षा जल्दी अपना लें क्योंकि अब पश्चिम की सभ्यता से उनका पेट भर गया है और वे उससे ऊब गये हैं। यदि ऐसा हुआ तो मेरे विचार में यह एक बहुत बड़े दुःख की बात होगी परन्तु लोग कहते हैं कि पैगम्बर का मान अपने देश में नहीं होता। यह शायद इस लोकोक्ति का ही एक विकास बन जाय।

इससे कहा जाता है कि गांधीजी की दृष्टि वैज्ञानिक नहीं है। इसलिए हमारे नेताओं के इस युग में वह बैलगाड़ीवाली बातें करते हैं। डॉ॰ मेघनाद साहा राष्ट्रीय संयोजन समिति के सदस्य और रॉयल सोसायटी के फैलो हैं। उन्होंने रूस की एक सभा में भाषण देते हुए वहां के विज्ञान शास्त्रियों से कहा था *'हमारी नजरों में गांधीजी के विचारों का उतना ही महत्त्व है जितना आपकी नजरों में टॉल्स्टॉय का।'*[2] परन्तु ये वैज्ञानिक आज जिस समाज-रचना की तरफ दौड़े जा रहे हैं उसका प्रतिनिधि एटम बम है। उसकी अपेक्षा गांधीजी की बैलगाड़ीवाली सभ्यता अन्त में जाकर मनुष्य-जाति के लिए अधिक कल्याणकारी सिद्ध होनेवाली है, इस बात को वह भूल रहे हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि विज्ञान अपने आपमें कोई साध्य नहीं है। वह तो हमारे अन्तिम साध्य का एक साधन

[1] 'गांधी एण्ड स्टैलिन' पृ० १७०
[2] 'नई सिविलिजेशन इन सोवियत रशिया' पृ० ४४

मात्र है। मगर उस साध्य की प्राप्ति में वह सहायक नहीं हो रहा है तो उसका यह सारा विकास हमारे किस काम का ? हमें याद रखना चाहिए कि केवल आकार-प्रकार और दिखावे में ही विकास नहीं है। अमरीका के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री और गांधी-विचार के अध्येता श्री रिचर्ड ग्रेग लिखते हैं—

"खादी में विज्ञान का निषेध नहीं है बल्कि इसमें तो विज्ञान के एक बड़े प्रसिद्ध सिद्धान्त को अर्थशास्त्र के साथ बड़ी बुद्धिमत्तापूर्वक जोड़ दिया गया है जिसे वैज्ञानिक 'लॉ ऑफ इकोनॉमिक्स' के नाम से जानते हैं। हाथ चरखी पुनकी चरखा और हाथ-करघा बहुत सीधे-सादे यन्त्र हैं और भारत की आज जैसी स्थिति है उसमें दूसरे यन्त्रों की अपेक्षा ये बड़े उपयोगी हैं। भाप का इंजिन डायनेमो और दूसरे यन्त्र निःसन्देह अपने ढंग की अच्छी चीजें हैं परन्तु इनके गुणों की प्रशंसा करते-करते हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि स्वयं मनुष्य-शरीर भी एक अत्यन्त आश्चर्यजनक और अप्रतिम यन्त्र है। उसमें बहुत शक्ति भरी पड़ी है। कुछ यन्त्र आकार प्रकार में बहुत बड़े होते हैं ढेरों उत्पादन भी करते हैं। निःसन्देह इनका बड़ा असर होता है। उनके निर्माताओं के प्रति और उनके द्वारा जो इतना सारा काम हो जाता है उसके प्रति आदर भी है परन्तु ये एक बड़ी कर्कश आवाज के समान हैं। एक जंगली आदमी की भांति हम अनाड़ी और चमत्कारी तो नहीं हैं जो इन्हें देखकर मारे डर के अपने आपको भूल जाता है। आखिर मनुष्य का दिल और आत्मा अधिक महत्व रखते हैं।

इस जमाने में बड़े-बड़े राक्षसी यन्त्रों के बगैर भी हम यन्त्र-शक्ति का उपयोग कर सकते हैं। यन्त्र-शक्ति को बगैर छोड़े आज हम उत्पादन को विकेन्द्रित कर सकते हैं और फिर भी उसकी संख्या कम नहीं होने पायगी।[1] "जो लोग समझते हैं कि बड़े-बड़े यन्त्रों और कारखानों के बड़े पैमानेवाले उत्पादन के बगैर हमारा काम नहीं चल सकता वे भूलते हैं। वे विज्ञान की शक्ति को नहीं जानते।"[2] लेविस ममफोर्ड अमरीका के एक महान्

---

१ 'इकोनॉमिक्स ऑफ खद्दर' पृ० १ २

'पॉलिटिक्स ऑफ चरखा'—जे० सी० कुमारप्पा पृ० ११

समाज-शास्त्री हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक 'टैकनिक्स एण्ड सिविलिजेशन' तथा 'कल्चर ऑफ सिटीज़' में लिखते हैं कि ये बड़े-बड़े कारखानोंवाले शहर अब पुराने हो गये हैं। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से ये निकम्मे और हानिकर हैं। अब तो विज्ञान इतना आगे बढ़ गया है कि सारे देश में छोटे-छोटे शहर बगीचों के बीच में बस सकते हैं और वहां छोटे-छोटे कारखानों में सारे काम हो सकते हैं। उनमें किसी प्रकार की कमी नहीं आने पायगी और "उद्योग तथा समाज के शारीरिक और नैतिक आरोग्य की दृष्टि से भी ये स्थान उत्तम होंगे।

फिर यह ख्याल बना लेना भी बड़ा गलत है कि गांधीजी यन्त्र-मात्र के विरोधी हैं। उनके विचारों को ग्रहण करने से जिनके स्वार्थों को चोट पहुंचने का अंदेशा है शायद वे लोग जान-बूझकर उन्हें गलत रूप में पेश करते हैं। गांधीजी कहते हैं "यन्त्र-मात्र से मेरा कोई विरोध नहीं है। सर्व-साधारण के लाभ के लिए बनाये जानेवाले हर यन्त्र का मैं तो स्वागत करूंगा। 'आज जो मजदूरी की बचत करानेवाले यन्त्रों की खोज का पागलपन सवार है, उसके वह जरूर विरोधी हैं। झोंपड़ों में रहनेवाले करोड़ों गरीबों के काम के बोझ को हल्का करनेवाले यन्त्र तो वह खूब चाहते हैं। फिर गांधीजी ने यह भी बहुत स्पष्ट रूप से कह दिया है कि राष्ट्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण बड़े उद्योगों के यन्त्रीकरण और केन्द्रीकरण के भी वह विरोधी नहीं हैं। इतने पर भी सदा के लिए बैलगाड़ीवाली समाज रचना का और मध्ययुगीन अवैज्ञानिक सभ्यता के हिमायती के रूप में उन्हें पेश करना सिवा बौद्धिक बेईमानी के—यह शब्द भी बहुत सौम्य है—और कुछ नहीं है।

असल में गांधीजी भारत के प्राचीन विकेन्द्रित औद्योगीकरण में विश्वास करते हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि हमारी पुरानी दस्तकारियों ने सौंदर्य में बड़ी पूर्णता प्राप्त कर ली थी। मसालों में सुरक्षित मिस्र के शव महीन-से-महीन भारतीय मलमल में लपेटे मिले हैं। रोम के सम्राटों के दरबारियों की गृहिणियां भारतीय रेशम के अप्रतिम रंगवाले वस्त्रों से अपने शरीरों को सजाने में गौरव अनुभव करती थीं। टैवर्नियर एक फ्रांसीसी पर्यटक था। सत्रहवीं सदी में वह कई बार भारत आया था।

उन दिनों ईरान का कोई मुहम्मदअमीन बेग भारत में ईरान के शाह का राजदूत था। इस बेग का एक किस्सा टैवर्नियर ने लिखते हुए कहा है कि बेग जब भारत से अपने देश को लौट रहा था तब मुगल बादशाह ने ईरान के शाह के पास भेंट के रूप में शुतुरमुर्ग के अंडे के आकार का एक नारियल भेजा था जिसके ऊपर जवाहरात जड़े हुए थे। शाह सेफ ने जब उसे खुलवाया तो उसके अन्दर एक पगड़ी रक्खी मिली जो साठ हाथ लम्बी थी। इसकी मलमल इतनी महीन थी कि आपको पता ही नहीं लग सकता था कि आपके हाथ में कुछ है। विज्ञान के क्षेत्र में भी धातु के तथा रासायनिक पदार्थों के निर्माण में और वस्तकारियों में भारतीयों ने आश्चर्यजनक प्रगति कर ली थी। भारत में वह इस्पात तैयार होता था जिससे दमिश्की धाक छुरियाँ तलवारें बनती थीं। दिल्ली का प्रसिद्ध लोहे का स्तम्भ भी इसी इस्पात का बना हुआ है और डेढ़ हजार वर्ष पुराना है। अशोक-स्तम्भों की चमक और चिकनाहट को देखकर आजकल के कारीगर भी हैरान हो जाते हैं। भारत का सारा निर्यात व्यापार भारतीय जहाजों में ही होता था। इस प्रकार भारत की प्रगति और कुशलता के और भी अनेक उदाहरण गिनाये जा सकते हैं। परन्तु यह विषयान्तर होगा। हमारा प्रस्तुत विषय तो यह है कि विकेन्द्रित ग्रामोद्योग और विज्ञान तथा प्रगति में—जिसपर आज की दुनिया को इतना नाज है—कोई झगड़ा नहीं है।

स्वावलम्बन क्यों ?

आजकल हम 'विश्व सरकार' के सपने देख रहे हैं। इसलिए कहा जाता है कि आदिकाल के लोगों की भांति हमें संकुचित दृष्टिवाला नहीं बन जाना चाहिए। यह तो पीछे से जानेवाला कदम है। वास्तव में अधिक-से-अधिक स्वावलम्बन गांधीजी के स्वदेशीवाले सिद्धान्त का एक अंग है। उनके इस स्वदेशी धर्म का अभिप्राय यह है कि हमें पहले उन्हीं चीजों और उन्हीं लोगों से सेवा लेनी देनी चाहिए, जो हमारे आसपास और नजदीक हैं। दूर के लोगों और चीजों की बात बाद में करें। गांधीजी के इस विचार की जड़ में मनुष्यता का विचार है। वे पड़ोसी की सेवा द्वारा देश की सेवा करने के पक्षपाती हैं। पहले उनकी बनाई चीजें हम खरीदें। सामाजिक

सम्बन्ध भी कायम करते हैं तो पहले उनकी सेवा करें। इसमें दोनों का कल्याण है और यदि गहराई से देखना चाहें तो इसमें बड़ा गहरा अर्थ-शास्त्र भी भरा पड़ा है। इस प्रकार के स्वावलम्बन और स्वदेशी धर्म के पालन से बेकारी की उलझनों से हम अपने-आप बच जाते हैं और परिवहन मुक्त विनिमय वितरण न्याययुक्त होकर करों का बोझ कम-से-कम हो जाता है। विशुद्ध आर्थिक दृष्टि से देखें तो स्थानीय स्वावलम्बन का सिद्धान्त स्थानीय कच्चे माल का और श्रम का अधिकतर उपयोग कर लेने का प्रयास है। इससे हर चीज का व्यापक-से-व्यापक अर्थ में अच्छे-से-अच्छा उपयोग हो जाता है। उपभोग्य वस्तुओं को दूर के बाजारों के लिए नहीं बल्कि स्थानीय जरूरतों के लिए ही यदि हम पैदा करते हैं तो इससे उत्पादक व्यापारी और ग्राहक किसीको किसी प्रकार का नुकसान नहीं हो सकता। वितरण न्याययुक्त हो जाता है, जनता को काम के लिए मारे-मारे नहीं भटकना पड़ता और सबके जीवन में अपने-आप सहकारिता आ जाती है। यह बात सही है कि श्रम-विभाजन और उद्योगों को एक जगह ही केन्द्रित करना लाभदायक होता है। स्वावलम्बन का सिद्धान्त इसके विरुद्ध जाता है। यह सच है कि सब उद्योग एक ही जगह रहें, इसमें कारखाने के अन्दर और बाहर भी कई लाभ हैं। परन्तु हमें भूलना नहीं चाहिए कि इसमें अनेक बुराइयां भी हैं—उदाहरणार्थ मजदूर-बस्तियों की गन्दगी तथा बाजारी रोजी की अनिश्चितता (प्रिकेरियस इनसीक्योरिटी ऑफ एम्प्लॉयमेंट) और परिवहन के साधनों की असाधारण खींचतान। बृहद् मकान ग्रामीण और नगर-सम्बन्धी नीति की कमेटी की सिफारिशों में भी यही कहा गया है कि बार-बार मकानों से बचना है तो स्थानीय स्वावलम्बन की पद्धति ही अच्छी है। फिर स्थानीय स्वावलम्बन की दृष्टि से यातायात का घटाना आवश्यक है, व्यापार की चीजें और धन कमानेवाली फसलें ढोना अच्छा नहीं क्योंकि यह तमाशा हमारे साधनों का है। इसलिए आजकल तो अन्न वस्त्र और मकानों के सामान से सम्बन्ध रखनेवाले कारखानों को एक ही जगह में एकत्र कर देना समझदारी नहीं है। यदि उपभोग्य वस्तुओं के कारखाने कुछ इने-गिने शहरों में ही केन्द्रित कर दिये जाते हैं तो थोड़े

वे बम सारे देश की अर्थ-व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर सकते हैं। राजनैतिक स्वतन्त्रता की दृष्टि से भी गांधीजी इस तरह कारखानों का कुछ गिनती के शहरों में केन्द्रित कर देना पसन्द नहीं करते। इससे लोग अपनी दैनिक आवश्यकताओं के बारे में नाहक राज्य के मुहताज हो जाते हैं। मौका पड़ने पर सत्ता भी इसका दुरुपयोग कर सकती है—चाहे वह लोकतन्त्री हो या अधिनायकतन्त्रवादी परन्तु इस बारे में गांधीजी का बहुत आग्रह भी नहीं है। वह नहीं चाहते कि ये इतनी दूर-दूर भी हों कि आपस में सहयोग भी न कर सकें। गांवों में और उत्पादन-केन्द्रों में भी परस्पर सहयोग—समन्वय—तो होना ही चाहिए।

स्थानीय स्वावलम्बन में भी विवेक तो रखना ही होगा। जैसा कि मैंने गांधीवादी योजना में बताया है स्वावलंबन के क्षेत्र प्रत्येक उद्योग के लिए अलग-अलग छोटे-बड़े होंगे। कुछ उद्योगों के लिए यह क्षेत्र केवल एक दो या चार ही गांव का होगा तो कोई उद्योग ऐसा भी हो सकता है, जिसका क्षेत्र एक तहसील जिला या एक छोटे-से प्रान्त जितना बड़ा हो। अन्न वस्त्र या मकान के जरूरी सामान से सम्बन्ध रखनेवाले उद्योग के क्षेत्र स्वभावतः छोटे होंगे। परन्तु मौज-शौक और आराम की चीजों के बारे में स्वावलम्बन का क्षेत्र चाहे प्रान्त हो या सारा देश।

हम अंतर्राष्ट्रीयता और विश्व-सरकार के बारे में बहुत बढ़ चढ़कर बातें करते हैं और गांधीजी के ग्राम-स्वावलम्बन को कबीलों की असभ्यावस्था का अवशेष कहकर उसकी खिल्ली उड़ाते हैं परन्तु पश्चिमी सभ्यता के प्रति अपने उत्साह के अतिरेक में हम एक बात भूल जाते हैं। वह यह कि आर्थिक क्षेत्र में गांधीजी स्वावलम्बन की जो बात करते हैं सो इसलिए कि लोग आर्थिक और राजनैतिक मामलों में किसीके मुहताज न रहें और उनका शोषण न हो। परन्तु दूसरे प्रकार से उनके विचार बहुत व्यापक हैं। अंतर्राष्ट्रीयता से वह कहीं आगे हैं। केवल अपने गांव के ही नहीं बल्कि प्रान्त देश और समस्त संसार के मनुष्यों को भाई समझने के लिए वह हमें कहते हैं। समस्त विश्व के साथ हमारा तादात्म्य हो। उस अनन्त के साथ तादात्म्य अनुभव करने के लिए यह जरूरी नहीं कि हम हवाई जहाजों में लगातार उड़ते रहें। गांधीजी मानते हैं कि ग्राम और विश्व दोनों को हम

एकसाथ प्रेम कर सकते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं है। संक्षेप में गांधीजी का आशय यह है कि आर्थिक बातों में हमारा व्यवहार-सूत्र स्वाधीन स्वावलम्बन हो किन्तु सांस्कृतिक और दार्शनिक दृष्टि से हम 'वसुधैव कुटुंबकम्' के आदर्श पर ही चलें।

आर्थिक शून्यता

गांधीजी के अर्थशास्त्र के विरुद्ध एक यह भी आपत्ति उठाई जाती है कि "उद्योग के क्षेत्र में पिछड़ा हुआ देश संसार के शक्ति-संतुलन को सदा बिगाड़ता रहेगा। अधिक विकसित देशों की आक्रमणकारी वृत्तियों के के लिए यह हमेशा एक प्रलोभन का काम करेगा।"[1] उन्हें भ्रम है कि विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था से "देश खाली-खाली-सा रहेगा और यह बाहर की विकसित भौतिक शक्तियों के लिए एक जबरदस्त आकर्षण बन जायगा।"[2] इस व्यवस्था की रक्षा के लिए आप चर्खों की दीवार खड़ी कर सकते हैं पर यह टिकेगी नहीं। तब "गांधीजी की अर्थ-व्यवस्था की रक्षा के लिए आपको टैंक, हवाई जहाज और पनडुब्बियों की मदद लेनी पड़ेगी। मेरी नम्र राय है कि गांधीजी के विचारों को समझने में बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण भूल हो रही है और इसीके कारण ऐसी-ऐसी आपत्तियां और शंकाएं उठाई जाती हैं। गांधीजी ने यह कभी नहीं कहा कि हम उद्योगों में पिछड़े हुए रहें। इस मुद्दे को पहले एक बार मैं स्पष्ट कर चुका हूं। असल मुद्दा तो यह है कि हम उत्पादन किस प्रकार बढ़ाना चाहते हैं? बड़े-बड़े यन्त्रों और कारखानों की मदद से ढेरों चीजें बनाकर या इस प्रकार कि छोटे-छोटे यन्त्र घर-घर में फैल जायं और सारे देश के लोग काम करें और उत्पादन का ढेर लगा दें? गांधीजी ने यह भी बहुत साफ तौर पर कह दिया है कि देश में राष्ट्रीय महत्त्व के कुछ उद्योगों में बड़े यन्त्रों से काम लिया जाय और उनमें बड़े पैमाने पर उत्पादन हो और राष्ट्रीय विकास के लिए वे आवश्यक हों। तो उसपर उन्हें कोई आपत्ति नहीं, परंतु जहांतक रोजमर्रा की जरूरत की चीजें बनानेवाले दूसरे उद्योगों की बात है, वे तो सारे देश में फैले हुए हों और उन्हें सहकारी गृह-उद्योगों के तौर पर

[1] '[illegible] (दिल्ली)' १ ४६
[2] '[illegible]' पृ० १

ही चलाया जाय। मैं तो समझता हूं कि इससे अधिक अच्छी और वैज्ञानिक दूसरी कोई पद्धति हो ही नहीं सकती। हम क्यों भुला देते हैं कि जापान तो गृहोद्योगों का घर ही है। देश के सम्पूर्ण औद्योगिक उत्पादन का ७४ प्रतिशत निर्माण वहां इन छोटे-छोटे और बीच के उद्योगों से ही होता है। क्या इन उद्योगों ने जापान में कोई शून्यता पैदा कर दी और पश्चिम की शक्तियों ने उसे धर दबोचा है? नहीं वहां तो इससे उलटा ही हुआ है। विकेन्द्रित उद्योगों ने वहां जादू का-सा काम किया और उसने दूसरे देशों के बाजारों को अपने माल से पाट दिया है। शून्यता जापान में नहीं पश्चिम के उन देशों में पैदा हो गई, जिनमें अत्यधिक औद्योगीकरण हो गया था। इसका कारण वह शोषणी और लालची अर्थ-व्यवस्था है, जिसका यूरोप और अमरीका को इतना शौक है।

परन्तु जापानी ढंग की विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था में और गांधीजी के ग्रामोद्योग के सिद्धान्त में एक बुनियादी अन्तर है। जापान के छोटे-छोटे उद्योग वहां के प्रभावशाली पूंजीपतियों के हाथों में थे और सस्ती मजदूरी तथा कम पूंजी में काम चल जाता है इस ख्याल से उन्होंने इन उद्योगों को गांवों में फैला दिया था। इस पूंजीवादी औद्योगिक संगठन ने व्यापारिक क्षेत्र में ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा को पैदा किया जिसमें से अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष खड़ा हो गया। गांधीजी नहीं चाहते कि उनके इस ग्रामोद्योगों के संगठन के द्वारा ऐसी हिंसक और आक्रमणकारी प्रवृत्तियां जागें। वह चाहते हैं कि यह औद्योगिक संगठन ग्राम-समाजों के हाथों में रहे और वे स्थानीय स्वावलंबन के आदर्श को सामने रखकर इनका संचालन सहकारी पद्धति से करें। इससे स्पष्ट है कि यह अर्थ-व्यवस्था न तो देश में कोई आर्थिक शून्यता पैदा करेगी और न उसका हेतु यह है कि अविकसित देशों में घुसकर कोई वहां अपना साम्राज्य कायम करें।

राष्ट्र की रक्षा की दृष्टि से देखें तो भी गांधीजी की बताई अर्थ-व्यवस्था में पश्चिमी ढंग की केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था की अपेक्षा कम भय है और इस बात को ये राष्ट्र खुद भी अब दूसरे महायुद्ध के बाद अनुभव करने लगे हैं। परन्तु इससे पहले उन्हें कितनी जबरदस्त हानि उठानी पड़ी यही जानते हैं। चीन का उदाहरण भी हमारे सामने है ही। जापान के आक्रमणों का

सामना करने में सहकारिता पर आधारित उसके छोटे-छोटे औद्योगिक संगठनों ने उसकी बड़ी सहायता की है। ये उसकी दूसरी रक्षा-पंक्ति बन गये थे। यदि वहां व्यापक रूप से यह विकेन्द्रित संगठन नहीं होता तो चीन का सुरक्षा-संगठन ताश के महल की भांति हवा में कहीं-का-कहीं उड़ जाता। इसलिए गांधीजी की अर्थ-व्यवस्था की रक्षा के लिए टैंक हवाई जहाज और पनडुब्बियां जुटाने की चिन्ता दयालु मित्रों को नहीं करनी चाहिए, यद्यपि हमने यह तो कल्पना नहीं की है कि स्वतंत्र भारत को सशस्त्र फौजों की जरूरत ही नहीं होगी। गांधीजी नहीं चाहते कि भारत किसी भी देश का आर्थिक शोषण करे। इसी प्रकार वह यह भी नहीं सह सकते कि कोई दूसरा देश भारत का आर्थिक शोषण करे। अनुचित बाहरी प्रतिस्पर्धा से भारत के उद्योगों की जरूर रक्षा की जायगी। यही क्यों खुद देश के अन्दर भी कारखानों में बने माल की अनुचित स्पर्धा से ग्रामोद्योगों की रक्षा उसे करनी ही होगी। मुक्त व्यापारवाला सिद्धान्त अब पुराना और इसलिए निकम्मा हो गया है। उसे गांधीजी नहीं चाहते। आज सबसे महत्वपूर्ण बात है संयोजन। वह बहुत सोच-समझकर बुद्धिमत्ता के साथ किया जाना चाहिए।

ग्राम-पंचायत 'अयोग्य' हैं!

कुछ लोगों का ख्याल है कि ग्राम-पंचायतें अभी इस लायक नहीं हैं कि वे आर्थिक राजनैतिक और सामाजिक दृष्टि से ग्रामों का विकास अच्छी तरह कर सकें क्योंकि गांवों में राग-द्वेष और आपसी झगड़े बहुत हैं। वहां तो अपनी जिम्मेदारियों का ख्याल भी पैदा नहीं हुआ है। इसलिए ये आलोचक मानते हैं कि उद्योगों का विकेन्द्रीकरण करने से बड़ी अव्यवस्था पैदा हो जायगी और कुछ भी प्रगति नहीं हो पायगी। परन्तु इसका जवाब बहुत सीधा-सादा है। गांवों की असली हालत की जानकारी जितनी गांधीजी को है उतनी और किसी को नहीं है। उन्हें इन दोषों का पता न हो ऐसी बात नहीं है परन्तु असली सवाल तो यह है कि हम देश का निर्माण ठेठ नीचे से करना चाहते हैं या अपनी सारी योजनाएं समाज पर केवल ऊपर से लादना और थोपना चाहते हैं। यदि हम लोकतन्त्र को बचाना चाहते हैं

तो हमें उसे अधिक-से-अधिक विकेन्द्रित करके छोटे-छोटे क्षेत्रों में स्वाव लम्बी बनाना होगा। केवल दो बातों का ध्यान रहे—राष्ट्र की सुरक्षा में आंच न आवे और सामाजिक जीवन असम्भव न हो जाय। लोकतंत्री समाज का आधारभूत सिद्धान्त यही है कि उसमें व्यक्ति और समाज दोनों का शारीरिक बौद्धिक भावनात्मक और आध्यात्मिक विकास पूरी-पूरी तरह हो। समाज की छोटी-छोटी इकाइयों के हाथों में सत्ता सौंपी जायगी—भले ही आप यह कसर करें—तभी उनमें नागरिक जिम्मेदारी की भावना का विकास होगा। जबतक आर्थिक और राजनैतिक सत्ता किसीके हाथ में नहीं होगी नागरिक जिम्मेदारी का विकास वहां हो ही नहीं सकता।

यह सच है कि कर्तव्यों का स्थान पहला है। कर्तव्यों के बगैर अधिकार नहीं दिये जाने चाहिए, परन्तु इसके साथ यह भी सत्य है कि जबतक कुछ अधिकार नहीं होंगे कर्तव्य की भावना का उदय ही नहीं होगा। अंग्रेज हमसे सदा यही कहा करते थे कि हम अभी आजादी पाने के योग्य नहीं हैं। परन्तु हमने इसके जवाब में उनसे यही कहा कि "सुराज्य भी स्वराज्य की बराबरी नहीं कर सकता। हमें भूल करने की भी आजादी होनी चाहिए। इसके बगैर कोई स्थायी प्रगति कर ही नहीं सकता। आखिर विश्वास करने से ही विश्वास बढ़ता है। यदि हम गांवों का विश्वास नहीं करेंगे तो वे भी हमारा विश्वास नहीं करेंगे और गोरों की भांति काले आद मियों का बोझ ढोने के ठेकेदार होने का दावा करनेवाले हम होते कौन हैं? इस प्राचीन भूमि में रहनेवाले करोड़ों निवासियों में स्वराज्य का अर्थात् अपना शासन-प्रबन्ध खुद कर लेने की शक्ति धीरे-धीरे पैदा करनी है तो गांधीजी के अप्रतिम नेतृत्व में हमने जो आर्थिक और राजनैतिक सत्ता प्राप्त की है उसे जनता में फैलाने के सिवा इसका दूसरा कोई उपाय ही नहीं है।

गांधीजी की यह इच्छा कदापि नहीं थी कि भारतीय संघ-राज्य में गांव एक-दूसरे से बिल्कुल अलग पड़े रहें और आपस में कोई सम्बन्ध न हो। यह न तो सम्भव है और न इष्टकर ही है। महाभारत कौटिल्य के अर्थशास्त्र मनुस्मृति महाभारत और शुक्रनीतिसार में जिन छोटे-छोटे ग्रामीण प्रजा तन्त्रों का उल्लेख हम पाते हैं, वे एक राष्ट्रीय संघ-राज्य में परस्पर बड़ी

अच्छी तरह समझ ले। गांधीजी भी चाहते हैं कि गांवों की पंचायतें तहसील में तहसीलें जिलों में जिले प्रान्तों में और प्रान्तों की पंचायतें एक राष्ट्रीय संघ के रूप में सम्बद्ध हों और उनकी एक संसद हो। परन्तु ऊपर की पंचायतें सलाह देने और परस्पर समन्वय करने का काम करेंगी। उनकी कोई सत्ता नहीं होगी।

इसी प्रकार यह कल्पना भी कर लेना गलत है कि गांधीजी के विचारों के अनुसार सोचनेवाले लोग बड़े-बड़े उद्योगों और कारखानों को हटाकर उनके स्थान पर केवल ग्रामोद्योग ही चाहते हैं। गांधीजी के विचारों का मर्म यह है कि हमारा जीवन सादा हो और विचार उच्च हों और इस आधार पर नवीन समाज की रचना की जाय।

गांधीवादी योजना में समाज का केन्द्र-बिन्दु किसान होगा। समाज में सम्मान और गौरव का पात्र वह होगा। गांवों में ही छोटे-छोटे गृहोद्योग और कारखाने भी होंगे। इनमें काम करने के लिए किसीको अपने खेतों को छोड़कर दूर नहीं जाना होगा। किसान एक ऐसी नई आर्थिक सामाजिक तथा राजनैतिक व्यवस्था का प्रतिनिधि और केन्द्र होगा,जो अहिंसा सच्चे न्याय और लोकतन्त्र पर आधारित होगी। बम्बईवाली योजना इससे एकदम भिन्न है। उसके केन्द्र-स्थान में हैं पश्चिमी ढंग के बड़े-बड़े कारखाने और मिलें और खेती ग्रामोद्योग आदि को तसवीर के कोनों में कहीं स्थान दे दिया गया है। इस प्रकार ये दोनों योजनाएं बुनियादी रूप में एक-दूसरे से भिन्न हैं। यह अन्तर मामूली नहीं है।

बुनियादी सिद्धान्तों का पुनरुच्चारण

हमारे बुजुर्गोंवाले इस नये युग को ध्यान में रखते हुए केवल उत्पादन के कुछ उपकरणों और औजारों में हेरफेर करने का नाम गांधीवादी अर्थ व्यवस्था नहीं है। गांधीजी खादी और ग्रामोद्योगों को स्वीकार करने के लिए जो कहते हैं उसका हेतु बड़ा गहरा है। वे एकदम एक भिन्न सभ्यता और संस्कृति की ओर हमें ले जाना चाहते हैं जिसके मूल्य बिलकुल दूसरे प्रकार के होंगे।

इस नवीन सभ्यता और संस्कृति के आधार-भूत सिद्धान्त क्या-क्या हैं,

इसका वर्णन मैंने पहले काफ़ी विस्तार के साथ कर दिया गया है। यहां संक्षेप में उनका विवेचन आवश्यक है।

'सादा जीवन और उच्च विचार'

मेरी बनाई *'गांधीवादी योजना'* की पाण्डुलिपि को जब *गांधीजी* पढ़ चुके तब उसके अन्त में उन्होंने अपने हाथ से लिख दिया 'सादा जीवन और उच्च विचार'। इस प्रकार गांधीजी के विचारों का सार-सर्वस्व यह आदर्श है। इसलिए हमारे समाज का और अर्थ-सम्बन्धी प्रयत्नों तथा हलचलों का आदर्श गांधीजी के विचारों के अनुसार यह कदापि नहीं हो सकता कि अपनी जरूरतों और सुख-सुविधा के साधनों को हम लगातार बढ़ाते ही रहें। यद्यपि वह चाहते हैं कि एक निश्चित सीमा में तो ये साधन प्रत्येक मनुष्य को अवश्य ही मिलें। समाज की रचना इस प्रकार हो कि उसमें मनुष्य को अपने व्यक्तित्व और चरित्र का सम्पूर्ण विकास करने की स्वतन्त्रता और अवसर मिलता रहे। भारतीय दर्शनों ने कहा है—'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य' —अर्थात् धन से मनुष्य कभी तृप्त नहीं होता। यही बात संसार के दूसरे धर्म और तत्त्वज्ञान भी कहते हैं। परन्तु पश्चिम के विचारकों को और पश्चिम के अर्थशास्त्र के अध्ययन में रंगे भारतीय विद्वानों को यह एक कोरा अव्यावहारिक सिद्धान्त-मात्र प्रतीत होता है। उनकी राय है कि यह बुद्धि और विज्ञान की कसौटी के सामने नहीं टिक सकता। हमारे देश के उद्योगपतियों और उत्पादकों के संगठन (ऑल इंडिया मैन्यूफैक्चरर्स ऑरगनाइजेशन) का एक प्रतिनिधि-मण्डल संसार के उद्योग-प्रधान देशों की यात्रा पर गया था। उसने कहा है कि आज संसार में वे ही देश सबसे आगे और समृद्ध हैं जिन्होंने अपने उद्योगों का खूब यान्त्रिक विकास किया है। अमरीका ने उन्हें सबसे अधिक प्रभावित किया है। वे लिखते हैं— "औद्योगिक विकास के साथ-साथ अमरीका की जनता का रहन-सहन लगातार ऊपर उठता जा रहा है। पिछली पुश्त में जो चीजें विलास की वस्तुएं मानी जाती थीं वे अगली पुश्त के लिए अनिवार्य आवश्यकताएं बन गई।"[1] प्रतिनिधियों ने इस बात का उल्लेख बड़े सन्तोष के साथ किया

[1] रेपिड इण्डस्ट्रियलाइजेशन ऑफ इण्डिया' पृ० ८७

है। यह चाहते हुए उन्हें भीतर से शायद ईर्ष्या भी हो रही होगी परन्तु गांधीजी नहीं चाहते कि भारत अपने यहाँ इस प्रकार का भौतिक विकास करे।

जैसा कि पण्डित नेहरू ने कहा है—"गांधीजी नहीं पसन्द करते कि हम अपने नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को छोड़कर अपने जीवन के स्तर को और विकास की सामग्रियों को इस प्रकार लगातार बढ़ाते ही जायं।"[1] इसीलिए तो बड़े पैमाने पर उत्पादन करनेवाले बड़े-बड़े कारखानों की वह वृद्धि नहीं चाहते फिर वे पूंजीवादी व्यवस्था में हों या साम्यवादी व्यवस्था में। वह लिखते हैं

"मैं मानता हूं कि स्वतन्त्र भारत मुसीबतों में फंसे हुए इस संसार के प्रति अपना कर्तव्य एक ही प्रकार से अदा कर सकता है। वह इस तरह कि वह अपना जीवन सादा और उच्च बनाये किसीसे झगड़ा न करे, शान्ति से रहे और अपने झोपड़ों के जीवन को ही विकसित करे। धनवान की पूजा मनुष्य को वेगवान यन्त्रों का गुलाम बना देती है। फिर दिमाग में उच्च विचार आ ही नहीं सकते। जीवन को उच्च बनाने से ही उसमें कुछ शोभा और सौन्दर्य आ सकता है।

संक्षेप में कहें तो गांधीजी केवल रहन-सहन को ही नहीं बल्कि समस्त जीवन को ऊंचा उठाना चाहते हैं। एक मनुष्य के पास अपार सम्पत्ति है परन्तु वह बुद्धि-शून्य है और आत्मा को जानता ही नहीं तो उनके राम-राज्य में उसे कोई नहीं पूछेगा क्योंकि वह कभी सलाह नहीं देंगे कि तीनों लोकों के राज्य के लिए भी कोई अपनी आत्मा को खो दे। प्राध्यापक कुमारप्पा तो यह भी पसन्द नहीं करते थे कि किसी जीवन-स्तर को ऊंचा और किसीको नीचा कहा जाय। भौतिक साधनों पर आधारित जीवन के लिए ऊंचा और नीचा नहीं बल्कि 'सादा' और 'जटिल' शब्दों का प्रयोग अधिक उपयुक्त होगा। 'ऊंचा' और 'नीचा' शब्दों का प्रयोग जीवन के लिए करना उचित नहीं होगा।

पश्चिम के अर्थशास्त्र की दृष्टि से इस प्रश्न को देखें तो भी एक सीमा से अधिक धन को एकत्र करना धन के उपयोगिता-ह्रास-नियम के (लॉ ऑफ

[1] डिस्कवरी ऑफ इण्डिया प्रथम संस्करण पृ० ५८२
[2] 'हरिजन' १ सितम्बर १९४६

डिमिनिशिंग यूटिलिटी) के अनुसार धन का दुरुपयोग और हानिकर होगा। एक ही देश में और अन्य देशों के बीच भी भार्यों का असमान होना अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों (लॉ ऑव ईक्विमार्जिनल यूटिलिटी) के अनुसार अनिष्ट और अर्थवाधिक है। इसी प्रकार समाज के हित में भी यह उचित नहीं कि लोग अपनी जरूरतों और विलास-सामग्री को लगातार बढ़ाते रहें और उसपर कोई नियन्त्रण न करें। इसलिए शुद्ध अर्थशास्त्र की दृष्टि से भी हमारा आदर्श यही होना चाहिए कि "जबतक सबकी जरूरतों की पूर्ति नहीं हो जाती कोई विलास की सामग्री की इच्छा न करे। यह नियम केवल एक देश या राष्ट्र के लिए नहीं बल्कि संसार के समस्त राष्ट्रों के लिए लागू होना चाहिए। यदि हम इस नियम को स्वीकार कर लें तो गांधीजी का सादे जीवन का आदर्श बहुत आवश्यक और उपयोगी सिद्ध होगा।

गांधीजी की इच्छा यह कदापि नहीं कि भारत या दूसरा कोई भी देश दरिद्रता या अभाव का जीवन बिताये। अपने देश के भूखे पेट और नंगे निवासियों के प्रति हार्दिक समवेदना प्रकट करने के लिए वह खुद जरूर एक धना पहनकर रहते हैं परन्तु सारा देश हमेशा धना पहनकर रहे और अपने जीवन को इसी प्रकार काट ले यह उनकी अपेक्षा नहीं है। वह तो चाहते हैं कि हर मनुष्य को संतुलित और पोषक भोजन शरीर की रक्षा के लिए पर्याप्त कपड़े और रहने के लिए स्वच्छ, स्वास्थ्यप्रद और हवादार मकान अवश्य मिलें। एक दिन हम चर्चा कर रहे थे कि उनकी कल्पना के स्वराज्य में मनुष्य का न्यूनतम जीवन-स्तर कैसा होगा। तब उन्होंने कहा था 'दूसरी योजनावालों ने इस बारे में जो कल्पना की है उससे मैं तिल भर भी कम नहीं चाहूंगा परन्तु वह नहीं मानते कि ऐसा जीवन-स्तर हमारे संयोजन का आदर्श हो। मनुष्य के पूर्ण विकास के लिए वह एक साधन-मात्र माना जायेगा। सादगी का अर्थ आलस्य दरिद्रता और भोंडापन नहीं। उसका अर्थ तो है अमुक प्रकार के विचार और जीवन की एक दृष्टि। अपने कल्पनागत भारत का गांव कैसा होगा इसका चित्र खींचते हुए वह लिखते हैं

"जब हमारे गांव पूरी तरह से विकसित हो जायंगे तब उनमें कला

कारों और कुशल कारीगरों की कमी नहीं होगी। वहां कवि होंगे, कलाकार होंगे, स्थापत्य-कला-विशारद होंगे, भाषा-शास्त्री होंगे और संशोधक भी होंगे। मतलब यह कि जीवन के लिए जितनी भी चीजों की जरूरत होती है, उनमें से एक की भी कमी वहां नहीं होगी। आज के गांव तो निरे घूरे के ढेर हैं। भविष्य के गांव तो नन्दन-वन-से होंगे और उनके निवासी इतने बुद्धिमान होंगे कि न कोई उन्हें धोखा दे सकेगा, न उनका शोषण कर सकेगा।

गांधीजी की सारणी का वैचारिक आधार अहिंसा और रोजी के लिए किये गए शरीर-श्रम की प्रतिष्ठा है। रोजी के लिए किये जानेवाले शरीर श्रम को गांधीजी एक प्रकार से भगवान की भक्ति मानते हैं। उससे मनुष्य की प्रतिष्ठा घटती नहीं बल्कि बढ़ती है। मनोविकास के लिए भी हाथों से काम करना बड़ा जरूरी है। इस सिद्धान्त को अब बहुत-से शिक्षा-शास्त्री और मानस-शास्त्री भी मानने लगे हैं। गांधीजी की नयी-शिक्षा-योजना इसीपर आधारित है। आधुनिक अर्थशास्त्र की भाषा में कहें तो अहिंसा का अर्थ है रक्तहीन अथवा प्राध्यापक हेरल्ड लास्की के शब्दों में—लोक-सम्मत क्रान्ति के द्वारा शोषण-हीन सुनियोजित समाजवाद की स्थापना। इसमें बीच में मुनाफा कमानेवाले या 'बिचौलिये' नहीं होंगे। गांधीजी कहते हैं

"समाजवाद स्फटिक की तरह शुद्ध है। इसलिए उसकी प्राप्ति के साधन भी उतने ही शुद्ध होने चाहिए। अशुद्ध साधनों से प्राप्त साध्य भी अशुद्ध हो जाता है। इसलिए राजा का सिरच्छेद करने से राजा और किसान बराबर नहीं हो सकते। इसी प्रकार हिंसा द्वारा मालिकों और मजदूरों के भेद को नहीं मिटाया जा सकता। इसलिए केवल शुद्ध हृदय समाजवादी पुरुष ही भारत में और संसार में समाजवाद की स्थापना कर सकेंगे।

गांधीजी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को भी लोगों ने बहुत गलत समझा है, परन्तु मैं यहां उसकी चर्चा नहीं करना चाहता। इस विषय में मैं सिर्फ इतना ही कहूंगा कि समाज के आर्थिक जीवन को बनाने में राज्य का क्या

हरिजन, १३ जुलाई १९४०

कर्तव्य है इस विषय में संसार के अर्थ-शास्त्री किस आधुनिकतम और प्रगतिशील नतीजे पर पहुंचे हैं उससे यह असगत नही है। जिज्ञासु पाठकों को मेरी सलाह है कि इस विषय मे वे प्राध्यापक बाटवला की लिखी 'गाधीज्म रिकन्सीडर्ड' पुस्तक पढ़ जायं। उसमे उन्हे अपनी शंकाओं का उत्तर मिल जायगा।

पूरा रोजगार

यन्त्रों की सहायता से बड़े पैमाने पर माल पैदा करनेवाले बड़े-बड़े कारखानो के गाधीजी विरुद्ध हैं उसका एक कारण यह भी है कि इससे बेकारी बढ़ती है। भारत जैसे देश मे यह कारण इसलिए और भी महत्वपूर्ण बन जाता है कि यहांपर पूंजी कम और मनुष्य बहुत अधिक हैं। अमरीका की बात दूसरी है। वहा आबादी बहुत कम और प्रदेश विस्तृत है। वहां यन्त्रीकरण के बगैर शायद उनका काम चल ही नही सकता। इसलिए भारत को पश्चिमी पद्धति की आखें मूंदकर नकल नही करनी चाहिए। हर देश की परिस्थिति अलग-अलग होती है। कोई चीज एक जगह लाभदायक हो सकती है परन्तु दूसरी जगह भी वह उसी प्रकार लाभदायक होगी ऐसी बात नही है।

इसलिए जब भारत में संयोजन का प्रश्न उठता है तो गांधीजी हमेशा यहा की आबादी को पूरा काम देने की बात बड़े जोर के साथ रखते हैं और वहांतक इस नीति का सवाल है बहुत बड़े-बड़े लोगों ने इसको अच्छा बताया है। पश्चिम के अर्थशास्त्री भी कहते हैं कि आर्थिक और नैतिक दृष्टि से आप समाज का भला चाहते हैं तो प्रत्येक आदमी को पूरा काम अवश्य मिलना चाहिए। सर विलियम बीवरिज कहते हैं कि 'बेकारी से शरीर की तो हानि होती ही है, परन्तु सबसे बड़ी हानि होती है नैतिक। बेकारी दरिद्रता को बढ़ाती है परन्तु इससे भी अधिक वह समाज में भय और द्वेष उत्पन्न करती है।'[1]

नाजी जर्मनी और सोवियत रूस ने पूरी योजना बनाकर फौजी अनुशासन की मदद से बेकारी के प्रश्न को हल करने का अधिनायकवादी प्रयत्न किया। पश्चिम के लोकतंत्रों ने इस हल को पसन्द नही किया। 'व्यक्तिगत

[1] 'फुल एम्प्लायमेंट इन ए फ्री सोसायटी' पृ० १५

स्वतंत्रता की रक्षा के लिए यह बहुत जरूरी है कि स्वतंत्र समाज के नाग-रिक खानगी व्यापारियों के यहां सहकारी संस्थाओं में और शासन के स्थानीय राज्य के या संघ के संस्थानों में जहां चाहें काम करने के लिए आज़ाद रहें।[1] ब्रिटेन और अमरीका के अर्थशास्त्रियों ने लोकतंत्री संसार में लोगों को पूरा काम देने के कई उपाय और मार्ग सुझाये हैं। इनमें से कुछ ये हैं—

(अ) लोक-निर्माण-कार्य इतने चालू किये जायं कि सब लोगों को जरूरी काम मिल जाय।

(आ) खानगी कारखानेदारों को आर्थिक सहायता देकर अधिक लोगों को काम देने तथा अधिक माल उत्पन्न करने के लिए प्रोत्साहित किया जाय।

(इ) पेन्शन परिवार को सहायता आदि के रूप में अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए लोगों की मदद की जाय।

(ई) निर्यात को बढ़ाया जाय और आयात को घटाया जाय।

(उ) आबादी को कहीं दूसरे देशों में जाकर बसने के लिए प्रोत्साहित किया जाय।

(ऊ) आय का पुनर्वितरण हो अर्थात् ऊंची आयवालों की आय घटा-कर छोटी आयवालों की आय बढ़ाई जाय।

ऊपर जो उपाय सुझाये गए हैं, इनमें और भी जोड़े जा सकते हैं। विश्लेषण करके उनकी यहां चर्चा करना जरूरी नहीं है, परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इतने औद्योगीकरण के बावजूद पश्चिम के प्रजातंत्री देश काम करने लायक अपने बेकार नागरिकों को पूरा काम नहीं दे पाते हैं और उनकी 'पूरे काम' की परिभाषा भी बहुत मुश्किल नहीं है। बीवरिज कहते हैं, "पूरे काम का मतलब बेकारी का निर्मूलन नहीं है, अर्थात् यह नहीं है कि देश के प्रत्येक काम करने लायक और काम की मांग करनेवाले हर पुरुष और स्त्री को प्रतिदिन काम करने के समय में उत्पादक काम मिलना ही चाहिए। वह मान लेते हैं कि कभी-कभी अल्पावकाश में अधूरे तौर पर और विशेष प्रकार के मौसमी काम करनेवाले लोगों में थोड़ी-बहुत

[1] 'इकनॉमिक पॉलिसी एण्ड फुल एम्प्लायमेंट'—एल्विन एच. हैन्सेन, पृ. १७
दी इकनॉमिक्स ऑफ़ फुल एम्प्लायमेंट (ऑक्सफ़ोर्ड स्टडीज़), पृ. ११

बेकारी रहती ही है। इसका नाम बेकारी नहीं। उदाहरणार्थ संयुक्त राज्य अमरीका में बेकार मजदूरों की कुल संख्या में अर्थात् लगभग तीस लाख बेकारों में इस प्रकार के बेकार कोई चार या पांच प्रतिशत हैं।

ध्यान देने की बात है कि दो महायुद्धों के बीच के काल में स्वयं ब्रिटेन में दस से लेकर बाईस प्रतिशत तक बेकारी रही है। सन् १९३१–३३ में बेकारों की औसत संख्या २१ ३ प्रतिशत थी। १९३१–३८ की अवधि साधारणतः अच्छी मानी गई है परन्तु इसमें भी बेकारों की संख्या १३ १ प्रतिशत रही है। सन् १९३९ में दूसरा महायुद्ध छिड़ा तब भी यह १ ३ प्रतिशत थी। संयुक्त राज्य में सन् १९३१–३९ में बेकारों की संख्या औसतन ११ ८ अर्थात् कुल मजदूरों की संख्या का २३ ८ प्रतिशत थी। सन् १९३६ ३९ की अवधि में बेकारों की संख्या ८ ६ अर्थात् संपूर्ण मजदूर-संख्या का १९ ३ प्रतिशत थी। सन् १९४ में भी ७ ५ अर्थात् १३ ८ प्रतिशत मनुष्य संयुक्त राज्य में बेकार थे अर्थात् जिन वर्षों में अत्यधिक बेकारी थी उसके मुकाबले में १२ लाख अधिक आदमियों को काम मिल गया था। परन्तु इस बीच दूसरी ओर प्रतिवर्ष ६ लाख के हिसाब से मजदूरों की संख्या बढ़ भी गई थी।

हमें यह भी याद रखना चाहिए कि पश्चिम के राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की कीमत पर अपने देश के लोगों को अधिक-से-अधिक (पूरा नहीं) काम देने का प्रयास कर रहे हैं क्योंकि पूरा काम देने की नीति का अर्थ होता है अधिक-से-अधिक उत्पादन अधिक निर्यात विदेशी बाजारों और कच्चे माल के लिए झगड़े। इसका परिणाम राजनैतिक संघर्ष और सैनिक हस्तक्षेप के सिवा क्या होगा?

अब पूरे काम के प्रश्न के सम्बन्ध में हम भारत की स्थिति का अवलोकन करें। सन् १९३१ में ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों की कुल आबादी ३१ २८ करोड़ थी। इसका बन्टवारा विभाजन इस प्रकार था

---

[1]इकनॉमिक एनॅलिसिस ऐण्ड कुछ समस्याएँ, पृ १११

धन्धा	मजदूर (करोड़ों में)	सहायक उद्योग	कुल आबादी का प्रतिशत
खेती	१ १२९	७४१	६५ ६
खानें	१४	५	२४
उद्योग	१ ५१५	२१५	१ १
शासन तथा कला कारीगरी	४१५	९७	२ ८९
घरेलू सेवा	१ ९	१७७	७ ६१
अन्य	६११	६	६ २१
कुल	१५ ११२	१ ४ ८	१

दुर्भाग्य की बात है कि सन् १९४१ की जनसंख्या के अंकों में धन्धेवार वर्गीकरण है ही नहीं। परन्तु सन् १९३१ की संख्याओं का आधार मानकर यदि हम उसी हिसाब से वर्गीकरण करें तो मोटे रूप में ये अंक होंगे

धन्धा	मजदूर (करोड़ों में)	सहायक उद्योग	प्रतिशत
खेती और खानें	११४	६	६६
उद्योग	१ १	२	१
व्यापार-परिवहन	१ १	२	७
शासन-कला	४	१	१
घरेलू नौकरी	१ २	२	
अन्य	१ १	१	६
कुल	१६	१ ७	१

किसी भी देश में काम करनेवाले और न करनेवाले लोगों का अनुपात साधारणतः २ १ होना चाहिए। काम करनेवाले लोगों में अठारह वर्ष से ऊपर और साठ वर्ष के अन्दर के मनुष्यों का समावेश किया जाता है। बीमार और पंगु इसमें अपवाद हैं। परन्तु भारत में मनुष्य की औसत उम्र

के. टी. शाह की 'प्रिंसिपल्स ऑफ प्लैनिंग' पृ० ७५

पश्चिम के देशों की अपेक्षा बहुत कम है। इसलिए यहां काम करने और न करनेवालों का परिमाण ५२ गिनना अधिक उचित होगा। इस हिसाब से सन् १९४१ का ३८.९ करोड़ की आबादी में से हमारे देश में काम करनेवालों की संख्या मोटे तौर पर १९.५ करोड़ मानी जानी चाहिए। परन्तु ऊपर जो संख्याएं बताई गई हैं उनमें तो काम करने वालों की संख्या १९.८ है। इसका मतलब यह होता है कि २.७ करोड़ मनुष्यों के पास काफी काम नहीं था। सहायक उद्योग करनेवाले १.७ करोड़ में से यदि हम आधी संख्या को भी इनमें जोड़ लें फिर भी दो करोड़ बेकार मनुष्य बच जाते हैं। इसके अलावा खेती में लगे हुए ११.४ किसान वर्ष में चार महीने बेकार रहते हैं सो अलग।

यदि हम अपने देश का आर्थिक संयोजन वैज्ञानिक ढंग से करना चाहते हैं तो जमीन पर रोजी कमानेवालों का भी हमें विचार अवश्य करना होगा। विभाजन के पहले देश की खेती में काम आनेवाली जमीन का कुल क्षेत्रफल २७.८ करोड़ एकड़ था। परती पड़ी हुई कृषि-योग्य जमीन ११.९ करोड़ एकड़ थी और बंजर ९ करोड़ एकड़। शेष जमीन या तो काश्त के योग्य नहीं है या उसपर जंगल खड़े हैं। साधारणतया यह हिसाब लगाया गया है कि पांच मनुष्यों का परिवार यदि बीस एकड़ जमीन पर मेहनत करे तो अच्छी-से-अच्छी फसल हो सकती है। इस हिसाब से २७.८ एकड़ जमीन केवल सात करोड़ आदमियों का पेट भर सकती है, अर्थात् केवल १.२ करोड़ मनुष्यों को काम दे सकती है। खेती की इस जमीन में परती की और बंजर जमीन का क्षेत्रफल भी यदि हम जोड़ देते हैं तो कुल लगभग ४२.४ करोड़ एकड़ होता है जो ७.२ करोड़ मनुष्यों को अर्थात् काम करने योग्य मनुष्यों के केवल अड़तीस प्रतिशत को काम दे सकता है। इस हिसाब से जमीन पर काम करनेवाले ११.४ करोड़ आदमियों में से लगभग १.६ करोड़ आदमियों को जमीन से हटाकर रोजी का कोई दूसरा जरिया दिया जाना चाहिए। फिर हमें यह भी याद रखना चाहिए कि हमारी आबादी प्रति वर्ष पचास लाख के हिसाब से बढ़ रही है। इन लोगों के लिए भी हमें काम तलाश करना होगा।

काम करने योग्य लोगों के लिए रोजी की योजना बनाने से पहले

भारत के विभिन्न पेशों में अनुपात का आदर्श क्या होना चाहिए इसपर भी विचार कर लेना उचित होगा। इस सम्बन्ध में पश्चिम के कुछ देशों का अनुपात देख लेना लाभदायक है।

		विविध उद्योगों में (काम करनेवालों का) प्रतिशत		
देश	वर्ष	उद्योग खानें परिवहन	खेती बाग मछली-उद्योग	अन्य धंधे
ग्रेट ब्रिटेन	१९३१	५१	६	४३
बेल्जियम	१९३०	५१	१७	३
हॉलैण्ड	१९३०	४८	२०	३२
जर्मनी	१९३३	४७	२९	२४
फ्रान्स	१९३१	३९	३६	२५
डेनमार्क	१९३०	३१	३५	३२
हंगरी	१९३०	२०	५१	२
पोलैंड	१९३१	१९	६५	१६
यूगोस्लाविया	१९३१	११	७९	
सोवियत रूस	१९३७	४६	१	३६

इन अंकों के आधार पर यदि हम विचार करें तो हमारे देश के विविध पेशों में नीचे लिखा अनुपात किसी प्रकार उचित होगा। यदि हम देश की वर्तमान आबादी चालीस करोड़ मान लें तो काम करने योग्य स्त्री-पुरुषों की संख्या बीस करोड़ होगी।

---

१ 'प्लैनिंग मैन्स गाइड टु पोस्टवार वर्ल्ड' पृ. ९

धन्धा	जिन्हें रोजगार देना है (करोड़ों में)	काम करनेवाली आबादी का प्रतिशत
खेती	८	४
उद्योग	६	३
व्यापार, परिवहन	४	२
शासन	१	५
घरेलू नौकरी	२	१
अन्य	१	५
कुल	२	१

खेती में आठ करोड़ स्त्री-पुरुषों को काम दिया जा सकता है, बशर्ते कि सरकार बंजर और परती की जमीनों को खेती के लायक बना दे और आबपाशी करके सहकारिता की पद्धति से जमीन से अधिक फसलें लेने में लोगों की मदद करे। स्वतंत्र भारत में व्यापार और शासन भी अधिक लोगों को रोजी दे सकेंगे। परन्तु उद्योगों में क्या होगा ?

सन् १९३१ की जनसंख्या के अंकों को देखने से पता चलता है कि उद्योगों में १.५ मनुष्य काम करते थे। इनमें से बड़े सुसंगठित उद्योगों में केवल पन्द्रह लाख लोग लगे हुए थे। यह संख्या सन् १९३८ में बीस हो गई। इसपर से हम अनुमान कर सकते हैं कि इन बड़े उद्योगों में इस समय पच्चीस लाख मनुष्य काम कर रहे होंगे। बम्बई योजनावालों का अनुमान है कि भारत में उद्योगों की वृद्धि पांच गुनी हो जायगी। परन्तु यदि छोटे उद्योगों को पूरा मौका दिया जाय तो बड़े उद्योग पांच गुने नहीं बढ़ पायेंगे। फिर भी हम मान लें कि अगले दस-पन्द्रह वर्षों में बड़े उद्योगों में एक करोड़ आदमियों को काम मिल जायगा। फिर भी उद्योगों में काम किये जानेवाले छः करोड़ आदमियों में से पांच करोड़ मनुष्यों को हमें सारे देश में फैले हुए छोटे और गृहोद्योगों में काम देना होगा।

नीचे दिये अंकों से प्रकट होगा कि बड़े केन्द्रित उद्योग कितने कम मनुष्यों को काम दे सकते हैं

उद्योगों में काम करनेवालों की संख्या (करोड़ों में)	१९११	१९२१	१९३१	१९४१
	१ ७५	१ ५७	१ ५३	१ ५१
काम करने लायक जनसंख्या का प्रतिशत	११	११	१ ५	९

सन् १९११ से लेकर १९३९ तक के काल में भारत में बड़े-बड़े कारखाने तेजी से बढ़े हैं। कपड़े का उत्पादन चौगुना हो गया। कपड़े की मिलों की संख्या १९२ में २५१ थी परन्तु १९४२ में वह बढ़कर ४१७ हो गई। तीस वर्षों में बड़े कारखानों की संख्या २७ से बढ़कर ६३ तक पहुंच गई। फिर भी इनमें काम करनेवाले मजदूरों की संख्या ग्यारह प्रतिशत से घटकर नौ प्रतिशत पर आ गई। सन् १९४५ में कपड़े की सारी मिलों में मिलाकर मजदूरों की कुल संख्या ५, १ ७७८ थी जब कि इन्होंने ५ करोड़ गज कपड़ा तैयार किया। इसके विपरीत इसी वर्ष में हाथ-करघों पर १९ करोड़ गज कपड़ा बना जो कि मिल के कपड़े का केवल तीस प्रतिशत होता है। परन्तु इस उद्योग ने एक करोड़ आदमियों को रोजी दी जिनमें चौबीस लाख जुलाहे थे। अखिल भारत चरखा संघ में कुल पूंजी ७ लाख रुपये लगी है परन्तु उसने २५४ ९९८ कत्तिनों को और १४ ४७ जुलाहों को सन् १९४ में रोजी दी और मजदूरी के रूप में २ ९ १७ रुपये बांटे। भारत की मिलों में पचास करोड़ की परिवर्त्त (पेड अप) पूंजी और सौ करोड़ की स्थिर (फिक्स्ड) पूंजी लगी है, परन्तु ये हमारी काम करने योग्य आबादी में से केवल पांच लाख मनुष्यों को काम दे सकती हैं।

ऊपर बताये तथ्यों और आंकड़ों से साफ प्रकट होता है कि आधुनिकतम नये-से-नये आविष्कारों का उपयोग करके ढेरों उत्पादन करनेवाले हमारे बड़े कारखाने और मिल अधिक पूंजी लगाने पर भी कम मनुष्यों को काम दे सकते हैं। दूसरी तरफ सीधे-सादे साधनों से काम लेनेवाले गृहोद्योग और छोटे कारखाने कम पूंजी लगाकर भी अधिक मनुष्यों को काम दे सकते

[1]दी इकॉनॉमिक रिव्यू, १९४७, पृ ७७

है। अत हमारे देश के लिए योजना बनानेवालों के सामने प्रश्न यह है कि अधिक-से अधिक लोगों को पूरा काम देकर अधिक-से-अधिक उत्पादन लेने के लिए किन साधनों का उपयोग करें जिससे माल के बनाने में समय भी अधिक न लगे और पूंजी की भी बचत हो। इस सम्बन्ध में २३ जुलाई १९४९ के 'ईस्टर्न इकनॉमिस्ट' के पृष्ठ ३४ पर दिये नीचे लिखे आंकड़ों पर जरा निगाह डाल लीजिये।

उत्पादन का ढंग	प्रति मजदूर पर लगी पूंजी	प्रति मजदूर उत्पादन	पूंजी की प्रति इकाई पर मजदूरों की औसत
१ आधुनिक मिल बड़ा कारखाना	१२	९९	१
२ छोटे उद्योगों में शक्ति-चालित करघा	१	२	३
३ गृहोद्योग फटका करघा	१	८	१५
४ गृहोद्योग हाथ करघा	११	४५	२५

इसलिए हमारी आबादी को यदि पूरा काम देना है तो हमें बहुत बड़े पैमाने पर गृहोद्योगों का ही संगठन करना होगा। इसके सिवा और कोई चारा नहीं है। भारत में पूंजी की भी कमी है। इसलिए छोटे पैमाने पर उत्पादन करनेवाले उद्योग ही आनेवाले कई वर्षों तक हमारे देश के लिए अधिक लाभदायक सिद्ध होंगे। 'ईस्टर्न इकनॉमिस्ट' के उपर्युक्त लेख के लेखक ने जो नतीजे निकाले हैं, वे बहुत ही ध्यान देने योग्य हैं

"इससे स्पष्ट है कि भारत जैसे देश में जहां उत्पादन के साधनों में श्रम की अपेक्षा पूंजी की बहुत अधिक कमी है पूंजी का बहुत अधिक व्यापक

क्षेत्र में उपयोग करना है तो हमें उत्पादन के ऐसे तरीकों से ही काम लेना होगा जिसमें पूंजी की बचत हो और अधिक-से-अधिक मजदूरों को काम दिया जा सके। दूसरे शब्दों में कहें तो कम-से-कम पूंजी मांगनेवाले छोटे सादे औजारों का प्रयोग हमें करना होगा। रूस में मन्त्रों के पीछे दीवाने विदेशों को शुरू-शुरू में अभाव ही नहीं था कि उनके पास पूंजी कितनी थी। बहुत थोड़े समय में दरों से उत्पादन करने की उन्हें बड़ी जल्दी थी। अतः बहुत बड़े-बड़े और आधुनिकतम कारखाने खड़े कर दिये गए। इनमें से कितने ही इतने बड़े थे कि आठ-आठ, दस-दस वर्षों में भी पूरे नहीं बन सके। इससे जनता को नाहक बहुत ही तकलीफ हुई। इनके विपरीत यदि वे छोटे-छोटे कारखाने बनाते तो वे एक-एक, डेढ़-डेढ़ वर्ष में काम शुरू कर देते और लोगों को इतनी तकलीफ नहीं होती।

भारत के लिए योजनाएं बनानेवाले उपर्युक्त कथन पर विचार करें और समय रहते सचेत हो जायें।

कार्य-क्षमता कहां से आयेगी ?

खुशी की बात है कि बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण के हिमायती अब मानने लगे हैं कि गृहोद्योगों को पूरा-पूरा मौका दिये बगैर बेकारी की समस्या पूरी तरह से हल नहीं होगी परन्तु वह गृहोद्योगों के अलाभप्रद और धीमी गति का वे बड़ा मजाक उड़ाते हैं।

उत्पादन की क्षमता को गांधीजी भी कम महत्व नहीं देते। अगर पर काम देनेवाले औजारों में यदि कोई सुधार किया जा सकता हो तो उसका वे बड़ी खुशी से स्वागत करेंगे। बस उससे बेकारी नहीं बढ़नी चाहिए। पाठकों को याद होगा कि वर्षों पहले गांधीजी ने अधिक उत्पादन देनेवाले चर्खे पर एक लाख रुपये का इनाम घोषित किया था। उनकी शर्त केवल यही थी कि उसकी बनावट ऐसी हो कि जिसे गांव का कारीगर बना सके और गांव का साधारण निवासी भी उसे खरीद सके। परन्तु अब तो हमारा देश आजाद हो गया है। अब राज्य और केन्द्र-सरकारों का कर्तव्य है कि वे विज्ञान के भागों के लिए अधिक काम देनेवाले औजारों और यन्त्रों की खोज पर अधिक ध्यान दें। अबतक संयोजन-विभाग केवल बड़े कारखानेवालों की जरूरतों का ही ख्याल करते थे परन्तु अब स्वराज्य के आ जाने पर

उन्हें भी अपने दृष्टिकोण को बदल देना चाहिए। जो काम अभी तक अखिल भारत चरखा संघ और अखिल भारत ग्रामोद्योग संघ कर रहे थे उसे अब वे अपने हाथों में ले लें। अब तो वर्तमान इंजीनियरिंग कॉलिजों को भी चाहिए कि धनिक वर्गों के मतलब की अपेक्षा जनसाधारण की महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं को पूरा करने की तरफ अधिक ध्यान दें।

ग्रामोद्योगों में बिजली का उपयोग करने के खिलाफ भी गांधीजी नहीं हैं क्योंकि वह सब लोगों को काम दे और उन्हें बहुत दूर से लाई गई बिजली का मुहताज न रहना पड़े।

"यदि गांवों में घर-घर में बिजली पहुंच सकती है तो मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी अगर गांवों के निवासी अपने औजार उसकी मदद से चलायें। परन्तु ये बिजली-घर या तो सरकारी हों या गांवों के अपने हों जैसे कि चरा गाह उनके अपने होते हैं।

इस प्रकार जाहिर है कि ग्रामोद्योगों पर कम काम देने का दोष नहीं लगाया जाना चाहिए, क्योंकि यदि गांवों के कारीगरों को पुराने औजारों से काम चलाना पड़ता है तो इसका कारण था सरकार की और स्वार्थी व्यापारियों की उनके प्रति उपेक्षा। यदि उन्हें आधुनिक विज्ञान की मदद हो जायगी तो गांवों के औजार और छोटे यन्त्र भी अधिक-से-अधिक उत्पादन दे सकते हैं और सुन्दर-से-सुन्दर चीजें उनकी मदद से बनाई जा सकती हैं।

'कार्यक्षमता' की इस नई देवी के हमें अन्धभक्त नहीं बन जाना चाहिए। आखिर वह भी तो किसी साध्य का एक साधन-मात्र है। यदि उसके कारण एक निश्चित सीमा से अधिक मजदूर बेकार हो जाते हैं और समाज में संघर्ष पैदा होने के कारण कुछ कारीगरों के वर्ग-के-वर्ग बेकार हो जाते हैं तो इस कार्य-क्षमता को हमें नमस्कार कर देना चाहिए। इससे तो हमारे कम काम देनेवाले पुराने ढंग के औजार ही अच्छे। फिर हम आर्थिक कार्य-क्षमता (इकनॉमिक एफीशियन्सी) और यान्त्रिक कार्य-क्षमता के अन्तर को भी समझ लेना चाहिए। एक यन्त्र अधिक उत्पादन दे सकता है परन्तु आर्थिक दृष्टि से वह समाज के लिए लाभदायक नहीं भी हो सकता है। उदाहरणार्थ बड़े-बड़े यन्त्र बहुत थोड़े समय में ढेरों माल पैदा कर सकते हैं। उनमें आदमी भी कम लगते हैं, परन्तु सारे समाज के आर्थिक लाभ की

दृष्टि से उन्हें लाभदायक नहीं माना जा सकता। नीचे दिए मुद्दों से मेरा मतलब अधिक साफ हो जायगा

१ बड़े पैमाने का उत्पादन पूंजीपतियों और मजदूरों के बीच संघर्ष पैदा करता है जिसका परिणाम है हड़तालें और तालेबन्दी। छोटे उद्योगों में ये समस्याएं खड़ी नहीं होतीं क्योंकि उनमें उत्पादन के साधनों-उपकरणों के स्वामी स्वयं कारीगर होते हैं।

२ बड़े-बड़े उद्योगों के आसपास गन्दी मजदूर बस्तियां खड़ी हो जाती हैं जिनमें बहुत भीड़ रहती है। गन्दी आबादी में मनुष्य को अनेक रोग हो जाते हैं नैतिक पतन भी होता है। इस कारण इन मिलों में बननेवाला कपड़ा अन्त में समाज के लिए महंगा ही होता है क्योंकि यद्यपि वह कारोबार के कुछ माने बना देता है तथापि बम्बई की इन चालों में रहने वाले पुरुषों स्त्रियों और बच्चों के जीवन को सस्ता बना देता है।"[1]

३ बड़े-बड़े राक्षसी कारखाने स्थायी रूप से पूरा काम नहीं दे सकते। कारीगरों को बेकार बनाकर ये समाज के लिए अनेक नई समस्याएं खड़ी कर देते हैं जो गृहोद्योगों पर आधारित समाज-रचना में और अर्थ-व्यवस्था में नहीं होतीं।

४ एक ही जगह पर बहुत-से बड़े-बड़े उद्योगों को एकत्र कर देने से परिवहन-व्यवस्था पर बड़ा दबाव पड़ता है खास तौर पर युद्ध जैसे राष्ट्रीय संकट के समय यह विचार और भी अधिक महत्व धारण कर लेता है।

५ बड़े-बड़े भारी कारखानों में बहुत अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है। और भी कई अतिरिक्त खर्च बढ़ जाते हैं जिनकी छोटे उद्योगों में जरूरत नहीं रहती।

६ केन्द्रित उत्पादनवाले बड़े-बड़े कारखाने चाहे पूंजीपतियों के हों या राज्य के ये धनाढ्यों 'भाड़तियों' या 'मध्यजनों' की एक कतार-सी खड़ी कर देते हैं जो उपभोक्ताओं के सिर पर अन्त में एक बोझ ही बन जाते हैं।

७ बड़े कारखानों के बने माल को बेचने के लिए विदेशी बाजारों की खोज लगती अनिवार्य हो जाती है और फिर समय-समय पर युद्ध भी अवश्य ही आते हैं।

[1] [illegible]

८ बड़े-बड़े शहरों का इतने बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण शहरों और गांवों की अर्थ-व्यवस्था का संतुलन बिगाड़ देता है। इसके विपरीत गांवों में ही गृहोद्योग और छोटे-छोटे कारखानों की स्थापना से गांवों का जीवन अधिक व्यवस्थित और समृद्ध बनता है।

९ उत्पादन जब हर क्षेत्र में छोटे-छोटे कारखानों और गृहोद्योगों के रूप में बंट जाता है तो वितरण और उपभोग भी वहीं साथ-साथ होता रहता है। इसके विपरीत उत्पादन को एक ही जगह पर केन्द्रित करने से वितरण-सम्बन्धी अनेक उलझनें पैदा होती रहती हैं जो संतुलित और समानता-प्रधान लोकतन्त्री व्यवस्था की स्थापना में विघ्न रूप बन जाती हैं।

ग्रामोद्योगों की अपेक्षा ढेरों माल पैदा करनेवाले बड़े-बड़े कारखाने क्या सचमुच अधिक कार्यक्षम हैं इसके बारे में अपनी राय जाहिर करने से पहले इन सब बातों पर पूरी तरह विचार कर लेना चाहिए। प्राध्यापक इवान्स लिखते हैं— "कारीगर बेशक ही बड़े पैमाने पर उत्पादन नहीं कर सकते परन्तु उत्पादन के साधन उनके अपने होने के कारण उनपर तेजी-मन्दी का इतना असर नहीं पड़ता। फिर उत्पादन के साधनों पर उनका स्वामित्व होने के कारण वे उन सब बड़ी-बड़ी राजनैतिक आर्थिक और मानसिक आपत्तियों से बच जाते हैं जो केन्द्रित उत्पादन के साथ प्रायः अनिवार्य रूप से जुड़ी रहती हैं—उदाहरणार्थ मालिकों का छिन जाना मालिक की गुलामी और रोजी की अस्थिरता।"[१] इसके अलावा दूसरे परिणाम अर्थात् सामाजिक न्याय और राष्ट्र की सुरक्षा भी इतने ही महत्त्वपूर्ण हैं।"[२]

इस प्रकार गांधीजी के सिद्धान्तों के अनुसार सयोजन का यह लक्ष्य हो—

सबको रोजी और उसके साथ-साथ संपूर्ण मानसिक सहायता तथा अर्थ का सदुपयोग।

भारत के सुनियोजित आर्थिक विकास के इस आधार पर शायद ही

एवान्स वेयर मौन्स

१ मिनिस्टर की 'द नायर इकनोमी ऑफ दी एक्सपान्शन' पृष्ठ ११

किसी अर्थ-शास्त्री को आपत्ति हो।

विकेन्द्रीकरण

गांधीवादी योजना और गांधीवादी संविधान में मैंने यह बताने का यत्न किया है कि संतुलित अर्थ-व्यवस्था, राष्ट्रीय सुरक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय शांति, शारीरिक और सामाजिक स्वास्थ्य, न्यायपूर्ण वितरण और सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से भी अर्थ और सत्ता का विकेन्द्रीकरण क्यों अनिवार्य रूप से आवश्यक है। इसीके समर्थन में अब मैं कुछ और प्रमाण प्रस्तुत करना चाहता हूं।

आधुनिक संसार की विषम परिस्थिति को देखते हुए विकेन्द्रीकरण एक वैज्ञानिक आवश्यकता बन गया है। हेनरी फोर्ड जैसे महान उद्योगपति भी मानने लग गये हैं कि "अब हमारा अपना आदर्श होगा संपूर्ण विकेन्द्रीकरण। अब से हमारे यन्त्र छोटे होंगे और उन्हें ऐसी जगहों पर रक्खा जायगा कि उनमें काम करनेवाले खेती और यान्त्रिक काम दोनों साथ-साथ कर सकेंगे। इससे काम करनेवाले न केवल अधिक आजाद होंगे अपितु खेतों का अन्न और कारखानों का उत्पादन दोनों सस्ते हो जायंगे।"[1] पश्चिम में अब औद्योगिक विकास का नया कदम केन्द्रीकरण नहीं विकेन्द्रीकरण है। हैंस लिखते हैं—"पचास वर्ष पहले यान्त्रिक शक्ति का उपयोग केवल बड़े कारखानों में आर्थिक दृष्टि से लाभ-दायक माना जाता था। परन्तु अब उसका उपयोग छोटे-छोटे कारखानों में बल्कि कारीगर के घर पर भी उतने ही लाभ के साथ किया जा सकता है और अब कारीगर यन्त्र का गुलाम नहीं पर मालिक बन सकता है।" वह आगे लिखते हैं "आज यूरोप में जो सामाजिक संघर्ष छिड़ा हुआ है, उससे यदि भारत की आनेवाली पीढ़ियों को बचाना है तो उसके औद्योगिक नेताओं को यूरोप के वर्तमान की तरफ नहीं, उसकी भावी प्रगति की ओर ध्यान देना चाहिए। भारत को उसका अनुसरण नहीं, मार्ग-दर्शन करना चाहिए।"[2] इंडियन कौंसिल ऑव वर्ल्ड अफेयर्स के समक्ष भाषण करते हुए आस्ट्रेलिया के विख्यात अर्थशास्त्री कोलिन क्लार्क ने नई दिल्ली में कहा था—

---

[1] [illegible] पृ. १९७

[2] 'दि [illegible] ऑव आर्टिस्टिक एंड इंडस्ट्रियल डिवेलपमेंट इन इंडिया' पृ. १७४

"यदि मैं भारत का मन्त्री होता तो मैं कहता—गृहोद्योगों की दिशा में जितना भी विकास कर सकें कीजिये। कारखानों को तो एक अनिवार्य बुराई समझकर चलायें।

शासन-प्रबन्ध की दृष्टि से भी विकेन्द्रीकरण और सत्ता का बांट उतना उचित है। प्राध्यापक फ़ाकिनैण्ड जिम कहते हैं—"अब तो हर आदमी मानने लग गया है कि जहाँतक संभव हो संयोजन विकेन्द्रीकरण और कामों के बंटवारे की दिशा में ही होना चाहिए। संचार-व्यवस्था गैस बिजली पानी यातायात और स्थानीय जरूरत की चीजें बनानेवाले उद्योग व्यापार, खेती के सारे काम स्थानीय लोगों और अधिकारियों को ही कर देने चाहिए।"[1] "छोटी-छोटी मामलों में भी केन्द्र ही निर्णय करे, इसका तो अर्थ है कागजों से दफ्तरों को भर देना और निरर्थक रोष से नागरिकों का दम घोंट देना। शासन को चाहिए कि वह अर्थ के क्षेत्र को प्रभावित करके जनता की सेवा करे। बारिश की बूंदों का राशनिंग करने का यत्न न करे।"[2]

गांधीजी हमेशा कहते आए हैं कि जबतक आर्थिक नि-सत्त्रीकरण अर्थात् उद्योगों का विकेन्द्रीकरण नहीं होगा तबतक संसार में स्थायी शान्ति नहीं हो सकती। भाग्य का यह एक अजीब खेल है कि संयुक्त राष्ट्र ने हारे हुए जर्मनी में प्रजातन्त्र की पद्धति पर स्थानीय स्वायत्त शासन की स्थापना का आदेश दिया है और "खेती तथा शान्तिपूर्ण गृहोद्योगों पर बहुत जोर दिया है। सुमनर वेल्स ने भी यह आशा प्रकट की है कि 'यदि यह अन्तिम रूप में तय होगया है कि जर्मनी का विकेन्द्रीकरण कर दिया जायगा तो फ्रांस और पश्चिमी यूरोप के छोटे राष्ट्र निश्चित रूप से निर्भय हो जायंगे और शान्ति से रह सकेंगे।'"[3] मुझे तो कोई सन्देह नहीं कि राजनैतिक और आर्थिक सत्ता का इस प्रकार विकेन्द्रीकरण हुआ तो संसार में शान्ति और समृद्धि का एक नया युग शुरू हो जायगा परन्तु दुःख तो इस बात का है कि संयुक्त राष्ट्र जब जिस बात का उपदेश जर्मनी को कर रहा है, उसपर खुद

[1] 'दि पॉलिसिस ऑफ़ दी लोकलपीस', पृ १२१
[2] 'दी इकॉनॉमिस्ट' २६ जनवरी १९४७
'योरूपम का कोयला-चक्र'।
[3] 'फेबर प्लान की हैंडिंग' पृ १६

अमल नहीं करना चाहता।

विकेन्द्रीकरण बनाम समाजीकरण

परन्तु समाजवादी मित्र पूछते हैं—"यह तो बताइये कि केन्द्रित उत्पादन वाले औद्योगीकरण से आखिर आप इतने डरते क्यों हैं? उद्योगों को समाज की संपत्ति बना दीजिये कि संसार की सारी झंझटें ही दूर हो जायेंगी। परन्तु सबसे बड़ा सवाल यही तो है कि क्या सचमुच इससे सारे झगड़े मिट जायेंगे? मुझे भय है कि सोवियत रूस का अनुभव कोई बहुत आशा दिलाने वाला नहीं है। यद्यपि पश्चिम के बहुत-से लेखक और अर्थशास्त्री सोवियत रूस की हर बात की निन्दा ही करते हैं क्योंकि पूंजीवादी राष्ट्रों से स्पष्ट ही उन्होंने सांठ-गांठ कर ली है। परन्तु यह ठीक नहीं। तो भी उत्पादन के उपकरणों के राष्ट्रीयकरण के बाद वहां प्रबन्धकशाही ने जिस प्रकार दृढ़ता के साथ अपनी सत्ता कायम कर ली है उसको अच्छा बताकर बचाव कदापि नहीं किया जा सकता। प्राध्यापक हायक ने लिखा है 'राजनैतिक सत्ता के शासन के रूप में जब आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण हो जाता है तब वहां ऐसी परवशता पैदा हो जाती है, जो गुलामी से शायद ही अच्छी कही जा सके।'[1] प्राध्यापक हायक के इस कथन में जरूर अत्युक्ति है परन्तु मौरिस हिन्दस तो सोवियत रूस के प्रशंसक रहे हैं। वह भी कहते हैं कि "सोवियत रूस के प्रबन्धकों ने वहां के शासन को इस कदर अपनी निजी जिम्मेदारी का विषय बना लिया है जो पूंजीवादी देश के किसी कारखाने के मालिक के संचालन के ढंग से बहुत भिन्न नहीं कहा जा सकता।"[2] रूस में राज्य के कारखानों में जिस फौजी अनुशासन से काम लिया जाता है, हिन्दस ने उसका सजीव वर्णन किया है। वह लिखते हैं—

"खास तौर पर इजाजत लिये बगैर वहां किसी मजदूर को अपना काम छोड़कर जाने का अधिकार नहीं है। कारखाने के प्रबन्धक से यह इजाजत बहुत कम—अर्थात् कारखाने, राज्य या राष्ट्र और आपत्काल युद्ध के समय में—कौम का हित देखकर ही मिल सकती है। स्वयं मजदूर की इच्छा या लाभ का कभी विचार नहीं किया जाता। कानून मजदूर को केवल अपना

[1] 'दि रोड टु सर्फडम' (इंग्लिश एडीशन) पृष्ठ ५२

[2] 'मदर रशिया' १६१

काम छोड़ने से ही मना नहीं करता बल्कि दूसरी किसी जगह काम की तलाश करने से भी मना करता है। काम खोजते समय हर जगह मजदूर को अपनी सेवा-पुस्तिका पेश करनी पड़ती है। यदि उसमें लिखा है कि वह कहीं भी काम खोज सकता है तब तो उसे काम मिलने की सम्भावना रहती है अन्यथा उसे कहीं कोई नहीं पूछता। हां यदि किसी कारखाने को मजदूर की इतनी जरूरत हो कि वह कानून को भी ताक में रखने पर मजबूर हो जाय तो बात दूसरी है।"[1]

राष्ट्रीयकरण के राजनैतिक परिणाम और भी बुरे होते हैं। अब वहां किसानों और मजदूरों का तथाकथित राज्य नहीं रहा। उसके स्थान पर वहां धन-दौलतवाले प्रबन्धकों के हाथों में पूरी तरह सत्ता चली गई है। पूंजीवादी समाज में तो पूंजीपति समाज पर अप्रत्यक्ष रूप से राज करते थे परन्तु 'प्रबन्धक-प्रधान' समाज में तो वे ही सर्वसत्ताधीश हैं। सीधे-सादे शब्दों में यह तो नौकरशाही हुई। प्रबन्धक और शासक एकरूप हो गये हैं।[2]

फिर केन्द्रित उत्पादनवाले बड़े-बड़े कारखानों की पद्धति में अनेक स्वाभाविक भीतरी बुराइयां भी होती हैं। उदाहरणार्थ,प्रबन्ध-सम्बन्धी सत्ता का केन्द्रीकरण बेकारी का बढ़ना घनी आबादी और अपनी सूझबूझ और प्रेरणा तथा सृजन-शक्ति से काम लेने का अवसर मनुष्य को न मिलना। ये बुराइयां समाज को हानि पहुंचाती हैं और अर्थ-रचना को भी दूषित करती हैं। समझ में नहीं आता कि कारखानों के केवल राष्ट्रीयकरण से ये बुराइयां कैसे दूर हो जायंगी। स्वयं कार्ल मार्क्स ने अपने साम्यवादी घोषणा-पत्र में स्वीकार किया है कि हाथ से काम करने में हर काम पर कारीगर के व्यक्तित्व की जो छाप पड़ती थी वह श्रम-विभाजन और हर क्षेत्र में यन्त्रों के उपयोग से नहीं रहेगी। इसलिए कारीगरों को अपने काम में आनन्द नहीं आयगा। वे तो यन्त्र का मात्र पुर्जा बन जायंगे। "इसके विपरीत जब किसान और कारीगर स्वतंत्र रूप से काम करता है तब उससे उसके

[1] 'मदर रशा' पृष्ठ १६६
[2] मैटेरियलिज्म रिसेस्यूएम (वैबिन्स), पृष्ठ ११५

ज्ञान सूझ-बूझ और संकल्प-शक्ति का विकास होता रहता है।"[1]

जहांतक उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण का सवाल है, गांधीजी को इससे कोई लड़ाई नहीं है। रूस के समाजवाद और गांधीजी के समाजवाद के बीच असली अंतर यह है कि समाजवादी और साम्यवादी दोनों कारखानों पर केन्द्रित शासन की सत्ता चाहते हैं, जबकि गांधीजी यह चाहते हैं कि कारखानों पर मजदूरों और कारीगरों की सम्मिलित और सहकारी सत्ता हो। वहां पूरी सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक स्वतंत्रता होगी और काम करनेवालों के व्यक्तित्व का अधिक अच्छी तरह विकास हो सकेगा। मार्क्स ऐसे युग में हुए जब भूख अभाव और दारिद्र्य के भूत समाज को सता रहे थे परन्तु यदि वे आज के इस केन्द्रीकरण बेकारी और अधिनायकत्व के युग में फिर जन्म ग्रहण कर सकें तो गांधीजी की भांति वह भी संसार के मजदूरों को सलाह देते तब चाहे कि वे केन्द्रीकरण और उत्पादन के साधनों पर मजदूर का स्वामित्व की स्थापना की मांग करें। 'ग्रामसेवी मन' का अर्थ सिवा इसके और कुछ नहीं कि अहिंसा और विकेन्द्रीकरण के आधार पर समाजवाद की स्थापना की जाय।

सोवियत संविधान की धारा नौ में लिखा है—"समाजवादी अर्थ रचना में कानून किसानों को और कारीगरों को इजाजत देता है कि वे व्यक्तिगत तौर पर भी छोटे-छोटे संघ बनाकर काम कर सकते हैं। केवल वे दूसरों के परिश्रम का अनुचित लाभ न उठायें। रूस के छोटे-छोटे किसानों और कारीगरों ने चीन की 'इन्डसको' की भांति अपनी सहकारी समितियां भी बनाई हैं जिन्हें 'इन्कोप्स' कहा जाता है। हमारे साम्यवादी भाई रूसी अर्थ-रचना के इस पहलू पर जोर दें तो कितना अच्छा हो।

बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण और आधारभूत उद्योगों के राष्ट्रीयकरण से गांधीजी का भी विरोध नहीं है। अपनी 'रचनात्मक कार्यक्रम उसका अर्थ और स्थान' नामक पुस्तिका में उन्होंने साफ लिखा है—

"खादी की वृत्ति का अर्थ है जीवन की आवश्यकताओं के उत्पादन और वितरण का विकेन्द्रीकरण। भारी उद्योगों में तो अवश्य ही केन्द्री-

---

[1] 'दास कैपिटल'

करण रहेगा। वे राष्ट्र की संपत्ति भी होंगे परन्तु गांवों में व्यापक रूप से चलनेवाली राष्ट्रीय प्रवृत्ति में उनका स्थान बहुत थोड़ा होगा।

मेरी विनम्र सम्मति में आज संसार को जो बुराइयां सता रही हैं, उनका एकमात्र व्यावहारिक और बुद्धि-संगत हल गांधीजी के उपर्युक्त विचारों में आ गया है। खून के प्यासे पूंजीवाद और आज़ादी के प्यासे समाजवाद के बीच यही एक मध्यम मार्ग है।

●

खण्ड ३

राजनैतिक पहलू

संयुक्त राष्ट्रों की महायुद्ध में पूरी तरह जीत हो गई। जर्मनी और जापान ने बिना शर्त आत्म-समर्पण कर दिया। परन्तु अभी यह देखना और सिद्ध होना है कि वे पूरी शान्ति भी ला सके हैं या नहीं क्योंकि हम देखते हैं कि अभी युद्ध समाप्त भी नहीं हुआ था कि अटलांटिक चार्टर को निर्लज्जता के साथ ठुकरा दिया गया। नये नाम से फिर लीग ऑफ नेशन्स (संयुक्त राष्ट्र-संघ) की स्थापना हो गई और पॉट्सडम-घोषणा तो ऐसी चीज है जिसके सामने वर्साय की सन्धि तो कुछ भी नहीं। ये आशाजनक लक्षण नहीं हैं। जैसा कि वेन्डेल विल्की का कहना "शान्ति में अब कोई महत्त्वपूर्ण बात करने को बाकी नहीं रह गई है। युद्ध में सभी कुछ तो कर लिया गया।"[1] संयुक्त राष्ट्रों की सचाई की कसौटी तो भारत में होगी है। पर्ल बक ने कहा है "ब्रिटेन ऐसा लोकतन्त्र है, जो साम्राज्य के लिए लड़ रहा है।"[2] मानव-जाति के इतिहास में इससे अधिक आश्चर्यजनक बात ही दूसरी कोई चीज होगी क्योंकि साम्राज्य और लोकतन्त्र परस्पर-विरोधी चीजें हैं। जो हो मुझे विश्वास है कि ब्रिटेन चाहे कितना भी प्रयत्न करे, भारत जरूर और बहुत जल्दी स्वतन्त्र हो जायगा। "विख्यात इतिहासकार एच० जी० वेल्स ने अपनी 'शेप ऑफ थिंग्स टू कम' पुस्तक में लिखा है कि एक बार ब्रिटेन चोरों से हाथ-पैर पटक लेगा और फिर भारत उसके हाथ से निकल जायगा। मुझे तो पूरा विश्वास है कि पिछले तीन वर्षों से ब्रिटेन की यही

---

[1] 'वन वर्ल्ड' पृ० ११

[2] 'एशिया एण्ड डेमोक्रेसी'

छटपटाहट चल रही है और वह अब समाप्त होने को ही है। निराशा की यह उदासी और अंधकार अब बहुत जल्दी समाप्त होंगे और हमारे देखते देखते इस देश में स्वातंत्र्य का शानदार प्रकाश फैल जायगा। भारत एशिया का एक महान और प्राचीन देश है। जबतक वह स्वतन्त्र नहीं होगा संसार में शान्ति-स्थापना की बात भी करना बेकार है। गुलाम भारत अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव और शान्ति के लिए सदा खतरा बना रहेगा। इसलिए उसको स्वतन्त्रता देना स्वीकार न करना स्वयं संसार के हित में नहीं है।"[1]

तो सवाल है, "भारत का संविधान कैसा होगा? क्या हम स्विट्जरलैंड संयुक्त राज्य अमरीका और रूस जैसे पश्चिम के देशों के संविधान की नकल करेंगे? या हम अपनी संस्कृति परंपरा और प्रकृति के अनुरूप अपना स्वतन्त्र निजी संविधान बनायें? मैं समझता हूं कि यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसलिए हमें इसका निर्णय अभी कर लेना चाहिए, ताकि हमारे सामने उसका चित्र स्पष्ट हो जाय।

भारत बहुत प्राचीन देश है। उसकी शासन-पद्धतियों के विकास के अध्ययन से मालूम हो जायगा कि ईसा के वर्षों पहले लगभग सभी प्रकार की शासन-पद्धतियों का प्रयोग वह कर चुका था। यूरोप और अमरीका ने सभ्यता का पाठ पढ़ना शुरू किया था उससे कहीं पहले राजतंत्र, एकतंत्र, प्रजातंत्र, बलतंत्र और शासन विहीन समाज रचना सबके प्रयोग उसने कर लिये थे। श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने अपनी पुस्तक 'हिंदू पॉलिटी' में लिखा है कि प्राचीन भारत में भौज्य, स्वराज्य, वैराज्य, राष्ट्रिक, द्वराज्य और अराजक सभी प्रकार की शासन-पद्धतियां रही हैं। इनमें से कुछ तो ऐसी हैं जिनका दूसरे देशों में अभी तक प्रयोग भी नहीं हो पाया है। इसलिए भारत को हम शासन-पद्धतियों के विकास की प्रयोगशाला कह सकते हैं। पश्चिम के संविधान तो खुद ही अभी प्रयोगावस्था में हैं, उनको मिलाकर भारत के लिए संविधान तैयार करना न केवल उसका बहुत बड़ा अपमान होगा, बल्कि समाज-शास्त्र-सम्बन्धी अपना घोर अज्ञान प्रकट करना होगा, क्योंकि संविधान भी तो प्रत्येक समाज में भीतर से विकसित होनेवाली चीज है। किसी देश पर दूसरे देश का बे-मेल संविधान लादू करना एक अत्यंत अवैज्ञा-

[1] 'अ वीक विद गांधी'—फिशर, पृ. ६६

निक बात है। प्रशासन-पद्धतियों को एक जगह से दूसरी जगह नहीं रोपना चाहिए। सर जान मैरियट का कहना है "संविधान कोई ऐसी चीज नहीं जिसका निर्यात किया जा सके।"[1] हर राष्ट्र की अपनी अनोखी संस्कृति और सभ्यता होती है। वही उसकी आत्मा है। उसके इस अनोखेपन की रक्षा करके उसके सभी अंगों का पूरा और स्वतंत्र रूप से सुन्दर विकास होने देना चाहिए। इस स्वतंत्र और स्वाभाविक विकास का नाम ही जीवन है। सदा एक-सा बने रहना या नकल करना ही मृत्यु है।

कहीं मुझे गलत न समझ लिया जाय। मेरा मतलब यह नहीं है कि दूसरे राष्ट्रों के अनुभव से हम कोई लाभ न उठायें और संकीर्ण राष्ट्रीयता का ही विकास करते रहें। नहीं, यह कदापि मेरा मतलब नहीं है। मैं तो चाहता हूँ कि हम अपनेको हीन समझना और हर बात के लिए पश्चिमी राष्ट्रों की ओर देखना छोड़ दें। हमेशा पश्चिम की ओर ताकने से पहले स्वयं विचारने की आदत डालें। पश्चिम की नकल तो बहुत हो गई। अब तो हम भारतीय संस्कृति और उसकी व्यवस्थाओं पर गर्व करें।

मैं एक कदम और आगे जाऊंगा। ग्राम-पंचायतों के रूप में हमने जिस विकेन्द्रित प्रजातंत्र का विकास किया था और सदियों तक जिसे बनाये रखा वह कोई असभ्य अवस्था के साम्यवाद का अवशेष नहीं था। वह परिपक्व विचार और गम्भीर प्रयोग का परिणाम था। ग्राम-पंचायतों के रूप में जिस स्वायत्त शासन का विकास हमने अपने गांवों में किया था उसने सैकड़ों वर्षों तक आने वाली राजनैतिक उथल-पुथलों का सामना किया और आज भी हम उस प्रजातांत्रिक आदर्श शासन-पद्धति को पुनः स्थापित कर सकते हैं। मेरा मतलब यह नहीं कि आज हम उसे उसी पुराने रूप में शुरू करें। हमारे आज के नागरिक जीवन को देखते हुए अवश्य ही उसमें अनेक हेर-फेर हमें करने होंगे।

भारत में बीसवीं सदी में संविधान-निर्माण के जो प्रयोग हुए उनके इतिहास का हम जरा अवलोकन कर लें। अंग्रेजों ने भारत में सन् १९०९, १९१९ और १९३५ में जो शासन-सुधार लागू किये उनका मैं उल्लेख नहीं करूंगा। अनेक ब्रिटिश संविधान-शास्त्रियों ने कहा है कि [illegible] की

[1] [illegible] १

भांति संविधान दूसरे देशों को नहीं भेजे जाते। फिर भी वे भारत पर जबर दस्ती लादे गये। इस देश में हो रही नई जागृति का उनमें विचार तक नहीं किया गया। महात्मा गांधी पहले नेता थे जिन्होंने भारतीय सभ्यता और संस्कृति की ओर पहले-पहल देश का ध्यान खींचा। सन् १९ ८ में उन्होंने 'हिन्द स्वराज' नामक एक छोटी-सी पुस्तिका लिखी थी। उसमें वे सारी बुनियादी कल्पनाएं दे दी गई, जिनके आधार पर भारत का संविधान बनाया जाना चाहिए था। इसके बाद आती है सन् १९१६ की कांग्रेस मुस्लिम लीगवाली योजना। उसमें किन्हीं विशेष सिद्धान्तों का उल्लेख नहीं है। ब्रिटिश पार्लमेण्टरी पद्धति को ही उसमें आदर्श मान लिया गया है। परन्तु वह संविधान बनाने की दिशा में एक ऐसा सम्मिलित प्रयत्न था जो हिन्दुओं और मुसलमानों को समान रूप से स्वीकार था। सन् १९२२ के गया अधिवेशन के बाद स्व देशबन्धु चितरंजनदास और स्व डॉ भगवानदास ने मिलकर स्वराज्य की एक रूपरेखा बनाई थी परन्तु इस दिशा में सच्चा और महत्वपूर्ण प्रयत्न तो डॉ ऐनी बेसेण्ट का ही माना जायगा जो देश के अनेक प्रमुख नेताओं की सलाह लेकर सन् १९२४ २५ में उन्होंने 'कॉमन वेल्थ ऑफ इण्डिया बिल' के रूप में पेश किया। यद्यपि श्रीमती बेसेंट चाहती थीं कि भारत एक स्वशासित उपनिवेश के तौर पर ब्रिटिश-साम्राज्य में ही रहे तथापि उन्होंने हमारे भावी संविधान का मूल आधार ग्राम-पंचायतों को ही बनाया था। इसके बाद सर्वदल-परिषद् की रिपोर्ट सन् १९२८ में प्रकाशित हुई जो नेहरू-रिपोर्ट के नाम से प्रसिद्ध है। सन् १९३९ में औंध नरेश ने गांधीजी के मार्ग-दर्शन में अपने राज्य के लिए एक नया संविधान तैयार करवाया। संविधान की विकास-शृंखला म यह एक महत्वपूर्ण कड़ी थी। इसमें पूरी तरह प्रजातन्त्र की पद्धति पर इस छोटे-से राज्य में पंचायती राज्य कायम करने की योजना थी। और सबसे ताजा और अन्तिम प्रयास था कन्सीलियेशन कमेटी की प्रसिद्ध रिपोर्ट जिसके अध्यक्ष सर तेज बहादुर सप्रू थे।

भारत का संविधान भारत की परम्पराओं को ध्यान में रखकर ही बनाया जाना उचित होगा और राष्ट्र के नवनिर्माण के इस पहलू पर सबसे अधिक जोर देनेवाले अकेले गांधीजी ही थे। इसलिए स्वतन्त्र भारत

के लिए संविधान बनाने के बारे में मैंने उनसे चर्चा की। उन्होंने भी कहा कि ऐसे संविधान की बड़ी जरूरत है और बड़ी प्रसन्नतापूर्वक मेरा आवश्यक मार्ग-दर्शन करना भी मंजूर किया। मैंने भी इस संविधान का नाम 'गांधीवादी संविधान' रखने का निश्चय किया क्योंकि आज भारतीय परम्परा और संस्कृति का उनसे बढ़कर और कौन प्रतिनिधि होगा? इसके अलावा मैंने इस संविधान की सारी बातों की चर्चा सविस्तर उनसे की और उनके विचारों को सही रूप में रखने का अपनी शक्ति भर पूरा प्रयत्न किया। फिर भी इसके प्रत्येक विचार और शब्द के लिए मैं गांधीजी को जिम्मेदार नहीं ठहरा सकता। अन्तिम जिम्मेदारी तो पूरी तरह से मेरी ही मानी जानी चाहिए।

सारा संविधान इस रूप में तो नहीं दिया गया है कि उसे देश में तुरन्त जारी किया जा सके। इसमें तो केवल उन बुनियादी उद्देश्यों और आदर्शों को रख दिया गया है जिन्हें स्वतन्त्र भारत के संविधान में स्थान दिया जाना चाहिए। मैं फिर और देकर कहना चाहता हूँ कि विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था सपने के सतयुग की बात न मानी जाय। वह पूरी तरह से व्यावहारिक है और अमल में लाई जा सकती है। आम चुनावों के बाद संविधान-सभा के सामने सबसे पहला सवाल होगा देश के लिए उपयुक्त संविधान का निर्माण। ऐसे समय में यदि मेरा यह प्रयास देश की जनता और नेताओं का ध्यान इस बात की तरफ आकर्षित कर सका कि भारत का संविधान उसकी संस्कृति और परम्पराओं के आधार पर ही बनाया जाना चाहिए तो मैं उसे सफल मानूँगा।

बुनियादी सिद्धान्त

मेरा यह जरा भी इरादा नहीं है कि एक आदर्श राजनैतिक संगठन के मौलिक सिद्धान्तों पर मैं कोई ग्रन्थ लिखूं। फिर भी उन थोड़े-से सिद्धान्तों की चर्चा यहां मुझे करनी ही होगी जिनके आधार पर एक स्थायी राजनैतिक भवन खड़ा किया जाना चाहिए। इन बुनियादी सिद्धान्तों को जब तक हम ठीक से नहीं समझ लेंगे किसी भी प्रकार के संविधान का बनाना बेकार और निरर्थक होगा।

सबसे पहली बात जो स्पष्टतया समझ लेनी है वह यह है कि कोई भी सर्वोत्तम संविधान सार्वकालिक और सार्वदेशिक नहीं हो सकता है। शासन पद्धतियों की रचना पूर्व-परम्पराओं और वर्तमान स्थिति को ध्यान में रख कर ही करनी उचित होती है। "किसी देश के लिए वही संविधान सर्वोत्तम होगा जो किसी खास समय उस देश में उस उद्देश्य की पूर्ति अच्छी तरह कर सकता है, जिसके लिए सारी सरकारें बनाई जाती हैं।"[1] इस बात पर सबसे पहले जोर देनेवाला शायद अरस्तू था। आखिर राज्य का कर्तव्य यही तो है कि "मनुष्य प्राप्त परिस्थिति में ऊंचे-से-ऊंचा और अच्छे-से अच्छा जीवन बिता सके और इस प्रकार उत्तम जीवन वे ही बिता सकते हैं जिन्हें उस परिस्थिति में अच्छे-से-अच्छा शासन मिलता है।"[2]

इसलिए हमें किसी शासन की भलाई या बुराई का निर्णय उसकी पद्धति-विशेष की ओर देखकर नहीं बल्कि "उसके नागरिकों के जीवन की दशा को देखकर करना चाहिए।"[3] इसलिए अनेक प्रकार के राज्यों का साध्य मूलतः एक-सा होने पर भी स्थानीय परिस्थिति के अनुसार उनके रूपों में सदा भिन्नता ही बड़ा अन्तर होगा।

राज्य का उद्देश्य

परन्तु राज्य का उद्देश्य—साध्य—क्या है? सचमुच यह एक बुनियादी सवाल है, जिसपर प्राचीन काल से आजतक बड़े-बड़े राजनीति-विचारकों ने अपनी-अपनी राय प्रकट की है। यूनान के विचारक तो मानते रहे कि "राज्य जीवन की एक महान् वास्तविकता है जिसके अन्दर व्यक्तियों के सारे कार्य और प्रयास इस प्रकार समा जाते हैं जैसे समुद्र में नदियां।"[4] अमरीका के निवासियों की दृष्टि में नागरिकता सबसे बड़े सम्मान की वस्तु थी। उनके लिए तो "नीतिशास्त्र समाज-शास्त्र अर्थशास्त्र राजनीतिशास्त्र

---

[1] 'प्रिन्सिपल्स ऑफ डैमोक्रैसी' पृ १२०
[2] 'पॉलिटिक्स'—अरिस्टोटल
[3] 'फिलॉसफी ऑफ आवर टाइम्स'—प्रो जोड पृ १११
[4] 'प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिकल साइन्स'—गिल क्राइस्ट पृ ४५

सबकुछ बाहर ही था।"[1]

नगर का अर्थ था सह-जीवन और उस समय के यूनानी राजनीतिक चिंतन का मुख्य विषय इस सहजीवन की सफलता और शान्ति थी। अफलातून के लिए तो राज्य ही संसार था। इसके अन्दर मनुष्य को अपना स्थान ढूंढकर उसके योग्य कर्तव्य करते रहना चाहिए। अरस्तू मानता था कि राज्य नीति की रक्षा के लिए है। इसमें सभी नागरिक समान होते हैं और अपने जीवन को शुद्ध और अच्छे-से-अच्छा बनाना चाहते हैं। रोम के नागरिकों ने राज्य का उद्गम और आदर्श क्या हो इसकी तरफ बहुत ध्यान नहीं दिया। उनका तो सारा ध्यान अपने साम्राज्य के विस्तार में लगा हुआ था। मध्ययुग के दिनों में यूरोप के धर्मगुरु मानते थे कि ईसाई-धर्म की रक्षा के लिए राज्य ईश्वर के हाथ में एक साधन है। हॉब्स मानता था कि राज्य का कर्तव्य है शान्ति-व्यवस्था तथा स्वामित्व के अधिकार की रक्षा करना। लॉक कहता था कि सरकार प्रजाजनों की जान-माल और आज़ादी की रक्षा के लिए है। रूसो मानता था कि जनता की इच्छा का अनुसरण करना राज्य का कर्तव्य है। हेगेल फिर इस यूनानी सिद्धान्त पर आ गया कि राज्य सबसे बड़ी वास्तविकता है। वह कहता है कि संसार में राज्य का अस्तित्व ईश्वर की इच्छा का पालन करवाने के लिए है। पृथ्वी पर वही सबसे बड़ी सत्ता है। साध्य साधन सबकुछ वही है। बेंथम की राय थी कि अधिक-से-अधिक लोगों का अधिक-से-अधिक भला करना राज्य का काम है। हर्बर्ट स्पेन्सर मानता था कि पारस्परिक हित-साधन के लिए राज्य एक ज्वॉइन्ट स्टॉक कम्पनी है। जॉन स्टुअर्ट मिल का मानना था कि राज्य का सर्व प्रथम और सबसे पवित्र कर्तव्य है व्यक्ति की स्वाधीनता की रक्षा करना। मार्क्स ने राज्य को एक ऐसी अनावश्यक चीज माना जो वर्ग-विहीन समाज की स्थापना के बाद अपने-आप मर जायगी। हमारे अपने युग के विचारक प्राध्यापक लास्की का कथन है कि समाज के जीवन को सब प्रकार से समृद्ध बनाने के लिए स्थापित यह एक सहकारी संगठन है। गांधीजी यों कहते हैं कि थोड़े-से धनियों का नहीं सारी जनता का अधिक-तम भला करना

[1] हिस्ट्री आव पॉलिटिकल थियोरी—प्रो सैबाइन, पृ ११
[2] 'ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स' पृ ६०

राज्य का कर्तव्य है। वेल्स चाहते हैं कि सारे विश्व की सरकार एक हो। फिर मनुष्य के अधिकारों की एक पूरी परिभाषा बनाकर उसके आधार पर सबके लिए एक कानून बनाया जाय और उसकी मदद से सबकी आजादी स्वास्थ्य और सुख की रक्षा वह करे।

भारतीय राजनीति मुख्यतः रामायण महाभारत मनुस्मृति कौटिल्य के अर्थशास्त्र और शुक्राचार्य के नीतिसार में आ जाती है। रामायण में उस राम-राज्य का वर्णन है जिसमें लोग सुखी शान्त और समृद्ध थे। महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म ने राजा के कर्तव्य गिनाये हैं और राज्य का मुख्य उद्देश्य यह बताया है कि वह प्रजाजनों की रक्षा करे ताकि वे सुखी सदाचारी और शान्ति का जीवन बिता सकें और अपने-अपने कर्तव्यों का—धर्मों का—पालन कर सकें। कौटिल्य ने भी राजा के इसी बुनियादी कर्तव्य पर जोर देते हुए कहा है कि प्रजाजनों को सुखी रखना तथा उनका हित साधन करते रहना राजा अथवा राज्य का कर्तव्य है। राजा उनके सुख में अपना सुख और उनके कल्याण में अपना कल्याण समझे। शुक्र-नीति में राजा को प्रजाजनों का रक्षक और हितकर्ता बताया है। उसका यह भी कर्तव्य है कि वह प्रजाजनों को अनुशासन में रखे ताकि वे अपने-अपने कर्तव्यों का पालन बराबर करते रहें और दूसरों के कर्तव्यों-धर्मों में बाधक नहीं बनें।

अधिनायकवादी राज्य बनाम अधिनायक

राज्य के उद्देश्य और कर्तव्यों के बारे में भारत तथा यूरोप के राजनैतिक चिन्तन का यदि हम अध्ययन और विश्लेषण करें तो ज्ञात होता है कि इसमें दो अलग-अलग प्रवाह हैं। एक प्रकार के विचारक राज्य को अधिक महत्त्व देते हैं और व्यक्ति को उसके अधीन मानते हैं। व्यक्ति को दबाकर वे राज्य को सर्वेसर्वा मानकर उसे देवत्व प्रदान कर देते हैं। वे मानते हैं कि राज्य का काम है व्यक्तियों को अनुशासन में रखना। व्यक्ति तो उस महान शक्तिशाली राजनैतिक यंत्र का एक पुर्जा मात्र है। यह विचार समाज को

[1] रि ऑफ मैन पार्कर, पृ १११

अधिनायक तंत्र और सत्ता के सम्पूर्ण केन्द्रीकरण की ओर ले जाता है। दूसरे प्रकार के विचारक मनुष्य—व्यक्ति—को सारी चीजों का आधार मानते हैं। उनकी दृष्टि मे मनुष्य की स्वतन्त्रता और विकास सबसे अधिक महत्वपूर्ण वस्तु है। उनके अनुसार राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के इन अधिकारों की रक्षा के लिए है। वे मनुष्य को साधन नही साध्य मानते हैं। काउन्ट काउडेनहोव कालेरजी ने अपनी पुस्तक 'टोटैलीटैरियन स्टेट अगेंस्ट मैन' मे इन दो प्रकार के राजनैतिक विचारो का जिक्र करते हुए सर्वसत्तावादी राज्य को स्पार्टन आदर्श कहा है और जहा मनुष्य को सर्वोपरि माना गया है उसे अथेनियन आदर्श कहा है। स्पार्टा में मनुष्य का जीवन राज्य के लिए था। एथेन्स में राज्य का अस्तित्व मानव की सेवा के लिए माना गया था। इन दो प्रकार के विचारों को समूहवाद (कलेक्टिविज्म) और व्यक्तिवाद (इंडिविजुअलिज्म) भी कहा है। परन्तु सत्य तो दोनों के उचित समन्वय मे है।

राज्य का कार्य तो व्यक्ति और राज्य के हितों का समुचित समन्वय करना है, जिससे वे आपस में टकराव नही। दूसरे शब्दों मे हमारा उद्देश्य हो सत्ता और स्वतन्त्रता का सन्तुलन साधना। राज्य को व्यक्ति और समाज के हितो का समन्वय करने में और उनका पोषण करने में मदद करनी चाहिए। व्यक्ति राज्य के प्रति अपने कर्तव्य करे और राज्य व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करता रहे ताकि वह अपना अधिक-से-अधिक विकास कर सके। प्राध्यापक हॉबी ने इसी बात को 'धर्मानुसारी समाज' शब्द द्वारा प्रकट किया है, अर्थात् ऐसा समाज जहां कर्तव्य पालन के साथ अधिकार जुड़े हुए हैं। अर्थात् अधिकार और कर्तव्य स्वतन्त्र नही सापेक्ष और परस्परावलम्बी हों।

श्री ए बी मार्किलर ने लिखा है—"व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का परिणाम होगा सामाजिक दुरवस्था। इसलिए सबकी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए सबको अपनी-अपनी स्वतन्त्रता का कुछ अंश छोड़ना होगा। जिन बातों का दूसरो से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं जो पूर्णतया व्यक्तिगत हैं उनके विषय मे मनुष्य पूर्णतया स्वतन्त्र रहे। वह जो चाहे, करे। श्री मार्कि

'न्यू सिविक सोसायटी'—प्रो हेनी

मर कहते हैं— "अगर मैं स्ट्रेण्ड पर लम्बा लबादा पहनकर नंगे पैर और बढ़े बालों में जाना चाहूं तो मुझे कौन मना करने आयेगा ? आप हंसते रहिये। आप आज़ाद हैं। पर मैं भी आज़ाद हूं। मैं आपकी परवा नहीं करूंगा। इसी प्रकार मैं चाहू तो मैं अपने बालों को रंग सकता हूं मूंछों को मोम लगाकर खड़ी कर सकता हूं। ऊंचा टोप ऊनी कोट और सैंडल्स पहन कर बाहर घूमना चाहूं तो मैं घूम सकता हूं अथवा रात में देर से सोकर सुबह भी देर से उठना चाहूं तो मुझे किसीकी इजाज़त लेने की ज़रूरत नहीं है।" परन्तु व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की ओर काम की इस सीमा को जिस क्षण मनुष्य लांघता है—उसी क्षण से दूसरों की स्वतन्त्रता का क्षेत्र शुरू हो जाता है। संसार में बहुत-से लोग हैं। उनकी स्वतन्त्रता में खलल नहीं पड़ने पावे। इस प्रकार हमें अपनी स्वतन्त्रता को सीमित करना चाहिए।

हर आदमी अपनी मनमानी करे और सरकार उसमें कोई बाधा नहीं पहुंचाये वह ज़माना तो चला गया। परन्तु आज की यह प्रवृत्ति कि मनुष्य अपने-आपको पूरी तरह राज्य के अधीन कर दे—अत्यन्त बुरी है। कान्ट ने एक बड़ी अच्छी बात कही थी—"मानवता को—चाहे अपने अन्दर या दूसरे के अन्दर—सर्वोपरि मानो। साध्य सदा वही हो। उसे कभी किसीका गुलाम मत बनने दो। उदाहरण के लिए राज्य का फौज के लिए व्यक्ति को दबाना या उसका दुरुपयोग करना मानवता के प्रति अपराध है। इस प्रकार सबपर फौजी अनुशासन लादने का नतीजा तो अधिनायक तन्त्र (डिक्टेटरशिप) होता है जो शासक और शासित दोनों के लिए अभिशाप बन ही होता है। उसमें राज्य सर्वसत्ताधारी बन जाता है और मनुष्य का व्यक्तित्व शून्य के बराबर हो जाता है। फिर ऐसी हुकूमतों में चाहे उनका नमूना समाजवादी हो या फासिस्ट अन्त में एक आदमी या कुछ थोड़े-से आदमियों के हाथों में सारी सत्ता केन्द्रित हो जाती है और करोड़ों जिन्दगियां उनके हाथ का खिलौना बन जाती हैं। परन्तु यदि मनुष्य को—मानवता को—जिन्दा रहना है तो उसे ऐसे अति मानवों से—चाहे वे कितने ही महान् और उच्चाशय हों—अपनी जान बचानी ही चाहिए। "पेस देवता की भांति पूजे जानेवाले अकेले व्यक्तियों

'एसो ऑम दि क्स ऑम दि रोड'

के हाथों में रहनेवाली सरकारों से संसार को कोई आशा नहीं करनी चाहिए। ऐसे उन्मत्त अधिनायकों का अन्त में क्या हाल होता है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हिटलर और मुसोलिनी के नाटकीय पतन के रूप में हमारे सामने है। हिटलर जिन्दा हो (जैसा कि आज भी कुछ लोग मानते हैं) या मर गया हो आज तो वह एक कहानी मात्र रह गया है।

रूस ने एक नये प्रकार के शासन का विकास किया है, जिसे सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद (डिक्टेटरशिप ऑफ दी प्रोलेटेरियट) कहा जाता है। मार्क्सवादी राज्य का आदर्श है वर्ग-विहीन प्रजातंत्र। परन्तु कहा जाता है कि यह आदर्श जनता पर कठोर फौजी अनुशासन के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यद्यपि यह आशा दिखाई जाती है कि अन्त में जाकर राज्य समाप्त हो जायगा परन्तु जैसा कि प्राध्यापक लास्की कहते हैं, यह सत्ता अपने-आप कभी नहीं जायगी ऐसा ख्याल करना निरा भोलापन है। जिसमें सत्ता का केन्द्रीकरण परमावधि को पहुंच गया है ऐसे राज्य का अन्त या तो युद्ध से होता या फिर बिल्कुल नीचे से ही क्रान्ति की ज्वाला उठेगी और वह उसे भस्म कर देगी। बॉन गुन्थर को तो भय है कि यह अधिनायक-तंत्र सर्वहारावर्ग का नहीं सर्वहारावर्ग पर होनेवाला है।[३]

प्राध्यापक विल्स वर्न ने अपनी 'साइकोलॉजी ऑफ लीडरशिप' नामक पुस्तक में लिखा है कि "किस प्रकार सत्ता का केन्द्रीकरण करनेवाला शासन एकदम सरकार का रूप धारण कर लेता है। आचार्य विनोबा भावे का भी यही मत है क्योंकि सत्ता के केन्द्रीकरण से फिर वह राज्य समाजवादी हो या पूंजीवादी हिंसा दमन और सेना-बल तो होता ही है।[४]

लोकतंत्र ही एकमात्र विकल्प

इसलिए संसार के सामने आज एकमात्र विकल्प है लोकतंत्र। उसका उद्देश्य है या हर शासन में होना चाहिए—सुसंगठित शासन में मानव के

[१]'अर्थशास्त्र पॉलिटिकल्स आदि[illegible]—डी डी तां पृष्ठ [illegible]
[२]'इन्साइड यूरोप' पृष्ठ ९१
[३]'इन्साइड यूरोप' पृष्ठ २ ४
[४]'स्वराज्य शास्त्र' (हि डी) पृष्ठ १ ९१

व्यक्तित्व का विकास। वह एक तरफ व्यक्ति को स्वतंत्रता देता है दूसरी तरफ उन्हें सावधान भी कर देता है कि व्यक्ति को अपने उचित अधिकारों का उपयोग करते हुए शासन और समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन भी बराबर करते रहना है। लिंकन ने प्रजातंत्र की परिभाषा करते हुए उसे "जनता का जनता द्वारा जनता के हित में शासन' कहा था। पेटिस वर्ष में कहे गये ये शब्द यद्यपि पुराने पड़ गये हैं तथापि उनमें बड़ा अर्थ भरा पड़ा है। जैसा कि श्रीमती एलिनोर रूजवेल्ट ने कहा था "प्रजातंत्र का आधार नैतिक और धार्मिक है। उसका अर्थ है भ्रातृभाव एक-दूसरे के प्रति गहरा आदर। इसमें हमारी विजय या सफलता तभी सच्ची मानी जायगी जब दूसरों की सफलता में भी वह सहायक होगी।"[1]

प्लेटो लोकतन्त्री संविधान को पसन्द नहीं करता था क्योंकि उसमें सत्ता के सूत्र ढीले और विलासी आदमियों के हाथों में चले जाने की बहुत संभावना रहती है। इसलिए वह ऐसे लोकतन्त्र के बजाय बुद्धिमान और तत्त्वज्ञानी राजा का एकतन्त्री राज्य अधिक पसन्द करता था। रूसो कहता था कि मनुष्य जबतक मनुष्य है, लोकतंत्र कभी पूर्णतया निर्दोष हो ही नहीं सकता। "हां मनुष्य जिस दिन देवता बन जायगा उस दिन मले ही वह सच्चा लोकतंत्री शासन चला सकेगा।"[2] द टकविल अन्त में इस नतीजे पर पहुंचा कि लोकतंत्र में शासन बिल्कुल सामान्य आदमियों के हाथों में चला जाता है। सर हेनरी मेन को डर था कि लोकप्रिय शासन में प्रगति एकदम रुक जाती है। लैकी का कहना है कि प्रजातंत्र में स्वतन्त्र रूप से विकास नहीं हो पाता—बार-बार रोड़े अटकाये जाते हैं और विरोध होता रहता है। बिस्मार्क तो लोकतंत्र को रोने-चिल्लानेवाले भावुकों की मण्डली कहकर उसकी खिल्ली उड़ाता था। फ्रान्स के प्रसिद्ध कथाकार फ्रांस ने लोकतंत्र को अयोग्यों का पंथ कहा है। नीत्शे की निगाह में लोकतंत्र "मनुष्य की पतन की ओर ले जानेवाला राजनैतिक संगठन" था। कॉर्लाइल लोकतंत्र के विरुद्ध इसलिए था कि वह तो लोगों को निरा पशु समझता था जिनके लिए

[1] 'दि मोरल बेसिस ऑफ डेमोक्रैसी, पृष्ठ ११
रिपब्लिक—प्लेटो की किताब
[2] 'सोशल कान्ट्रैक्ट' ४ अध्याय

भाप धुएं और धार की ही जरूरत होती है। हमारे युग के महान विचारक बर्नार्ड शॉ की राय में लिंकन की प्रजातंत्र की परिभाषा एक शब्दाडंबर से भरी हुई निकम्मी चीज है। वह लिखते हैं, "लोगों ने प्राय: सरकारी कामों में बाधा ही पहुंचाई है। क्रांति तक कर दी है। परन्तु कभी सही अर्थों में शासन नहीं चलाया।"[1]

फिर भी सच तो यह है कि लोकतंत्र ही एक ऐसी पद्धति है, जो व्यक्ति और राज्य के हितों में समन्वय स्थापित कर सकती है। जैसे कि मैंने प्रारम्भ में ही कह दिया है शासन का कोई ऐसा सर्वोत्तम संविधान तो नहीं बनाया जा सकता जो सबके लिए सदा सर्वकाल उपयोगी हो। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि अच्छे जीवन-यापन के लिए अनुकूल परिस्थितियां लोकतंत्र ही प्रदान कर सकता है। लॉर्ड ब्राइस ने लिखा है—"समाज के भय के कम में व्यक्तियों को सन्तोष और लाभ ही सारे समाज का भला—हित या कल्याण नहीं संभव है, जहां समाज के अधिक-से-अधिक मनुष्य शासन में समानता के आधार पर भाग ले सकते हैं।"[2] फिर जैसा कि प्राध्यापक लेनार्ड ने कहा है "लोकतंत्र सिर्फ शासन का स्वरूप नहीं है। यह एक सामाजिक आदर्श है। हां यह आदर्श जितना उच्च है, उसके अनुरूप उसके अमल में कठिनाइयों का होना भी स्वाभाविक ही है।"[3]

लोकतंत्र एक बड़ी बहुमूल्य वस्तु है, क्योंकि उसमें मानव के प्रति आदर है। श्रीमती वेब ने लिखा है कि "राजनैतिक लोकतंत्र में सबसे चमत्कारपूर्ण वस्तु यह है कि उसमें मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास की खूब गुंजाइश है।"[4] जॉन स्टुअर्ट मिल कहता है कि "राष्ट्र के नैतिक कल्याण की दृष्टि से देखें तो लोकतंत्र में राष्ट्रीय चरित्र का जितना अच्छा और उच्च विकास होता है वैसा शासन के किसी भी दूसरे रूप में नहीं होता। शैक्षणिक दृष्टि से भी लोकतंत्र दूसरी पद्धतियों की अपेक्षा अधिक अच्छा सिद्ध होता है क्योंकि जैसा कि प्राध्यापक बर्न्स कहता है "सबसे अच्छी शिक्षा शासन

---

[1] 'एवरीबडीज पॉलिटिकल व्हाट्स व्हाट' पृष्ठ ११२
'माडर्न डेमोक्रेसीज' पहली जिल्द, पृष्ठ ५

[3] डेमोक्रेसी इन दि न्यू कान्स्टेलेशन' पृष्ठ १

[4] 'माडर्न स्टेट' पृष्ठ ८४

शिक्षण में ही है। देश में राजनैतिक प्रतिभा कहां-कहां छिपी पड़ी है इसे जितनी अच्छी तरह लोकतंत्र खोजकर ले आता है उतना दूसरी कोई पद्धति नहीं ला सकती।

हां यह भी स्वीकार करना होगा कि जीवन की कितनी ही अच्छी चीजों की भांति लोकतन्त्र में भी कितने ही दोष छिपे हैं परन्तु आज वह कसौटी पर है। वह चौराहे पर खड़ा है। लोकतन्त्र की आज यह जो परीक्षा का—कसौटी का—समय उपस्थित हुआ है उसका हम कुछ विस्तृत निरीक्षण करें।

लोकतन्त्र चौराहे पर

लोकतन्त्र को निर्भय करने तथा युद्धों का सदा के लिए अन्त करने के लिए पहला महायुद्ध लड़ा गया था परन्तु उस युद्ध के बाद संसार ने दुःख के साथ देखा कि उसका यह सोचना निरा भ्रम था।

वर्साय की सन्धि ने शान्ति की स्थापना करने के बजाय दूसरे महायुद्ध के बीज बो दिये जो पहले से भी अधिक संहारक था। लोकतन्त्र को निर्भय करने के बजाय युद्धोत्तर संसार के सामने यह समस्या खड़ी हो गई कि वह लोकतन्त्र से जान कैसे छुड़ाये ? लोकतन्त्र को संसार पर जोर-जबरदस्ती थोपने के प्रयत्नों ने यूरोप में अधिनायक तन्त्रों (टोटेलिटेरियन रिजीम्स) को जन्म दिया और इन अधिनायक तन्त्रों का मुकाबला करने के प्रयत्नों में लोकतन्त्री सरकारों ने जान में या अनजान में खुद अपने देशों से लोकतन्त्र को निकाल बाहर कर दिया। अतलांतिक चार्टर में लिखा है कि संसार के हर देश को यह निश्चय करने का अधिकार है कि उसके यहां किस प्रकार की राज्य-पद्धति हो। प्रजाजनों के इस अधिकार को स्थापित करने के लिए ही दूसरा महायुद्ध लड़ा गया था। परन्तु कहना होगा कि मित्र राष्ट्रों ने संसार को बहुत अधिक धोखा नहीं दिया। युद्ध के दौरान में ही अतलांतिक चार्टर को उन्होंने बड़े आराम के साथ उस अतल महासागर में डुबो दिया ताकि बाद में सन्देह और आश्चर्य के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं रहे। हर जगह एक बड़ी 'श्री' बना दी गई। 'श्री' का मतलब है विजय। दूसरे महायुद्ध का एकमात्र उद्देश्य फिर 'विजय' बन गया। सान फ्रांसिस्को

में मित्र-राष्ट्रों की जो सभा हुई उसकी कार्यवाही में तो यह बताकर अपनी आँखें और भी खोल दीं कि अपने संसार में सर्वोपरि सत्ता सदा के लिए केवल तीन बड़ों के हाथों में ही रहेगी। बेशक ये तीन बड़े स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र की बात तो कहते ही रहते हैं और अपने पैरों के नीचे दबे देशों के निवासियों को धोखा देने के लिए स्वशासन और स्वतन्त्रता के बीचवाले सूक्ष्म भेद की बातें भी करते रहते हैं। जापान, जर्मनी और इटली की निरंकुश सत्ताएं भी धूल में मिला दी गईं परन्तु निरंकुशता नंगी होकर अब संसार में इतनी निर्भयता के साथ नाच रही है जितनी पहले कभी नहीं नाची थी। प्राध्यापक लास्की कहते हैं—"विजय स्वयं एक पूर्णता नहीं बल्कि उसका एक साधन मात्र है। उसने तो लोकतन्त्र को केवल एक मौका दिया है। वह यह भरोसा नहीं दिलाती कि इस मौके से अवश्य ही लाभ उठाया जायगा।"[1] और अब यह सिद्ध भी हो गया कि एक बार फिर मौका हाथ से निकल गया। बर्नार्ड शॉ ने कहा ही है कि पश्चिम में कहीं लोकतन्त्र नहीं है। वे तो पूंजीपतियों के राज हैं और उनका रोम-रोम फासिस्ट है। उन में संयुक्त राज्य अमरीका इन सबमें छोटा और कुछ अधिक समझदार है, इसलिए वह 'प्रत्यक्ष साम्राज्य' की बातें नहीं करता पर उसका अदृश्य साम्राज्य संसार में 'चार स्वतन्त्रताओं' के रूप में अपने हाथ-पैर फैलाये बगैर नहीं रह सकता। सोवियत रूस इनमें सबसे अधिक चालाक है। समाजवाद की रक्षा के नाम पर वह सारे संसार पर अपनी सत्ता फैलाने के लिए तुल गया है। इस प्रकार दूसरे महायुद्ध के बाद भी लोकतन्त्र का भविष्य बहुत निराशापूर्ण और अंधकारमय है और यदि कहीं संयुक्त राष्ट्र-संघ टूट गया तो कुछ ही वर्षों में संसार का सर्वनाश निश्चित है। 'डेली हेरल्ड' ब्रिटेन के सत्ताधारी दल का बड़ा प्रभावशाली पत्र है। उसने साफ लिखा है कि "संसार आँखें खोलकर तीसरे युद्ध की ओर बढ़ रहा है। यदि हम इसी तरह बढ़ते रहे तो हमें हिटलर के नाम को रोना पड़ेगा। उसके बहाने सही मित्र-राष्ट्र एक तो हो गये थे।

[1] 'डिलेमाज ऑव दि रैवोल्यूशन ऑव अवर टाइम्स' पृ० १

पूंजीवादी लोकतंत्र

पश्चिम में लोकतन्त्र को इस नाजुक हालत में से क्यों गुजरना पड़ रहा है? कारण स्पष्ट है। प्राध्यापक टॉनी के शब्दों में कहें तो इस आर्थिक और राजनैतिक बीमारी की जड़ है हमारा लोभी-लालची वर्ग। पूंजीपति लोग तभी तक मीठी-मीठी और चिकनी-चुपड़ी बातें करते हैं जबतक उनकी जेब को कोई नहीं छूता। जनता के लिए वे सामाजिक सुधार और राजनैतिक स्वतन्त्रता की भी लम्बी-लम्बी बातें जरूर करेंगे परन्तु केवल एक शर्त पर, अर्थात् स्वतन्त्रता उनकी सत्ता को नहीं छूए। जब भी उन्हें आशंका-मात्र हो जाती है कि उनकी सत्ता खतरे में है, वे तुरन्त अपना वह मखमली दस्ताना फेंक देते हैं, जो अबतक उनके फौलादी घूंसे को छिपाये हुए था। विशेषाधिकारवाले लोग तभी तक दूसरों के साथ भलमनसाहत के साथ पेश आते हैं जबतक ये दूसरे उनका कहा मानते रहते हैं। परन्तु ज्योंही वे देखते हैं कि उनका वैभव और विशेषाधिकार खतरे में आ गया है कि वे उसकी रक्षा के लिए अधिक-से-अधिक बल का प्रयोग करने में कभी नहीं हिचकते क्योंकि फासिज्म भी तो आखिर क्या है? प्राध्यापक लास्की के शब्दों में—"निकम्मे भूत की रक्षा के लिए हिंसा द्वारा भविष्य को कैद करनेवाली विशेषाधिकारवाली शक्तियों का नाम है फासिज्म।[1] दूसरे शब्दों में कहें तो लोकतन्त्र के नाम पर शासन करनेवाला पूंजीवाद जब अपनी जान बचाने के लिए नंगा रूप धारण करके खड़ा हो जाता है तब वह फासिज्म कहलाता है। पूंजीवाद और लोकतन्त्र तो स्वभावतः एक-दूसरे के विरोधी हैं। पूंजीवादी समाज में तो मालिक के लाभ के लिए उत्पादन होता है जहां लोकतन्त्री समाज में नागरिक अपनी राजनैतिक सत्ता के द्वारा राज्य की शक्ति का उपयोग समाज की सेवा के लिए करना चाहते हैं। पूंजीवाद प्रजातन्त्र के साथ तभी तक रह सकता था जबतक उसने अपने हाथ-पैर नहीं फैलाये थे। पिछले महायुद्ध के बाद पूंजीवाद के ह्रास का युग शुरू हो गया। चारों तरफ बेकारी फैल गई और हर जगह सम्पन्नता के बीच दरिद्रता का अजीब दृश्य खड़ा हो गया। अब अपनी माली हालत सुधारने के

[1] 'प्रोग्रेस टू दी न्यू फ्रीडम।'

लिए लोगों ने अपनी राजनैतिक शक्ति का उपयोग शुरू किया परन्तु यह तो मालिक वर्ग के स्वार्थों को सीधी चुनौती थी। इसीको लेकर फासिस्ट तानाशाही और सर्व-सत्तावादी राज्य—टोटेलिटेरियनिज्म—का जन्म हुआ। जहां समाजवाद का खतरा बहुत अधिक था—जैसे कि इटली और जर्मनी —वहां फासिज्म स्वरूप अधिक उग्र आक्रामक और निरंकुश बन गया।

लोकतन्त्री देशों में पूंजीवाद को ऐसे खतरे का सामना नहीं करना पड़ा। इसलिए वह वहां के मुकाबले में वहां अधिक शान्त और सहिष्णु रह सकता था परन्तु जो समाज गरीबों और अमीरों के अलग-अलग वर्गों में बंट जाता है वहां लोकतन्त्र कभी चल ही नहीं सकता। "जबतक कोई राज्य आर्थिक विषमता के आधार पर बने वर्गों का प्रतिनिधि होगा तबतक वह सदा उसी वर्ग का सेवक होगा जो उत्पादन के साधनों का मालिक होगा या उसपर प्रभाव रखता होगा। इसलिए आज वर्ग के लोग में जिन सिद्धान्तों को स्वयंसिद्ध माना जाता है, उनमें जबतक बदल नहीं होगी तबतक वर्तमान समाज की प्रकृति और रूप में भी कोई बड़ा फेर नहीं हो सकेगा और तबतक लोकतन्त्र पूंजीवाद का गुलाम ही बना रहेगा।[1] तबतक अखबारों धारा-सभाओं प्रकाशन-संस्थाओं शिक्षा-संस्थाओं तथा प्रचार के अन्य सब साधनों पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पूंजीपति-वर्ग का ही प्रभुत्व रहेगा। वह सदा लोकतन्त्र का उपयोग अपने स्वार्थ-साधन के लिए ही करता रहेगा और वह नाममात्र का लोकतन्त्र वास्तव में धनवानों का ही राज्य होगा। जैसा कि लॉर्ड ब्राइस ने कहा है "धन-सत्ता लोकतन्त्र का सबसे अधिक धोखेबाज और नीच शत्रु है। वह दुश्मन भयंकर इसलिए है कि वह बल से काम नहीं लेता बल्कि गुप्त रूप से और मीठी-मीठी बातें बनाकर धोखा देता है इसलिए आदमी अनजान में उससे धोखा खा जाता है।"[2] पुराने समय से जब कि चुनाव-क्षेत्र बहुत छोटे और सुरक्षित-से थे आजतक जबकि बहुत तामझाम से प्रचार करना पड़ता है और अपने वोटों की बड़ी खुशामद और संभाल करनी पड़ती है, पूंजीपतियों के लोकतंत्र की प्रकृति में कोई अन्तर नहीं पड़ा है।

---

[1] 'दि स्टेट इन थ्योरी ऐंड प्रैक्टिस'—जे० लास्की, पृ० ८९
[2] 'माडर्न डेमोक्रेसीज' दूसरी जिल्द, पृ० १११

लोकतन्त्र बनाम हुल्लड़शाही

आजकल के लोकतन्त्रों में धन-सत्ता के कारण जो बुराइयां है, उनके अलावा चुनावों की वर्तमान पद्धति बड़ी दोषपूर्ण और बुरी है। चुनाव-क्षेत्र इतने बड़े-बड़े हैं कि उम्मीदवार और मतदाताओं के बीच व्यक्तिगत संपर्क जैसी चीज ही सम्भव नहीं रह गई है। इस कारण चुनाव-अभियान जरूरी हो जाते हैं और इन अभियानों में क्या-क्या खराबियां हैं इनसे हम सब खूब परिचित हैं। चुनाव की सभाओं का वर्णन बर्नार्ड शॉ ने बड़े अनूठे ढंग से किया है। वह लिखते हैं कि ये सभाएं बड़ी निन्दनीय और घृणित होती हैं। इनमें समझदार और सही दिमाग के लोग भी इस बुरी तरह चीखते-चिल्लाते हैं कि एक निष्पक्ष आदमी वहां पहुंच जाय और उनकी बातें सुने तो उसे तो यही लगे कि वह किसी पागलखाने और असाध्य मानसिक रोगियों के बीच पहुंच गया है।

शॉ आगे लिखते हैं—'ज्यों-ज्यों मेरी उम्र बढ़ती जाती है त्यों-त्यों मुझे ये प्रदर्शन असह्य और मनुष्य की शान तथा नागरिक सभ्यता के लिए अत्यन्त लज्जाजनक मालूम होते जा रहे हैं। हर राष्ट्र की सरकार को इस प्रश्न पर बहुत गम्भीरता के साथ विचार करना चाहिए।'[1] इस प्रकार ये चुनाव-क्षेत्र इतने बड़े होते हैं कि सही प्रतिनिधि का चुनाव करना बड़ा कठिन हो जाता है। गांधीजी ने कहा है 'यहां हमें प्रजातन्त्र और लोकशाही के स्थान पर हुल्लड़शाही के ही दर्शन होते हैं। इसलिए सभ्य सौम्य और शान्त प्रकृति के लोग तो इन चुनावों के हुड़दंग से दूर ही रहना पसन्द करते हैं। तब स्वभावतः ऐसे लोगों की बन आती है जिन्हें भले-बुरे और नीति-अनीति की कोई परवा नहीं होती जिनकी खाल मोटी होती है और जो रिश्वत घूस और हर तरह के भले-बुरे साधनों से काम लेकर जिस-किसी तरह जीतना चाहते हैं। चुनावों में खर्च भी इतना अधिक होता है कि साधारण आदमी उम्मीदवारी के लिए खड़ा रहने की हिम्मत ही नहीं कर सकता। इस कारण पूंजीपतियों का मार्ग निष्कण्टक हो जाता है और अन्त में वे ही शेष समाज पर शासन करते हैं।

---

[1] "दि पोलिटिकल मैड हाउस इन अमरीका ऐंड नियरर होम" पृ० २१, २२

फिर इन बड़े-बड़े लोकोंवाली चुनाव-पद्धति में काम केवल यन्त्रवत् होता है। उसमें आनन्द नहीं आता। राजनैतिक दल अथवा उनके स्थानीय सब ग्रुप अपने उम्मीदवारों का चुनाव करने में बड़ी सख्ती बरतते हैं और अक्सर ऐसे उम्मीदवार खड़े कर दिये जाते हैं जिन्हें मतदाता स्वयं जानते भी नहीं। इन चुनावों में किसी भी दल को स्थानीय लोगों और कामों में प्रायः कोई दिलचस्पी नहीं होती क्योंकि शासन-कार्य तथा कानून बनाने में भी सत्ता का केन्द्रीकरण बहुत अधिक होता है। इसलिए तमाम लोकतन्त्री देशों के मतदाता इन सब बातों से एकदम उदासीन हो गये हैं और जब भी चुनाव आते हैं, मतदाताओं को प्रायः खींच-खींचकर ही वोट डलवाने के लिए ले जाया जाता है। संयुक्त राज्य अमरीका जैसे प्रगतिशील देश में भी जिन लोगों को वोट देने का अधिकार है, उनकी आधी संख्या भी अपने इस अधिकार का उपयोग करने चुनाव-केन्द्रों पर नहीं जाती। वहां सिरों (मस्तिष्क) की नहीं केवल हाथों की गिनती होती है और वोटों की भी केवल गिनती होती है, वोट देनेवाले कौन हैं इसकी परवा ही नहीं की जाती वहां स्वभावतः बुद्धिमानों को कोई रुचि और उत्साह नहीं होगा।

राजनैतिक दल और संगठन

इन दिनों इतने राजनैतिक दल खड़े हो गये हैं और इनके संगठन इतने व्यवस्थित हैं कि लोगों को स्वतंत्र रूप से विचार करने के लिए कोई अवकाश ही नहीं रहने दिया जाता। एक आदमी किसी स्थान के लिए बहुत योग्य उम्मीदवार हो सकता है, परन्तु यदि वह दलों के नेताओं में से किसी का अपना आदमी नहीं है तो उसे टिकट मिलने की कोई आशा नहीं। दलों के उम्मीदवारों के लिए भी विधान-सभाओं में दल के सचेतकों को बार-बार हिदायत जारी करनी पड़ती है। मेरा मतलब यह नहीं है कि वर्तमान दलीय पद्धति में एक भी अच्छाई नहीं है। राष्ट्रीय महत्त्व के विषयों के बारे में मतदाताओं को शिक्षित करने में ये काफी उपयोगी हैं परन्तु बात यह है कि आजकल के दल बहुत ठोस और सख्त हो गये हैं। जी० ए० आर० कार्ड के शब्दों में "दल-पद्धति में एक प्रकार से धार्मिक कट्टरता

भा गई है। लोकमत को वह इस प्रकार बांट देती है कि सही-सही लोकमत क्या है यह अनुमान लगाना बड़ा कठिन हो जाता है। एच जी वेल्स कहते हैं कि हमारी वर्तमान चुनाव-पद्धतियां प्रतिनिधि-शासन का मजाक-भर हैं। इसने मतदातिक महासागर के दोनों तरफ दलों के बड़े-बड़े बुद्धि रहित और भ्रष्ट संगठन-यंत्र खड़े कर दिए हैं। विधान-सभाओं में जिस प्रकार से विवाद होता है वह बड़ा झूठा और अवास्तविक होता है क्योंकि हरकोई जानता है कि हर महत्व के विषय में सभा का निर्णय दलों के मत-बल के अनुसार ही होगा। इसलिए आज की प्रतिनिधि-सभाएं केवल विवाद के अखाड़े रह गई हैं। लोगों के दिलों में उनके प्रति बड़ी तेजी से निरादर बढ़ता जा रहा है।

केन्द्रीकरण

युद्धों के खतरों से भरे हुए इस संसार में लोगों को आक्रमण का भय सदा बना रहता है और इसके फलस्वरूप सरकार अपने हाथों में अधिक-से अधिक सत्ता लेती जा रही है। इस सत्ता के इस अत्यधिक केन्द्रीकरण में लोकतंत्र मृग-मरीचिका और महंगा प्रदर्शन-मात्र रह गया है। विधान सभाओं का काम बढ़ गया है। इसके कारण कोई भी काम अच्छी तरह नहीं हो पाता। समय और शक्ति का अपव्यय तथा अकारण देरी बहुत हो जाती है। फिर इसमें प्रजातन्त्र के इस बुनियादी सिद्धान्त की भी रक्षा नहीं हो पाती कि "जिस विषय का सम्बन्ध सबसे हो उसका निर्णय सब मिलकर करें।

संक्षेप में वर्तमान प्रजातन्त्र में ये सारे दोष हैं। और भी कई आसानी से गिनाये जा सकते हैं। अभी तो इतना ही कहना काफी होगा कि आज वह चौराहे पर खड़ा है। उसे जिन्दा तो रहना ही है परन्तु वह जाय किधर ?

गांधीजी का मार्ग

इस संकट में से वह कैसे पार हो, इसके लिए अनेक विचारकों ने समय

'प्रिंसिपिल्स ऑफ पालिटिक्स' पृ. ६२

अलग मार्ग बताये हैं। श्री रैम्जे म्योर ने अपनी पुस्तक 'इज डेमोक्रैसी ए फेल्योर' में इसके उपाय के रूप में सुझाया है कि सब प्रजातन्त्र में सिंगल ट्रांसफरेबल वोट के द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति शुरू की जानी चाहिए। इस पद्धति में यह अच्छाई है कि बहुत छोटी संख्यावाला दल चुनाव में बहुमत नहीं प्राप्त कर सकेगा और सदन में देश के सब वर्गों को प्रतिनिधित्व मिल जायगा। इसके अलावा सदनों के कार्य-भार को हल्का करने के लिए म्योर ने सुझाया है कि सदन में समिति-पद्धति शुरू कर दी जाय। ये सुझाव निःसन्देह व्यावहारिक हैं परन्तु ये समस्या की केवल कोर को छूते हैं। आनुपातिक प्रतिनिधित्व तो अच्छा है पर अकेला नहीं काफी नहीं। इसी प्रकार शासन और कानूनों के निर्माण में सत्ता का जो केन्द्रीकरण हो रहा है उसमें यह समिति-पद्धति देश को मुक्ति नहीं दिला सकेगी। कोई चाहे तो केवल यह एक आशा है कि जैसे-जैसे मनुष्य-समाज का बौद्धिक और नैतिक विकास होता जायगा उसकी सहानुभूति और कर्तव्य-जागृति बढ़ती जैसे-जैसे सारी बुराइयां अपने-आप धीरे-धीरे चली जायंगी। परन्तु केवल इस शुभ आशा के आधार पर हम नहीं रह सकते। यह प्रजातन्त्र को इन दोषों से मुक्त नहीं कर सकेगा। समस्या कठिन है। इसके लिए कोई रचनात्मक और ठोस उपायों का अवलंबन करना होगा। प्राध्यापक लास्की को आशा है कि धन की सम्पन्नता के बीच विपन्नता की समस्या है, उसे यदि निहित स्वार्थों का राष्ट्रीयकरण करके हल कर लिया जाय तो प्रजातन्त्र शुद्ध और स्थायी भी हो सकता है। परन्तु क्या इस प्रकार संपत्ति का राष्ट्रीयकरण काफी होगा? हम पहले देख ही चुके हैं कि रूस में संपत्ति को राष्ट्र की सम्पत्ति बना देने पर किस प्रकार वहां फौजी अनुशासन और अधिनायक-तन्त्री सत्ता स्थापित हो गई है। सर स्टैफर्ड क्रिप्स चाहते हैं कि अब शासन की कोई ऐसी पद्धति ढूंढ़ने की जरूरत है जिसमें केन्द्रित राजसत्ता की कार्यक्षमता के साथ आर्थिक संयोजन भी हो और वह सांस्कृतिक तथा राजनैतिक स्वतन्त्रता भी हो जो कि केवल प्रजातन्त्र में ही हो सकती है और इसका सम्पूर्ण समन्वय हो। परन्तु यह सुझाव तो बड़ा अस्पष्ट

'कार्ल डेमोक्रैसीज' पृ० १११
'डेमोक्रैसी अप टु डेट' पृ० १०

है। एक सफल प्रजातन्त्री नेता में क्या-क्या गुण होने चाहिए, इसकी एक लम्बी सूची पेश करते हुए चेकोस्लोवाकिया के राष्ट्रपति एडवर्ड बेन्स ने लिखा है—"ऐसे पुरुष के अन्दर अनेक गुणों का सुन्दर समन्वय हो उच्च कोटि की अन्तःप्रेरणा सहजबुद्धि संस्कार-शीलता वैज्ञानिक की निष्पक्ष और शोधक बुद्धि हो। इसके साथ-साथ तुरन्त निर्णय करने तथा तत्परता के साथ अमल करने की शक्ति भी हो सबल शरीर और नैतिक साहस भी उतना ही जरूरी है।"[1] परन्तु ऐसे सर्वगुण-सम्पन्न सुयोग्य नेता मिलते कहाँ हैं?

बर्नार्ड शा का अपना एक मौलिक सुझाव है। उनकी राय यह है कि बालिग मताधिकार लोकतंत्र को निष्प्राण कर देता है। 'टाइम एण्ड टाइड' के पिछले किसी अंक म वह लिखते हैं "मैं प्राणिशास्त्र की उस शाखा का विद्यार्थी हूँ जिसे मानव-स्वभाव कहा जाता है। जिस संसार में जनता की आवाज को भगवान की आवाज कहा जाता है और इक्कीस वर्ष से ऊपर के हर मनुष्य की राजनैतिक बुद्धि और चातुर्य अनन्त और कभी भूल न करने वाला माना जाता है कम-से-कम मेरे लिए तो वह सपने का संसार है। वह कभी नहीं था और मेरी बुद्धि कहती है कि न कभी होगा। इसलिए मैं कहता हूँ कि सबसे अच्छा आदर्श तो यह है कि सुयोग्य और परखे हुए पुरुषों की परिषद् बनाई जाय। इनके कामों और निर्णयों की कड़ी-से-कड़ी आलोचना करने का अधिकार और अनुभव के अनुसार समय-समय पर इन आदमियों को बदलने का अधिकार भी जनता को हो।[2] शॉ कहते हैं कि लोकतन्त्र के भक्तों का काम यह है कि वे कोई कसौटी ढूंढ निकालें जिसकी मदद से वे जनता में से अच्छे-से-अच्छे विधायकों को ढूंढ-ढूंढकर उनकी एक सूची बना लें और इनमें से फिर अपने उम्मीदवार चुनें। इस प्रकार शॉ सर्वसत्ताधारी प्रजातन्त्र के माननेवाले हैं। इस महान् नाटककार के प्रति सम्पूर्ण आदर प्रकट करते हुए क्या हम उनसे पूछे कि ऐसे प्रतिभावानों की कसौटियाँ क्या होंगी? उन्हें कौन ढूंढ निकालेगा? जाहिर है कि स्वयं ये महान् विधायक खुद ही सामने आकर अपने-आपको समाज के उद्धारक

[1] 'डेमोक्रेसी टुडे एण्ड टुमारो' पृ. २१२
[2] 'एवरीमैन्स पोलिटिकल व्हाट्स व्हाट' पृ. १४१

और देवता कहकर पेश कर दिया करेंगे। इस प्रकार सत्तालोलुपता या सर्वसत्ताधारी लोकतन्त्र लोकतन्त्र नहीं सर्व-सत्ताधारी अधिनायक तन्त्र ही रह जायगा।

फिर लोकतन्त्र किस मार्ग पर चले ? मेरा जवाब है कि गांधीजी के बताये मार्ग पर चले। इसके दो बुनियादी सिद्धान्त हैं—अहिंसा और विकेन्द्रीकरण। इनपर हम कुछ विस्तार से चर्चा करें।

अहिंसा

महात्मा गांधी की राय है कि लोकतन्त्र की रक्षा अहिंसा के द्वारा ही हो सकती है क्योंकि जबतक वह हिंसा का सहारा लेता रहेगा वह गरीबों की रक्षा नहीं कर सकता और न उनका भला कर सकता। "लोकतन्त्र के बारे में मेरी कल्पना यह है कि उसके अन्दर बलवान-से-बलवान के लिए जो अवसर होते हैं वे कमजोर-से कमजोर के लिए भी उपलब्ध हों। हिंसा में यह कभी नहीं हो सकता। "पश्चिम में आज जो लोकतन्त्र काम कर रहा है वह नाजीवाद या फासिज्म का एक हलका-सा मिश्रण-मात्र है। बहुत-से बहुत तो उसे नाजीवाद या फासिस्टवाद के साम्राज्यवाद को छिपानेवाला आवरण मात्र कह सकते हैं। और "लोकतन्त्र और हिंसा साथ-साथ रह ही नहीं सकते। आज जो लोकतन्त्र का नाम धारण किये हुए राज्य हैं उन्हें या तो ईमानदारी के साथ खुल्लमखुल्ला सर्व-सत्ताधारी बनना होगा या उन्हें सचमुच लोकतन्त्री ही बनना है तो हिम्मत करके अहिंसा का अनुगामी बनना होगा।"[१] यदि ऐसा नहीं हुआ तो लोकतन्त्री शासन-पद्धति कैवल काल्पनिक चीज बनी रहेगी। पूंजीपति समाज तो शोषण की साक्षात् प्रतिमा है और शोषण मात्र की आत्मा है हिंसा। इसलिए शोषण को निर्मूल करने के लिए अहिंसक समाज अथवा अहिंसक राज्य की स्थापना जरूरी है। निश्चय ही ऐसा समाज या राज्य आर्थिक समानता और स्वतन्त्रता के आधार पर ही कायम किया जा सकता है क्योंकि बगैर आर्थिक न्याय के सच्चा राजनैतिक लोकतन्त्र सम्भव ही नहीं।

हरिजन १८-५-१९४
[१]हरिजन १२-११-१९३

तो यह आर्थिक समानता और स्वतन्त्रता कैसे लाई जाय ? एक रास्ता यह है जो सोवियत रूस ने अपनाया है अर्थात् सारी सत्ता सर्वहारा-वर्ग के हाथ में दे दी जाय और दूसरों की कमाई खानेवाले सभी लोगों को निर्ममता से कुचल दिया जाय। सर्वहारा-वर्ग का जीवन भी इसमें इतने कठोर अनुशासन में जकड़ दिया जाता है कि स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र का कहीं अवशेष नहीं रह पाता। इस प्रकार बीमारी से बुरा उसका इलाज साबित होता है। जैसा कि बोरिस ब्रुत्कुस ने कहा है—"मनुष्य के व्यक्तित्व को खा जानेवाला हॉब्स का बताया राक्षस न तो पुराने राजाओं का राज था न लोकतन्त्र ही है। वह निवास करता है समाजवादी राज्य में।" मैक्स ईस्टमन शुरू-शुरू में सोवियत रूस का बड़ा प्रशंसक रहा है, परन्तु बाद में उसकी भी आंखें खुल गई— "अब मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि जब एक सुसंगठित अल्पसंख्यक दल—सर्वहारा वर्ग के प्रतिनिधियों के नाम पर, रोम के वैभव की रक्षा के नाम पर नॉर्डिक कौम की श्रेष्ठता के नाम पर या दूसरे किसी भी नाम पर हिंसा के द्वारा सत्ता हथिया लेता है फिर वह सर्वसाधारण जनता के साथ अपना सम्बन्ध किसी भी तरह बनाये रखे वह निरंकुश हो ही जाता है। उसकी सत्ता समाज के अंग-अंग पर छा जाती है।"[2] ऐसे राज्य को आजकल लोग भले ही टोटेलिटेरियन स्टेट कहें, परन्तु उसमें अत्याचार के वे सभी तरीके हैं जो कि काम में लाये जा सकते हैं। यह अत्याचार भले ही युद्ध अथवा की सफलता और कार्यक्षमता के नाम पर किया जाय वह मनुष्य के व्यक्तित्व के स्वतन्त्र और स्वाभाविक विकास का तो गला घोंट ही देता है। जैसा कि जॉन स्टुअर्ट मिल ने कहा है "हमें नहीं भूलना चाहिए कि राज्य का मूल्य अन्ततोगत्वा उसके निवासियों की जीवन की स्थिति पर ही निर्भर करेगा। जो राज्य अपनी जनता को दबाकर छोटा बना देता है, इस उद्देश्य से भी कि किसी भी अच्छे काम में वे चुपचाप उसका साथ देते रहें वह अन्त में पायगा कि ऐसे लोगों की मदद से वह कोई भी बड़ा काम नहीं कर सकेगा।"[3] इसलिए यह अत्यन्त जरूरी है

[1] 'इकोनॉमिक प्लैनिंग इन सोवियत रशा' पृ. ८५
[2] 'स्टालिन्स रशा ऐंड क्राइसिस इन सोशलिज्म' पृ० १
[3] 'ऑन लिबर्टी'—एवरीमैन्स लाइब्रेरी, पृ. १४३

कि लोकतन्त्र का विकास अहिंसा की पद्धति से ही हो।

विकेंद्रीकरण

तब अहिंसक लोकतन्त्र का आधार क्या है? वह है विकेन्द्रीकरण। हिंसा अनिवार्य रूप से केन्द्रीकरण की तरफ ही ले जाती है। अहिंसा की आत्मा है विकेन्द्रीकरण। गांधीजी हमेशा इस प्रकार आर्थिक और राजनैतिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर जोर देते रहे हैं जो न्यूनाधिक परिमाण में स्वावलम्बी और स्वशासित हमारी ग्राम-पंचायतों के रूप में इस देश में रहा है। वे इन संस्थाओं को अहिंसक संगठनों के नमूने मानते हैं। उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि इस प्राचीन पंचायत-प्रथा को फिर उसी रूप में पुनर्जीवित किया जाय। आज की बदली हुई परिस्थितियों के अनुरूप उनमें जरूरी फेर बदल अवश्य ही करने होंगे। फिर वे भी पूरी तरह निर्दोष थीं ऐसी बात भी नहीं है। परन्तु यह तो मानना ही होगा कि विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था और स्वायत्त शासन के रूप में उनमें एक आदर्श आर्थिक और राजनैतिक संगठन के बीज जरूर थे। इसलिए गांधीजी की यह निश्चित राय है कि भारत का भावी विधान मुख्यतः इन ग्राम-पंचायतों के आधार पर ही बनाया जाय क्योंकि स्थानीय शासन में वे स्वतन्त्र हैं। आर्थिक दृष्टि से भी स्वाश्रयी होती हैं। वे एक-दूसरे से बंधी हुई नहीं गुम्फित हैं। उनमें सीधा-सच्चा प्रजातन्त्र है। ग्रामोद्योगों पर आधारित अहिंसक ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था है और अपने क्षेत्र के सब मनुष्य आपस में एक-दूसरे से पूरी तरह परिचित होते हैं। गांधीजी कहते हैं "राज्य वह सबसे अच्छा है जहां शासन कम-से-कम होता है।

राजनैतिक सत्ता को इस प्रकार विकेन्द्रित करके छोटी-छोटी इकाइयों में बांटने की बात पर केवल गांधीजी ही जोर नहीं देते हैं पश्चिम के अधिकांश प्रगतिशील विचारक भी अब इसी नतीजे पर पहुंच रहे हैं। प्लूरा-लिस्ट, गिल्ड सोशलिस्ट, सिंडिकलिस्ट और अनार्किस्ट सभी प्रजातंत्र में सत्ता के विभाजन को तो आवश्यक ही मानते हैं। वे चाहते हैं कि यह विभाजन काम के आधार पर हो। आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में अत्यधिक केन्द्रित सत्ता को सब बुरा मानते हैं। अध्यापक जोड कहते हैं, "यदि आप चाहते हैं कि सामाजिक कार्य में जनता की श्रद्धा हो तो राज्य को विभाजित करके

१ 'हरिजन' १-८-३९

उसके कामों का बंटवारा करना ही होगा। 'हर मनुष्य के लिए यह अनुकूलता होनी चाहिए कि अनेक छोटी-छोटी संस्थाओं से उसका सम्बन्ध रहे जो उत्पादन प्रशासन-सम्बन्धी विविध काम करती हों उनमें काम करते हुए उसे एक बार फिर यह भान होने लगेगा कि वह निरर्थक नहीं है। उसका भी कुछ महत्व है और यह कि वह समाज के लिए सचमुच कुछ कर रहा है।' तो इसका अर्थ यह होगा कि सरकार के यन्त्र का आकार छोटा करना होगा। अच्छी प्रकार से उसे चलाया जा सके इस हेतु से उसे स्थानीय रूप देना होगा। इससे अपनी राजनैतिक हलचलों का परिणाम लोग स्वयं देख सकेंगे और उन्हें विश्वास हो जायगा कि जहां स्वशासन काम करता है समाज पर उसका प्रत्यक्ष असर पड़ता है क्योंकि समाज भी तो आखिर वे ही हैं। प्राध्यापक कोल कहते हैं "लोकतन्त्र केन्द्रीकरण के विरुद्ध है क्योंकि वह एक भावना है जो तुरन्त और वहीं प्रकट होना चाहती है। जब-जब भी समाज को अपनी इच्छा प्रकट करने की जरूरत महसूस हो उसे इसका अवसर मिलना ही चाहिए। "उसे एक बड़े प्रवाह के रूप में एकत्र करने और मोड़ने का प्रयत्न करने से उसकी अपनी स्वाभाविक प्रेरणा मारी जाती है।"[1] अपनी पुस्तक 'फेबियन सोशलिज्म' में प्राध्यापक कोल आगे लिखते हैं—"यदि हम चाहते हैं कि अधिक-से-अधिक स्त्री-पुरुषों में राजनैतिक चेतना जागे वे हर चीज को समझने लगें और कुछ करने भी लगें तो हमें उसे कार्यकर्ताओं—मजदूरों की छोटी-छोटी इकाइयों—में बांट देना चाहिए। प्राध्यापक लास्की इनसे लिखते हैं—"अच्छी समाज-व्यवस्था की ओर जाना है तो उसका मार्ग लोकतन्त्र और उत्तरदायी स्वशासन ही है। सत्ता के केन्द्रीकरण का अर्थ है व्यक्ति की स्वतन्त्रता का दमन किया जाना और जनता पर फौजी अनुशासन का अधिकाधिक लादा जाना। अबतक जहांपर लोकतन्त्री शासन रहा है वहां भी यह होने लगता है। हम कभी-कभी भूल जाते हैं कि आखिर लोकतन्त्र मनुष्य के लिए है लोकतन्त्र के लिए मनुष्य नहीं। लोकतन्त्र तो एक साध्य का साधन-मात्र है। इसलिए मनुष्य-समाज की सामाजिक और मानसिक

[1] 'माडर्न पॉलिटिकल थ्योरी' पृ ११०-११

'ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स' २६२

आवश्यकताओं के अनुकूल उसमें अपने अन्दर फेर-बदल करते रहना चाहिए। आधुनिक समाज-शास्त्र का यह सिद्धांत है कि "छोटी-छोटी इकाइयों में मनुष्य सबसे अधिक सुखी होता है।"[1] रॉप्के आगे लिखते हैं कि "यदि हम इस 'मानव-तत्त्व' की उपेक्षा करेंगे और छोटे-छोटे सामाजिक संघ नहीं बनायेंगे तो नव संसार की रचना करनेवाली हमारी तमाम बड़ी-बड़ी योजनाएं चूर-चूर हो जायेंगी। कार्ल मानहीम कहता है "जहां आत्मिक स्नेह-बन्धन नहीं होते वहां मनुष्य जी ही नहीं सकता—जैसे कि आइस्टर कीड़ा बगैर सीप के नहीं जी सकता। प्राथमिक सम्बन्धों के समूहों में वर्ग-भावना मनुष्यों को निकट लाती है और उनमें पारस्परिक बन्धु भाव निर्माण करती है। सच्चा लोकतन्त्र वहीं अच्छी तरह से काम कर सकता है जहां इस प्रकार स्नेह की भावना और पारस्परिक जवाबदारी होती है। परन्तु आज के लोकतन्त्रों में सत्ता का केन्द्रीकरण इतना बढ़ गया है कि वहां ये भावनाएं पैदा हो ही नहीं सकतीं। इसीलिए तो प्राध्यापक ऐडम्स आधुनिक प्रतिनिधित्व राज्यों के दोषों का विश्लेषण करने के बाद हमें 'बुराई की जड़ की तरफ ले जाते हैं' और कहते हैं कि "हमें राज्य के *साथ विकेन्द्रीकरण का अवलम्बन करके सत्ता को बांटना चाहिए।*"[3] प्राध्यापक लास्की विकेन्द्रीकरण की सलाह इसलिए देते हैं कि जहां अत्यधिक केन्द्रीकरण होता है, "वहां लोगों को केवल आज्ञापालन करना पड़ता है। और केवल आज्ञापालन के वातावरण में स्वतन्त्र सर्जन हो ही नहीं सकता। वहां मनुष्य यन्त्रवत निष्प्राण और जड़ बन जाता है, क्योंकि केन्द्रीकरण में तो टकसाली समानता होती है। वहां रस-रंग का नाम तो होता नहीं। *विख्यात समाज-शास्त्री लेविस ममफोर्ड की सिफारिश है* कि "देहात में छोटी-छोटी संतुलित इकाइयां हों। इन इकाइयों में स्वशासन का अधिक-से-अधिक अवसर मिल सकता है। तब वे सच्चे और प्राणवान प्रजातन्त्र को चलानेवाली प्रशिक्षण देनेवाली शालाएं बन जाती हैं। नौकरशाही मनोवृत्ति को दूर करनेवाली ये रामबाण औषधियां होंगी। स्थानीय

[1] 'दि ह्यूमन फेस ऑफ इकोनॉमिक सोसायटी'—रॉप्के पृ. ९२१

[2] 'मास्टर पीस' पृ. २१२

[3] 'एन इन्ट्रोडक्शन टु पॉलिटिक्स' पृ. ५९

प्रश्नों की वहां सबको जानकारी होगी। इसलिए उनपर चर्चा करके उनके सही हल ढूंढने में बड़ी मदद मिल सकेगी। लार्ड ब्राइस कहते हैं 'प्रजातन्त्र का जन्म प्रारम्भ में इन छोटे-छोटे समाजों में ही हुआ। प्रजातन्त्र के साहित्यकारों और पैगम्बरों ने इसके सिद्धांतों को यहीं से पाया। जनता की इच्छा का स्थानीय शासन पर किस प्रकार असर पड़ता है इसका अध्ययन नहीं किया गया क्योंकि वहां जो-जो भी प्रश्न विचारार्थ पेश होते थे उन सबको वे जानते थे।'[1] गांवों में और छोटे-छोटे समाजों में स्थानीय शासन के कार्यों का वर्णन करते हुए डॉ॰ बेनीप्रसाद लिखते हैं

"स्वशासन की आदर्श इकाई वह छोटा-सा समाज होगा जहां हर आदमी दूसरों को जानता है। जैसा कि अरस्तू ने कहा है वहां सब एक-दूसरे के चरित्र से परिचित होते हैं। गांवों में या छोटे-छोटे कस्बों में या ऐसे ही समाजों के स्वायत्त शासन में सीधे प्रजातन्त्र के सब लाभ आपको दिखाई दे सकते हैं। वहां नागरिकों में आपको स्वदेश-प्रेम मिलेगा जो आदमी को अपने स्वार्थ से ऊपर उठा देता है उसमें सहयोग की आदतें पैदा करता है और ऐसे करोड़ों लोगों को शासन-प्रबन्ध का प्रशिक्षण देता रहता है तथा जटिल समस्याओं के बारे में विचार करके निर्णय करने की शक्ति प्रदान कर देता है। ऐसा अवसर उनको अन्यथा मिल ही नहीं सकता क्योंकि बड़ी बड़ी प्रतिनिधि-सभाओं के सदस्य चुने जाने की या दूर की राजधानियों में बड़ी नौकरी पाने की वे आशा ही नहीं कर सकते। कस्बों और जिलों की स्वायत्त शासन-संस्थाएं केन्द्रीय धारा-सभाओं और शासन का काम काफी हलका कर देती हैं। आजकल के बड़े-बड़े राज्यों में चुनाव-क्षेत्र बहुत बड़े होते हैं। साधारण आदमी तो उनमें खो ही जाता है- परन्तु यह छोटी-छोटी इकाइयोंवाली पद्धति मनुष्य को खो जाने से बचा लेती है। ये चुनाव-क्षेत्र मनुष्य के दिल में एक प्रकार का भय अथवा ऐसी तुच्छता का भाव पैदा कर देते हैं जैसा कि विशाल प्राकृतिक शक्तियों के सामने मनुष्य अनुभव करता है। इससे सारे समाज में जो बेचारगी/दीनता उत्पन्न हो जाती है, उसका ये स्वायत्त-संस्थाएं बहुत अच्छा इलाज हैं।

[1] 'माडर्न डेमोक्रेसीज' भाग-१ पृ॰ ७८१
[2] 'दि डेमोक्रेटिक [illegible]

यूनान के नगर राज्य

यूरोप में यूनान के नगर राज्यों में पूरा स्वायत्त-शासन था। संपूर्ण राजनैतिक सत्ता नगर के नागरिकों के हाथों में थी। लॉर्ड ब्राइस लिखते हैं यह संस्था संसद, सरकार, धारा-सभा न्यायशाला और देश में शासन करनेवाली सबकुछ स्वयं थी। लोग नित्य एक-दूसरे के संपर्क में आते रहते थे। इसलिए अलग से किसी संगठित राजनैतिक दल की जरूरत ही नहीं होती थी। फिर आज की भांति चुनावार्थ चुनाव-प्रचार की भी जरूरत नहीं होती थी क्योंकि मतदाता इतने थोड़े होते थे कि उनकी सभा में एक आदमी की आवाज अच्छी तरह सुनी जा सकती थी और नेतृत्व या किसी अधिकारवाले पद के लिए जो भी उम्मीदवार होता उसके बारे में अपनी निजी जानकारी के आधार पर लोग अनुकूल या प्रतिकूल राय दे सकते थे। ये नगर राज्य छोटे-छोटे ही होते थे क्योंकि ऐसे राज्यों में ही सार्वजनिक जीवन सम्भव था। प्लेटो की राय में आदर्श राज्य वह था जो व्यक्ति के शरीर से अधिक-से-अधिक समानता रखता हो। यदि शरीर के किसी अंग में दर्द है तो सारे शरीर को पीड़ा होती है। ऐसी आदर्श सह-अनुभूति छोटे समाज में ही संभव है। यूनानियों के लिए तो नगर एक प्रकार का सह-जीवन था। जैसा कि अरस्तू कहता था "उसका संविधान एक कानूनी रचना के बजाय प्रत्यक्ष एक जीवन-पद्धति थी।"

मेरा मतलब यह नहीं है कि यूनान के राज्य सब तरह से परिपूर्ण थे। उनमें भी कुछ कमियां जरूर थीं। उदाहरण के लिए उनकी गुलाम-प्रथा को कौन अच्छी कहेगा? परन्तु हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि उनका और खासतौर पर एथेन्स का मेल जोलभरा और शान्त सह-जीवन सारे यूरोप के चिंतन और संस्कृति का महान शक्तिशाली उद्गम-स्थान बन गया। जैसा कि प्राध्यापक डेलाइल बर्न्स कहते हैं, "एथेन्स का जीवन और स्वाधीनता बड़े निर्माणकारी थे। उन्होंने कितनी ही चीजों को जन्म दिया है। सच तो यह है कि एथेन्स का इतिहास कलाकारों कवियों और तत्त्वज्ञानियों के जीवन का इतिहास रहा है। ऐसा किसी दूसरे नगर के बारे में हम नहीं कह सकते। थोड़े समय में स्थापत्य-कला मूर्ति-कला, नाटक और तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी

ऐसी कृतियाँ कोई भी जाति संसार को प्रदान नहीं कर सकी है।"[1]

भारत के ग्रामीण प्रजातन्त्र

औद्योगिक क्रान्ति से पहले यूरोप के बहुत-से देशों के गाँवों में स्वायत्त शासन प्रचलित था। प्रिन्स क्रोपाटकिन ने अपनी 'म्यूचुअल एड' नामक पुस्तक में इन ग्रामीण समाजों का काफी अच्छा वर्णन किया है। चीन और जापान की इन विकेन्द्रित ग्रामीण संस्थाओं के पुराने-से-पुराने चर रहे हैं परन्तु स्वायत्त स्थानीय शासन की इस ग्रामीण संस्था का "विकास संसार में सबसे पहले भारत ने ही किया और अधिक-से-अधिक समय तक उसने इसकी रक्षा भी की है।"[2]

सच तो यह है कि वैदिक काल से भारत में गाँव शासन की इकाई माने जाते रहे हैं। ग्राम के नेता को ग्रामणी कहा जाता था। इसका ऋग्वेद में (१ ६२ ११ १ ७ ५) उल्लेख है। जातकों में भी ग्राम-सभाओं का उल्लेख पाया जाता है। व्यापारियों के संघों को श्रेणी कहा जाता था। वेदों के बाद के समय में भी ग्राम राजनैतिक शासन की इकाई माना जाता रहा है। विष्णु पुराण और मनुस्मृति में शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम ही मानी गई है।[3] धर्म-सूत्रों और धर्म-शास्त्रों में भी गण और पूग का उल्लेख बार-बार आता है। ये दोनों शब्द क्रमशः ग्राम-सभा और नगर सभाओं के पर्याय प्रतीत होते हैं। असंख्य शिलालेखों ताम्रपत्रों आदि के रूप में पुरातत्त्व साहित्य में भी स्थानीय स्वायत्त संस्था-प्रणाली के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं।

भारत में यह ग्राम-पंचायतों की प्रथा हिन्दू शासन-काल मुस्लिम शासन-काल और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आगमन से पूर्व पेशवाओं के काल तक पूरी तरह काम कर रही थी। राजवंशों और साम्राज्यों के उत्थान पतनों का उनपर कोई असर नहीं हुआ। इन छोटी-छोटी स्वशासित स्थानीय संस्थाओं ने उन दिनों में कवच की ढाल की भाँति समाज की रक्षा की।

---

[1] 'पोलिटिकल प्राब्लिम्स' पृ० ४१

[2] 'दि इकनामिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया'—आर. सी. दत्त

[3] 'कारपोरेट लाइफ इन एन्शियेण्ट इण्डिया'—आर. सी. मजूमदार, पृ० १४०

जब चारों तरफ राजनैतिक उथल-पुथल मचती और अस्थिरता छा जाती तब समाज इन संस्थाओं के संरक्षण में अपनी राष्ट्रीय संस्कृति की रक्षा करता हुआ शान्ति से रह सकता था। राजा इन पंचायतों से केवल जमीन का लगान और राज्य-कर वसूल कर लिया करते और तमाम स्थानीय बातों के प्रबन्ध में ये संस्थाएं स्वतन्त्र होती थीं। सर चार्ल्स मेटकाफ ने लिखा है—"भारत जितनी धार्मिक और राजनैतिक क्रान्तियों में से गुजरा है उतना संसार का कोई देश नहीं गुजरा है। परन्तु इन सबके बीच ग्राम-पंचायतें अपनी पूरी शक्ति से काम करती रही हैं। जमीन के मार्ग से सीथियन, ग्रीक, सारसेन, अफगान, मुगल और मराठों ने आकर अपने राज्य यहां कायम किये। इसी प्रकार समुद्र के मार्ग से पुर्तगीज, डच, अंग्रेज, फ्रांसीसी और डेन एक के बाद एक आये और उन्होंने भी अपने राज यहां कायम किये। परन्तु इनके आने-जाने का इन पंचायतों के कार्य पर कोई असर नहीं हुआ। समुद्र में आनेवाले ज्वार-भाटे से अप्रभावित चट्टानों की तरह वे अविचलित रहीं।"[1]

परन्तु विधि की इच्छा कुछ और ही थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी के भ्रान्त और विवेकशून्य शासन ने इन ग्राम-पंचायतों को धीरे-धीरे तोड़ दिया। पूरे गांवों से इकट्ठा लगान लेने के स्थान पर उसने रैयतवारी—हर किसान से लगान लेने की पद्धति—विचारपूर्वक जारी कर दी। पंचायत प्रथा पर यह वज्राघात था। इसके साथ-साथ न्यायदान और शासन-प्रबन्ध से सम्बन्धित सारे अधिकार भी पंचायतों से छीन लिये गए। क्रमशः पंचायतें पूरी तरह निष्प्राण कर दी गईं।

सर हेनरी मेन ने अपनी पुस्तक 'विलेज कम्यूनिटीज इन दि ईस्ट ऐंड दि वेस्ट' में लिखा है—"भारत की ग्राम-पंचायतें मृत नहीं जीवित संस्थाएं थीं।" बेडन पॉवेल ने 'इंडियन विलेज कम्यूनिटी' में इनका विस्तृत विवरण दिया है। प्राध्यापक अलतेकर ने 'हिस्ट्री ऑफ विलेज कम्यूनिटीज इन वेस्टर्न इंडिया' पुस्तक में हमारी पंचायतों की कार्यपद्धति का कीमती विवरण है। परन्तु इस विषय का सबसे उत्तम ग्रन्थ तो डॉ॰ राधाकुमुद मुकर्जी

[1] 'लोकल गवर्नमेंट इन एंशियेण्ट इंडिया'—राधाकुमुद मुकर्जी पृ० १
'[illegible] ऑफ इंडिया' पृ० २१

का 'डेमोक्रेसीज ऑफ दि ईस्ट' कहा जायगा।

भारत के इन ग्रामीण गणतन्त्रों के संगठन का सविस्तर वर्णन करना इस पुस्तक में सम्भव नहीं। मैं तो केवल इतना ही कहूंगा कि स्वायत्त शासन की इस ग्रामीण संस्था का विनाश ब्रिटिश शासन के बुरे-से-बुरे कामों में से एक है। अंग्रेजों ने यहां अपने ढंग का स्वायत्त शासन स्थापित करने का यत्न जरूर किया है, परन्तु वह चीज विदेशी है भारतीय नहीं। इसी कारण वह बुरी तरह असफल रही। जैसा कि डॉ॰ ऐनी बेसेन्ट ने लिखा है "अधिकारी पुराने मामों को रहने देते हैं परन्तु पुरानी पंचायतों का चुनाव तो स्वयं गांवों के मुखिया करते थे और पंचायतें गांव की जनता के प्रति जिम्मेदार थीं। परन्तु इन नई पंचायतों के पंच तो सरकारी अधिकारियों के प्रति जिम्मेदार होते हैं। पहले की तरह लोगों के प्रति नहीं। अब तो इन अफसरों को खुश रखना इनके लिए अधिक लाभदायक होता है।

हम मानते हैं कि प्राचीन ग्राम-पंचायतें एकदम निर्दोष नहीं थीं फिर भी स्वायत्त शासन और सच्चे प्रजातन्त्र की दिशा में वह एक अनूठा प्रयोग था। आजकल जो एक ही स्थान पर सत्ता का अत्यधिक केन्द्रीकरण हो गया है, उसके कारण नीचे सामाजिक जीवन नाम की वस्तु ही नहीं रह गई है और इससे वहां का राजनैतिक जीवन निष्फल और बनावटी बन गया है। फिर व्यक्ति और समाज अथवा राज्य के हित कदम-पर-कदम टकराने लग गये हैं। लेकिन भारत की पंचायत-पद्धति में इन परस्पर-विरोधी हितों में सफलतापूर्वक समरसता प्रदान कर दी गई और स्थानीय सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन को मानवीय और निर्माणकारी बना दिया गया। जैसाकि आचार्य विनोबा भावे ने लिखा है "इन ग्राम-समाजों में हर आदमी अपने मन का राजा था और फिर भी अपने अन्य ग्राम-भाइयों के साथ वह अटूट बन्धन से बंधा हुआ था।"[३] इसमें वहां हर व्यक्ति को अपना पूरा विकास करने की स्वतन्त्रता थी वहां वह इस छोटे-से राज्य का

---

[१] 'दि पॉलिटिकल इंस्टिट्यूशन्स एण्ड थ्योरीज ऑफ दि हिन्दूज' में डा॰ बी॰ के॰ सरकार ने लिखा है कि मध्ययुग में ग्राम-समाजों को 'पंचायतें' कहा जाता था।

[२] 'इण्डिया : बाउण्ड ऑर फ्री' पृ॰ २१

[३] 'स्वराज्य शास्त्र' (हिंदी), पृ॰ ४७

एक जिम्मेदार और उपयोगी सदस्य भी होता था। ग्राम-पंचायतों में राजनैतिक सत्ता का जो विकेन्द्रीकरण होता था वह स्वभावतः पश्चिम के विकेन्द्रीकरण और सत्ता के विभाजन से बिल्कुल दूसरी प्रकार का था। भारतीय विकेन्द्रीकरण में काम का तथा प्रदेश की बात का भी ध्यान होता था जिससे समाज में सन्तोष और राजनैतिक जीवन में प्रेरणा बनी रहती थी।

भारत की प्राचीन ग्राम-पंचायतें उन बहुत-से दोषों से भी मुक्त होती थीं, जो आधुनिक प्रजातन्त्री सरकारों में पाये जाते हैं। आर्थिक प्रश्न पैदा ही नहीं हो पाता था। इसलिए रिश्वतखोरी और भ्रष्टाचार के लिए वहाँ लगभग कोई गुंजाइश नहीं थी। संगठित और आक्रामक पूंजीवाद भी पैदा नहीं हुआ था इसलिए इस लोकतन्त्र के उसका गुलाम बन जाने का खतरा भी पैदा नहीं हुआ था। चुनाव-क्षेत्र छोटे-छोटे थे। इसलिए चुनाव प्रायः सर्व सम्मति से और बड़ी स्वाभाविकता से हो जाते थे। गांव के जिन बड़े-बूढ़ों के प्रति सबके हृदय में आदर होता वे बिना किसी परेशानी के बड़ी आसानी से चुन लिये जाते थे और प्रचार में एक पाई भी खर्च करने की जरूरत नहीं होती थी। विकेन्द्रीकरण अत्यंत व्यापक होने के कारण और शासन स्थानीय होने के कारण ग्राम-सभाओं में काम की भीड़ भी अधिक नहीं होती थी। इस प्रकार भारत की यह प्रजातन्त्री पद्धति अत्यन्त कार्यक्षम भावात्मक सफल और अहिंसक थी जबकि आधुनिक लोकतन्त्र अधिकांश में असफल प्रेरणाहीन अभावात्मक निष्फल और हिंसक है। इसलिए यह उचित होगा कि हम अपनी देशी संस्थाओं को ही पुनर्जीवित करें और उन्हीं को स्वराज्य की शासन-पद्धति का आधार बनावें। डॉ. राधाकमल मुकर्जी ने ठीक ही कहा है कि पश्चिम की राजनैतिक पद्धतियों की नकल करने की अपेक्षा भारतीय पद्धति का विकेन्द्रित लोकतन्त्र न केवल हमारे लिए अधिक अनुकूल और जीवनदायी सिद्ध होगा बल्कि वह मानव-जाति के इतिहास में एक मूल्यवान देन होगी जो आज पश्चिम की आक्रमक सत्ताओं के और बड़े-बड़े साम्राज्यों की विविध और उलझन-भरी हरकतों से परेशान है।" डॉ. मुकर्जी आगे लिखते हैं

"भारतीय पद्धति समाज के लिए एक नये प्रकार के राजनैतिक यन्त्र का

आधार बन जायगी जो विभिन्न स्थानीय कार्यकारी वर्गों से अपना मेल बैठा लेगी और फिर वर्तमान संसद-पद्धति अथवा रोमानों-ट्यूटॉनिक शासन-पद्धति की अपेक्षा अधिक संतोष-जनक शासन-यन्त्र संसार को प्रदान कर सकेगी। यह सामाजिक और राजनैतिक प्रयोगों का युग है। अतः पूर्वी एशिया की जातीय और समन्वयात्मक सहज बुद्धि के आधार पर की गई रचना इस युग के इन प्रयोगों के लिए सचमुच बड़ी समृद्ध और मूल्यवान सामग्री प्रदान करेगी। आवश्यकता इस बात की है कि एशियावासियों का यह वर्तमान बौद्धिक और नैतिक प्रयास जारी रहे। आज तो यन्त्र के समान जड़ और शोषण करनेवाले शासनतन्त्र के संस्थागत नियमों में मानवता बंधी पड़ी हुई है। आज सबसे अधिक जरूरत इस बात की है कि किसी नये सिद्धान्त के आधार पर शासन-विधान बनाये जायें जिससे मनुष्य और उसके सम्बन्धों को नये स्वाभाविक और नवीले ढलों की तरफ मोड़ा जाय ताकि वह अपनी बुद्धि और गुणों को अधिक मुक्त रूप से प्रकट कर सके।

विकेन्द्रीकरण का अर्थशास्त्र

ग्रामीण समाजवाद में बहुत लाभ हैं परन्तु देश को छोटे-छोटे विकेन्द्रित सहकारी मंडलों में संगठित करने में भी सम्पत्ति के समान-वितरण में बड़ी मदद मिल सकती है। आज का पूंजीवादी समाज जिसके अन्दर उत्पादन के साधन पूंजीपतियों के हाथ में रहते हैं संसार में स्थायी शान्ति और समृद्धि लाने में असफल सिद्ध हुआ है। दूसरी तरफ समाजवाद ने पूंजीपतियों को बड़ी निर्ममता के साथ उखाड़ फेंका है। रूस के साम्यवाद ने उत्पादन के साधनों पर अधिकार करके अपनी जनता के रहन-सहन का स्तर बढ़कर ऊपर उठा दिया है, परन्तु वह भी कोई निर्दोष वरदान नहीं है। उसने संयोजन के जो महान यन्त्र खड़े कर दिये हैं, उनके कारण वहां साधारण मानव या तो खो गया है या यन्त्रवत् जड़ बन गया है। इसके अतिरिक्त रूस ने भी आस-पास के देशों में अपने पैर फैलाना शुरू कर दिया है। उस का उद्देश्य शायद ऊंचा भी हो परन्तु अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में सोवियत रूस की कार्रवाइयों को देखकर हम निश्चिन्त नहीं रह सकते। साम्राज्यवाद

¹डेमोक्रेसी ईस्ट एंड वेस्ट पृ० ५५-५६

चाहे पूंजीवादी देशों का हो या रूस का हम उसे अच्छा नहीं मानते। बड़े पैमाने पर संपत्ति का राष्ट्रीयकरण हो और साथ ही वहां सत्ता का केन्द्री करण हो उसके आक्रमणकारी और साम्राज्यवादी बनने की बड़ी संभावना रहती है। उससे हम न्याय पर आधारित नई समाज-रचना की आशा नहीं कर सकते जिसके अन्दर छोटे-बड़े सभी देशों को शान्ति स्वतंत्रता कल्याण का आश्वासन मिल सकता हो।

तो फिर उपाय क्या है? विकेन्द्रित ग्रामोद्योगोंवाली पद्धति ही एक मात्र रास्ता बता सकती है। भारत की ग्रामीण व्यवस्था में एक संतुलित अर्थ-रचना का विकास हो गया था जिसमें स्वतन्त्र व्यापार और पूरी तरह नियमित व्यापार इन दोनों छोरों को छोड़कर एक मध्यम मार्ग को ग्रहण किया गया था। अनेक प्रयोगों के बाद पूंजीवाद और साम्यवाद के बीच यह सुनहरा रास्ता उन्होंने ढूंढ निकाला था। खेती के क्षेत्र में भी उन्होंने एक ऐसी आदर्श सहकारी पद्धति ढूंढ निकाली थी जिसके अन्दर अमीरों द्वारा गरीबों के शोषण की आशंका ही कोई गुंजाइश रह जाती हो। जैसा कि गांधीजी कहा करते थे उस पद्धति में उत्पादन वितरण और उपयोग सब साथ-साथ होते थे। कारीगरों के घरों में या घरों के समान ही छोटे-छोटे कारखानों में स्थानीय और तात्कालिक उपयोग के लिए ही चीजें बनाई जाती थीं दूर के बाजारों के लिए नहीं। इस प्रकार उत्पादन जब छोटे पैमाने पर और स्थानीय लोगों की जरूरतें पूरी करने के लिए स्वावलम्बन की पद्धति पर ही किया जाता था तब स्वभावतः पूंजीपतियों को शोषण का मौका ही नहीं मिल पाता था। इससे अपने-आप एक प्रकार से आर्थिक समानता पैदा हो जाती थी। न किसीकी स्वतन्त्रता का अपहरण होता था और न किसीको दूसरे पर हावी होने का मौका मिलता था। इसलिए कहना होगा कि आज संसार में गांधीजी को आदर्श के अनुसार गृहोद्योगों को पूंजीवादी तरीकों पर नहीं सहकारिता के आधार पर संगठित करने की जरूरत है। यदि जापान की भांति कुछ पूंजीपतियों को गृहोद्योगों के संगठन-संचालन का काम दे दिया जायगा तो कारीगरों का शोषण होता ही रहेगा। वे केवल मजदूर बने रहेंगे।

पुराने ग्रामीण समाजों में अपने कुछ दोष भी थे। उदाहरण के लिए

जात-पांत की प्रथा बड़ी कठोर और दुखदायी थी। उन भेद-भावों में कोई समझ की बात नहीं थी। तब कुछ धनपति सेठ भी होते ही थे। इन समाजों के बीच धार्मिक या राजनैतिक सम्बन्धों की बड़ी कमी थी। आज के स्तर को देखते हुए शायद उनका रहन-सहन भी अच्छा नहीं था। फिर भी ये ग्रामीण गणतन्त्र बहुत गहरे चिन्तन और अनुभव के आधार पर बनाये गए थे और इनमें ऐसी आर्थिक व्यवस्था के सिद्धान्त भरे पड़े हैं कि यदि आज हम भी उनसे लाभ उठाना चाहें तो अनेक बुराइयों से हमें छुट्टी मिल सकती है, जो आज हमें दिन-रात परेशान करती रहती है।

आज यन्त्रों ने मनुष्य को नगण्य कर दिया है। दिन रात भीमकाय और शोर मचानेवाले यन्त्रों के साथ कारखानों में काम करते-करते वह अपने-आपको भूल ही जाता है कि मैं भी कुछ हूं। इसके विपरीत छोटे-छोटे घरों में रखने लायक और कारीगरों तथा किसानों के बोझ को हलका करने-वाले यन्त्र हों तो गांधीजी उनका जरूर स्वागत करेंगे। रोजी देने की दृष्टि से भी गृहोद्योगों का विस्तार बहुत लाभदायक होगा। आज पश्चिमी देशों में भी समायोजन का सबसे नया नारा है—सबको पूरा काम। क्या बड़े यन्त्रों-वाले कारखानों की सहायता से उत्पादन करने से हम अपने सब नागरिकों को पूरा काम दे सकते हैं? अमरीका और इंग्लैंड में यन्त्रों का ही राज्य है। परन्तु वे भी अपने सब नागरिकों को आज पूरा काम नहीं दे पा रहे हैं। वहां लाखों—शायद करोड़ों आज भी बेकार हैं। तब चालीस करोड़ की आबादीवाले इस देश में हम और अधिक मिलें और कारखाने खड़े करके कैसे अपनी आबादी को पूरा काम दे सकेंगे? आज देश के बड़े-बड़े और भारी उत्पादन करनेवाले तमाम कारखानों और मिलों में मिलकर हम मुश्किल से बीस लाख आदमियों को काम दे पाते हैं। बम्बई योजनावालों की सिफारिशों के अनुसार यदि इन कारखानों की संख्या बढ़ाकर पांच गुनी कर दी जाय तो भी हम अधिक-से-अधिक एक करोड़ आदमियों को काम दे सकेंगे। परन्तु जो शेष बचेंगे उनका क्या होगा? आज तो भारत के किसान के पास भी पूरा काम नहीं है। अपनी आय को बढ़ाने के लिए उसे स्वयं किसी सहायक उद्योग की जरूरत है। इसलिए हमारे देश की वर्तमान स्थिति में सही उपाय ग्रामोद्योग का अधिक-से-अधिक व्यापक

प्रकार ही है। उत्पादन को एक ही जगह केन्द्रित करने के बजाय देश के असंख्य गांवों में उसे फैलाकर सुसंगठित कर दिया जाय। हां आधुनिक आर्थिक संयोजन में कुछ खास-खास और महत्वपूर्ण बड़े उद्योग भले ही बने रहें, परन्तु गांधीजी की यह निश्चित राय रही है कि ऐसे कारखाने सरकार के ही हों और सरकार ही उनको चलाये।

हमें यह आशंका नहीं होनी चाहिए कि ये ग्रामीण उद्योग आर्थिक दृष्टि से लाभदायक नहीं होंगे। हेनरी फोर्ड इस युग के सबसे बड़े उद्योगपतियों में से एक रहे हैं। उनकी राय है कि "आम तौर पर बड़े यन्त्र लाभदायक नहीं होते।"[1] इसलिए उत्पादन को केन्द्रित करना कोई बुद्धिमानी की बात नहीं है। फोर्ड का कहना है कि "जिस चीज का उपयोग सारे देश में होता है, उसे सारे देश में बनाया जाना चाहिए। इससे परिवहन का खर्चा बचेगा और सारे देश के लोगों की खरीदने की शक्ति समान रूप से बढ़ेगी। फोर्ड का अब अगला आदर्श "सम्पूर्ण विकेन्द्रीकरण ही है। इसमें यन्त्र छोटे-छोटे होंगे और उन्हें ऐसे स्थानों पर रखा जायगा कि उनपर किसान और उद्योगपति दोनों साथ-साथ काम कर सकेंगे। इससे कर्मचारी न केवल अधिक आजादी का अनुभव करेंगे बल्कि अनाज और यन्त्रों का बना सामान भी अधिक सस्ता हो सकेगा।"[2] सैंकिस ममफोर्ड की भी राय यही है कि भिन्न-भिन्न चीजों का उत्पादन करनेवाले छोटे-छोटे सीधे-सादे यन्त्र बड़े यन्त्रों की अपेक्षा अधिक लाभदायक होते हैं।[3]

पूंजीवादी समाज बड़े पैमाने पर केन्द्रित उत्पादन का ही पक्षपाती है। परन्तु उसने संसार को दो महासंहारक महायुद्धों में ढकेला है। इन युद्धों में धन-जन का जो नाश हुआ है, क्या वह केन्द्रित उत्पादन के सिर नहीं मढ़ा जाना चाहिए? अगर इस व्यावहारिक ढंग से सोचें तो यान्त्रिक उत्पादन सचमुच बड़ा महंगा साबित होगा।

---

[1] 'टुडे ऐंड टुमॉरो' पृ० १६
[2] 'मूविंग फॉरवर्ड' पृ० ११
[3] 'टेक्निक्स ऐंड सिविलिजेशन' पृ० १५२

विकेन्द्रीकरण का तत्त्व ज्ञान

एक बात और भी हमें समझ लेनी चाहिए। केवल आर्थिक और राजनैतिक कारणों के कारण ही गांधीजी विकेन्द्रीकरण की सलाह नहीं दे रहे हैं। विकेन्द्रीकरण में जो सादे जीवन और उच्च विचार का आदर्श है असल में वह गांधीजी को बहुत प्रिय है। विख्यात विज्ञान-शास्त्री आइन्स्टीन की भी यही राय है कि 'परिग्रह बाह्य सफलता प्रसिद्धि और ऐश मेरे लिए हमेशा तिरस्कार की वस्तुएं रही हैं। मैं तो मानता हूं कि दम्भ-रहित सीधा सादा जीवन ही हर आदमी के लिए—उसके शरीर और मन के लिए भी—उत्तम होता है।'[१]

परन्तु सादगी का अर्थ स्वेच्छापूर्ण गरीबी और सदा लंगोटी लगाये रहना नहीं है। जरूरतें और कम-से-कम आवश्यक सुख के साधनों के बारे में गांधीजी का माप काफी ऊंचा है परन्तु उनके 'सुखी जीवन' में ऐश के लिए कोई स्थान नहीं है। रहन-सहन के स्तर को नहीं स्वयं जीवन को ऊंचा बनाने की उन्हें चिन्ता सदा रही है।

सादगी के आदर्श के साथ-ही-साथ मानवी मूल्यों का प्रश्न जुड़ा हुआ है जो बापू के टकसालवाले बाजारू मूल्यों से बिल्कुल भिन्न वस्तु है। गांधीजी के लिए तो मानव ही सबसे प्रमुख है, प्रोटैगोरस के शब्दों में "वही सब चीजों का मानदण्ड है। मुद्रा की अर्थ-व्यवस्था के स्थान पर वह "जीवन की अर्थ-व्यवस्था" के समर्थक हैं। सामाजिक और आर्थिक पुनर्निर्माण के इस मानवी पहलू पर खादी और ग्रामोद्योग की हलचल में खास तौर पर जोर दिया गया है। "खादी-भावना का अर्थ है संसार के प्रत्येक मानव के साथ सहानुभूति।"[२] आज के व्यवसायी के लिए तो सबसे बड़ा भगवान पैसा है। परन्तु गांधीजी के लिए आत्मा की कीमत देकर अखिल विश्व का वैभव भी हेय है।

गांधीजी के विकेन्द्रीकरण के तत्त्व-ज्ञान में दूसरी मौलिक बात है शरीर-श्रम की पवित्रता। "सबसे बड़े दुर्भाग्य की बात तो यह है कि करोड़ों

---

[१] 'मार्ई बिलीफ' पृ ७०

[२] 'यंग इण्डिया' १७-९-१९२७

लोगों ने हाथों से काम लेना ही छोड़ दिया है।"[१] गांधीजी के विचार में तो श्रम ही जीवन है। वह अभिशाप नहीं वरदान है।

आदमी थोड़ा भी विचार करेगा तो ज्ञात हो जायगा कि सादगी मानवी मूल्य और श्रम की पवित्रता के आदर्शों की जड़ में अहिंसा है, जो गांधी-विचार का मूलाधार है। वह लिखते हैं—"जब अहिंसा पर आधारित जीवन का चित्र मैं अपनी आंखों के सामने खींचने लगा तो मैंने देखा कि वह सादा-से-सादा हो—बेशक वहांतक कि वह मनुष्यता को शोभा दे और उच्च विचारों के अनुकूल हो। अहिंसा पर आधारित जीवन समाज की तो छोटी-छोटी इकाइयों या गांवों में ही सम्भव है, जहां लोग प्रेम से एक-दूसरे के साथ स्वेच्छापूर्वक सहयोग करते हैं और शान्ति तथा गौरव से रहते हैं। अहिंसा पर आधारित सभ्यता की ओर जाने का सबसे सीधा रास्ता है भारत की ग्राम-पंचायतें जो अभी-अभी तक वहां काम कर रही थीं। मैं स्वीकार करता हूं कि वे एकदम निर्दोष नहीं थीं। मैं यह भी जानता हूं कि मैं जिस अहिंसा की बात करता हूं और जो मेरी कल्पना में है वह भी उनमें नहीं थी परन्तु इसके बीज उसमें जरूर थे।"[२] इसलिए गांधीजी बड़े जोर के साथ 'ग्राम-प्रधान' सभ्यता का समर्थन करते हैं। "मेरी कल्पना की ग्राम-व्यवस्था में शोषण है ही नहीं और शोषण ही तो हिंसा की जड़ है।"[३]

गांधीजी अहिंसा को संसार की सबसे बड़ी शक्ति मानते हैं। जीवन का वह सर्वोच्च धर्म है। "गुरुत्वाकर्षण का नियम जिस प्रकार पृथ्वी को अपने मार्ग पर स्थिर रख रहा है उसी प्रकार सामाजिक जीवन का आधार यह अहिंसा धर्म है।"[४] अथवा जैसे कि टी. एच. ग्रीन ने कहा है—"राज्य का आधार बल नहीं संकल्प है।"[५] पिछले दो महायुद्धों ने पूरी तरह सिद्ध कर दिया कि मानव-जाति का उद्धार हिंसा के मार्ग से कदापि नहीं हो

---

१ 'हरिजन' २६-६ १९४२
२ 'हरिजन' १०-१ १९
३ 'हरिजन' १ १९४६
४ 'हरिजन' ११ १ १९३६
५ प्रिंसिपिल्स ऑफ पॉलिटिकल आबलिगेशन

सकता और जैसा कि राष्ट्रपति ट्रूमन ने कहा था कि अब यदि कहीं और एक महायुद्ध हुआ तो मानव-जाति नहीं बचेगी। विज्ञान ने जो अद्‌भुत प्रगति की है उसने इस बात को आइने की तरफ साफ बता दिया है। आज संसार को हिंसा और अहिंसा के बीच नहीं बल्कि हिंसा और विज्ञान के बीच चुनाव करना है। हम दोनों को लेकर नहीं चल सकते। इसका ज्वलन्त प्रमाण है एटम बम। हिंसा और विज्ञान साथ-साथ चलते रहे तो उसका परिणाम क्या हो सकता है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह एटम बम है। कहा जाता है कि अमरीका ने एक और किस्म के बम का आविष्कार किया है जिसके मुकाबले में यह एटम बम निरी आतिशबाजी का-सा खेल होगा। इसलिए सभ्यता और मानवता के लिए अब हमारे सामने सिवा इसके कोई चारा नहीं रह गया है कि हिंसा की नीति को पूरी तरह से छोड़ दिया जाय। एटम बम के द्वारा संसार का विनाश करने के बजाय हमें एक छोटे से-छोटे कण में सम्पूर्ण विश्व का दर्शन करने की कला सीख लेनी होगी। यदि हम ऐसी कला प्राप्त नहीं करेंगे तो संसार का विनाश निश्चित है।

सामाजिक पहलू

सामाजिक दृष्टिकोण से देख तो भी विकेन्द्रित ग्रामीण समाज-व्यवस्था की तरफ ही हम पहुंचते हैं। आधुनिक शहरों के घनी बसावटवाले जीवन की अपेक्षा ग्रामों का खुला जीवन राष्ट्रीय स्वास्थ्य और स्वच्छता की दृष्टि से बड़ा जरूरी है। शहरों में बड़ी गड़बड़ी और शोर होता है। भले ही धीरे-धीरे, परन्तु मनुष्य की स्नायु-प्रणाली पर उसका विपरीत असर जरूर पड़ता है जो शरीर और मस्तिष्क दोनों के लिए ही बड़ा हानि कर होता है। हमारा शहरी जीवन इन दिनों यंत्रों के कारण बड़ा निरानन्द और जड़ बन गया है। इसमें आनन्द और चैतन्य तभी आ सकेगा जब सब मनुष्यों को खुले खेतों और घरों में रखे हुए यन्त्रों पर स्वतन्त्रता पूर्वक काम करने का अर्थात् ग्रामीण जीवन का लाभ मिलेगा।

राष्ट्र के स्वास्थ्य की दृष्टि के अलावा 'गांवों को लौटो' आन्दोलन जीव-जगत में मनुष्य-जाति को जिन्दा रखने की दृष्टि से भी आवश्यक है। पश्चिम के अनेक औद्योगिक देशों में पाया गया है कि पिछले कुछ दशकों

में यहां की आबादी बराबर घटती जा रही है। माल्थस को संसार की आबादी के बहुत अधिक बढ़ जाने का भय था परन्तु आधुनिक प्राणि शास्त्रज्ञों को यह चिन्ता सता रही है कि संसार की आबादी कम और उत्तरोत्तर कमजोर भी होती जा रही है। समाज-विज्ञान यह तो बताता ही है कि गांवों की अपेक्षा शहरों के लोगों की प्रजनन-शक्ति कम होती है। गांवों में बच्चे ऐसी परिस्थितियों में बड़े होते हैं कि वहां प्राणियों और पौधों में प्रजोत्पत्ति होती रहती है। वे जानते हैं कि यह सृष्टि का नियम ही है और नगर-जीवन केवल पूंजीवादी समाज की ही विशेषता नहीं है। समाजवादी राज्यों को भी मनुष्य-जाति कैसे जिन्दा रहे इस समस्या का मुकाबला करना ही पड़ेगा।

ग्रामीण जीवन में सामाजिक सुरक्षा और शान्ति भी होती है। पुराने जमाने में गांवों के लोग अपने आपको एक विशाल परिवार के रूप में मानते थे। एक व्यक्ति की मुसीबत सारे गांव की मुसीबत मानी जाती थी। यदि किसीके यहां चोरी होती तो शेष समाज उसकी पूर्ति कर दिया करता। किसीका मकान जल जाता तो गांव के लोग जिसके पास मकान की जो सामग्री होती वह उसे देकर उसका मकान खड़ा कर देते। यदि किसी परिवार का मुखिया एकाएक मर जाता तो उसके बच्चों के पालन का भार सारा गांव उठा लेता। जनम-मरण की खुशी और दुख में सारा गांव शामिल होता। समाज में श्रम-विभाजन और पेशों की व्यवस्था इतनी अच्छी थी कि कोई बेकार नहीं रह पाता था। यह सच है कि गांवों में ईर्ष्या-द्वेष और छोटे-मोटे झगड़े भी होते रहते थे परन्तु उसका अर्थ यह नहीं था कि गांव की शान्ति श्मशान की शान्ति नहीं थी। यह भी जीवन की एक स्वाभाविकता थी।

जीवन का आनन्द

गांवों की ओर लौट जाने से जीवन में आनन्द भी फिर लौट आयगा। अपनी पुस्तक 'कॉरपोरेट लाइफ इन एन्शियेंट इंडिया' में डॉ० मजूमदार ने आनन्द प्राचीन काल से भारत के गांवों में मनोरंजन के साधनों का उल्लेख किया है। वैदिक काल में मनोरंजन-सभाएं होती थीं जिनको लोग बार

में 'गोष्ठी' कहने लगे थे। दिन-भर कठिन परिश्रम करने के बाद शाम को लोग किसी जगह एकत्र होते और संगीत नृत्य कहानियों विविध चर्चाओं और नये-नये स्थानीय समाचार सुनाकर अपना दिल बहलाया करते थे। मौर्य काल में त्योहारों और उत्सवों के प्रसंगों पर संगीत-समारोह वगैरा किये जाते। जीवन के दूसरे पहलुओं की भांति इनमें भी गांवों के लोग भाईचारा और सहकारिता की वृत्ति से प्रेरित होते थे। इनमें भाग न लेना एक प्रकार से पाप-सा समझा जाता था। ये प्राचीन परम्पराएं गांवों में आज भी जारी हैं। आज भी गांवों में मेले लगते हैं। उनके अपने नाच नाटक दंगल भजन-कीर्तन होते ही रहते हैं और इस प्रकार वे अपने जीवन को आनन्दमय बना लिया करते हैं।

इस प्रकार गांवों में कठोर परिश्रम और ईमानदारी की कमाई के साथ साथ मनोरंजन के साधन भी सीधे-सादे होते थे। इसके विपरीत बड़े-बड़े शहरों में ग्रामोफोन सिनेमा और रेडियो जैसे मनोरंजन के निर्जीव और यांत्रिक साधन होते हैं। वहां काम में सजीव स्वतन्त्रता भी नहीं होती। मजदूर को यंत्र की गति के साथ काम करना होता है। वह भी यंत्र के समान जड़ तथा निष्प्राण बन जाता है। जीवन में कोई आनन्द नहीं होता। काम से छुट्टी मिली और मनोरंजन करना चाहा तो वहां भी वही निर्जीव शोर और हलचलें। इस प्रकार उसका दिल भी यंत्र की तरह जड़ बन जाता है। विचारों में कोई नवीनता नहीं आ पाती। वह जीवन का प्याला आकण्ठ पीना चाहता है, परन्तु मिलता है उसे मृत्यु का पान।

कला और सौन्दर्य

आजकल के शहरी अपनी कला और सौन्दर्य पर गर्व करते हैं परन्तु उनका जीवन बनावटी और उनकी सभ्यता धनकों की सभ्यता है। उनकी कला टकसाली और सापेक्षानों की यान्त्रिक कला होती है। उसमें न जान होती है न गहराई। धन-कुबेरों के राज में कला और सौन्दर्य भी चांदी के टुकड़ों पर आंके जाते हैं। वहां मोरमुकुट के सौन्दर्य को कौन जाने! सीधे-सादे सौन्दर्य की दृष्टि से उन गगनचुम्बी भवनों में जिनपर आज के शहर गर्व करते हैं, कोई आकर्षण नहीं होता। वे निरे कबूतर-खाने हैं। [illegible]

के लोग खुले मैदानों और स्वास्थ्यप्रद मकानों में रहते हैं। मैं उन अंधेरे और पुराने खण्डहरों जैसे मकानों की बात नहीं कर रहा हूं, जो प्राचीन वैभव के केवल अवशेष हैं। ग्रामीण तो प्रकृति की प्रत्यक्ष गोद में रहते हैं। गांवों के कारीगर समाज की प्रत्यक्ष जरूरतों के लिए काम करते हैं, जो कि एक महान नैतिक सिद्धान्त है। इसलिए अपने काम में उन्हें आनन्द भी आता है। 'नतीजा यह होता है कि वे अच्छी और सुन्दर चीजें बना लेते हैं। काम करते-करते वे गाते हैं।'[1] स्त्रियां भी भोर में चक्की पर पीसते हुए गाती हैं। सिर पर घड़े रखकर जब वे कुएं पर पानी भरने जाती हैं तो सहेलियों के साथ अक्सर नाचने भी लग जाती हैं। दीवारों पर अपनी ग्रामीण कलम और रंगों से जो चित्र बनाती हैं उनमें कितना सौन्दर्य होता है। उनके गीतों और कविताओं में कितना जीवन और बल होता है। उनके नाचों और नाटकों में जो वास्तविकता होती है, उनकी बनाई चीजों में जो विविधता और अप्रतिम सौन्दर्य होता है, वह तथाकथित सभ्यों के साहित्य और काव्यों में कहीं ढूंढने पर भी नहीं मिल सकता।

भारत जैसे प्राचीन देश में कला और संस्कृति अरण्यों झोंपड़ों और गांवों से शहरों में फैली है। संपूर्ण चिन्तन और भावनाओं का स्रोत ऋषियों के अन्तःकरण रहे हैं, जो ग्रामीण वातावरण में रहते थे। रामायण और महाभारत जैसे महान ग्रन्थ विश्व-विद्यालयों के अध्यापकों अथवा पण्डितों ने नहीं लिखे हैं। अजन्ता के भित्ति-चित्रों जैसी अमर कला-कृतियां कला-भवनों के आचार्यों या संचालकों की बनाई हुई नहीं हैं। सर्जन से उन्हें इतना गहरा और सच्चा प्रेम था कि इन सन्त कलाकारों ने भावी संतति की जानकारी के लिए अपने नामों तक का कोई चिह्न उनमें नहीं छोड़ा है। 'कला कला के लिए' और 'कला जीवन के लिए' इस प्रकार की सूक्ष्म चर्चाओं में भी वे नहीं उलझे। उनके लिए तो स्वयं जीवन ही सबसे बड़ी कला थी।

राष्ट्र की सुरक्षा

विकेन्द्रीकरण तथा ग्रामीकरण विदेशी आक्रमणों से देश की सफलता पूर्वक रक्षा के लिए भी बहुत जरूरी है। यही आधुनिक युद्धों का बचाव है।

[1] 'कोआपरेटिव डेमोक्रेसी—जे. पी. वारबस पृ. ४

केन्द्रित उद्योग तो हवाई हमलों के लिए बड़े आसान निशान बन जाते हैं। थोड़े-से बम सारे राष्ट्रीय जीवन को अस्त-व्यस्त कर सकते हैं। इस प्रकार एक देश जिसके बड़े-बड़े उद्योग गिनती के खास-खास शहरों में बंटे हुए होते हैं युद्ध की दृष्टि से बड़ा असुरक्षित रहता है। चीन जो जापान के आक्रमणों का वर्षों तक मुकाबला कर सका इसका मुख्य कारण उसके औद्योगिक सहकारी संगठन ही थे। इन सहकारी संस्थाओं ने चीन के लगभग सभी गांवों को अपनी जरूरतों में स्वावलम्बी बना दिया क्योंकि देश के कोने कोने में इनका जाल बड़ा फैला हुआ है। "इन दिनों युद्ध बहुत संहारक हो गये हैं। इनका खतरा सदा बना रहता है और एक बार छिड़ जाने पर उनका अन्त कब होगा इसका कोई ठिकाना नहीं होता। ऐसी स्थिति में खाने और पहनने की जरूरत की चीजें हर स्थान पर मिल जानी चाहिए। यदि इन्हें दूर से लाना पड़ा तो कठिनाई के समय में समाज को बड़ा कष्ट होगा। इसलिए जब विकेन्द्रीकरण युद्ध की दृष्टि से भी बहुत जरूरी है तो देश में विकेन्द्रित उत्पादन की जो सुन्दर प्रणाली पहले ही से चल रही है उसकी उपेक्षा करना निरा पागलपन ही होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द्र

विश्व-शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम के बनाये रखने के लिए अनेक योजनाएं सुझाई जाती हैं। लीग ऑव नेशन्स के कवनेंट (संविधान) में अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को बातचीत अथवा पन्च-फैसले के द्वारा निपटाने की बात कही गई है परन्तु फासिज्म के आक्रमण के सामने वह सारी इमारत ढह गई। सान फ्रांसिसको की परिषद् ने अब विश्व-शान्ति के लिए एक नया चार्टर बनाया है। परन्तु उसका सार है तीन संसार पर तीन बड़ों का प्रभुत्व। अमरीका सोवियट रूस और ब्रिटेन अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस दल के मुखिया होंगे और यदि इन मित्रों का ही आपस में झगड़ा हो गया तो यह पुलिस दल क्या करेगा?

कई प्रसिद्ध विचारकों का सुझाव है कि अंतर्राष्ट्रीय अराजकता को मिटाने के लिए संपूर्ण संसार का एक ही राज्य बना दिया जाना चाहिए। एलीकजण्डर ने हाल ही में संयुक्त राष्ट्रसंघ से अपील की है कि शासी-

से-अच्छी एक ऐसा व्यावहारिक अंतर्राष्ट्रीय संगठन बना लिया जाय कि जो प्रभुसत्ता-संपन्न राज्यों से अलग हो। वह एक ऊंचे कानून पर आधारित हो। सारे राज्य समान रूप से उसके अधीन हों। विश्व-पुलिस उसकी अपनी हो ताकि सामूहिक रक्षा-व्यवस्था के द्वारा सब सुरक्षित रहें और सभी राष्ट्र-विरोधी हो जायं तो भी अकेले राष्ट्र को खतरा न रहे। सर विलियम बीवरिज अपनी पुस्तक 'दि प्राइस ऑफ पीस' में किसी ऐसी सत्ता की स्थापना का समर्थन करते हैं, जो सब राष्ट्रों से ऊपर हो और उसे बड़े तीन राष्ट्रों का सैनिक समर्थन हो। कुमनर वेल्स चाहते हैं कि भौगोलिक आधार पर[1] एक विश्व-संगठन बनाया जाना चाहिए। इन सारी योजनाओं में दो बात पहले से ही मान ली गई है—सामूहिक सुरक्षा और नि-शस्त्रीकरण। परन्तु इनमें समस्या के हल का प्रारम्भ सही जगह से नहीं होता।

यह बताने के लिए शायद किसी तर्क की जरूरत नहीं है कि तमाम युद्धों का बुनियादी कारण आर्थिक शोषण और संसार के बाजारों पर अधिकार करने का अत्यधिक लालच है। पिछले महायुद्ध के बाद अब मित्र राष्ट्र अपना निर्यात-व्यापार बढ़ाने की योजनाएं बड़ी तेजी से बना रहे हैं ताकि उनके घर में रहन-सहन का स्तर गिरने न पावे। बाजारों के लिए की जा रही यह साम्राज्यवादी दौड़ निश्चय ही उनमें ईर्ष्या और झगड़े पैदा करेगी जिसका परिणाम होगा एक नया विश्वयुद्ध। वह कितना भयंकर और संहारक होगा इसकी तो कल्पना करते भी डर लगता है। इसलिए संसार से युद्धों को मिटाना है तो पूंजीवाद को और उसके परिणाम—साम्राज्यवाद को समाप्त करना ही होगा। प्राध्यापक लास्की कहते हैं "राष्ट्रों के बीच शान्ति कायम करना है तो पहले एक राष्ट्र के अन्दर शान्ति स्थापित होनी चाहिए, और राष्ट्रों के अन्दर तबतक शान्ति स्थापित नहीं हो सकती जबतक कि वितरण की पद्धति पूर्ण नहीं होगी। ऐसी पद्धति केवल सहकारी सिद्धान्तों पर आधारित विकेन्द्रित औद्योगीकरण

'टेक्स पीस' पृ. १११
'वार और सिविलाइजेशन'
'फेस टु दी न्यू वर्ल्ड'

में ही अच्छी तरह काम कर सकती है। लालची साम्राज्यवाद पर प्रभाव-कारी प्रहार तो गृहोद्योग ही कर सकते हैं, और अंतर्राष्ट्रीय शांति का यही उपाय है। इसलिए आज संसार को सैनिक निःशस्त्रीकरण की नहीं आर्थिक निःशस्त्रीकरण की जरूरत है। 'राज्यों के अन्दर स्थानीय और प्रादेशिक चीजों के प्रति जितना भी अधिक प्रेम बढ़ेगा उतना ही संसार को छिन्न-भिन्न करनेवाली आक्रमणकारी राष्ट्रीयता को बढ़ने का अवसर कम मिलेगा।'[१]

पहले अपनी संभालें

विधि की यह एक विचित्र विडम्बना है कि मित्रराष्ट्रों ने पराजित जर्मनी के लिए विकेन्द्रीकरण का नुस्खा बताया है। पॉटसडम की बैठक में 'तीन बड़ों' ने निश्चय किया कि सारे जर्मनी में प्रजातंत्री सिद्धान्तों पर स्थानीय स्वायत्त शासन की पद्धति जारी कर दी जाय और खेती तथा शांतिपूर्ण गृहोद्योगों पर खास तौर पर जोर दिया जाय।

दूसरों के विचार जो कुछ भी हों मैं तो मानता हूं कि आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रों में यदि यह विकेन्द्रित शासन-पद्धति स्थापित कर दी जायगी तो हिटलर के देशों में जरूर यह शांति और स्थायी समृद्धि ले आयेगी। ध्यान देने की बात है कि शांतिपूर्ण गृहोद्योगों की स्थापना उस भूमि में स्थापित की जा रही है, जिसने हिंसा को उसकी तर्कशुद्ध परमावधि को पहुंचा दिया था? परन्तु दुःख की बात यही है कि यह विकेन्द्रीकरण जर्मनी में अन्दर से पैदा नहीं हुआ। यह दूसरों ने उसपर लादा है। फिर भी विजेता बहुत खुशियां न मनायें। मैं तो मित्रराष्ट्रों से कहूंगा "वैद्यराज पहले अपना इलाज तो कर लीजिये। बड़े अहंकार के साथ जो इलाज उन्होंने जर्मनी के लिए बताया है यदि उसपर स्वयं मित्रराष्ट्र भी अमल करने लग जायं तो संसार में निश्चित रूप से स्थायी शांति की स्थापना हो जाय क्योंकि इससे आक्रमण की वृत्ति ही चली जायगी नहीं तो संसार फिर ऐसे संकट की ओर चल पड़ेगा जैसा पहले कभी उसने नहीं देखा है।

१ [illegible]

हमारे आलोचक शायद पूछें कि "आप भारत को यह उपाय क्यों बता रहे हैं जो जर्मनी को प्रथम काल तक गुलाम बनाये रखने के लिए ऊपर लाया गया है ? इस प्रश्न का मेरा सीधा जवाब यह है कि यदि स्वतंत्र भारत इस पद्धति को अपने यहां स्वेच्छा से शुरू कर देगा तो न केवल यह अपने यहां शांति स्थापित कर लेगा बल्कि सारे संसार में शान्ति फैला देगा। जर्मनी पराजित पद-दलित और अपमानित देश है। छिपे-छिपे यह कोशिश करता रहेगा कि वह खूब भारी शक्ति का संचय कर ले और फिर से संसार पर छा जाय। भारत की स्थिति भिन्न है। वह एक दीप-स्तम्भ के समान होगा जो शोषण और साम्राज्यवाद के अंधेरे में भटकनेवाले राष्ट्रों का सदा मार्ग-दर्शन करता रहेगा। वह न दूसरे देशों का शोषण करेगा न दूसरों को अपना शोषण करने देगा।

क्या इसमें पुरानापन है ?

गांधीवाद की सबसे अधिक घिसी-पिटी आलोचना यह है कि यह तो घड़ी के कांटे को पीछे हटाता है और हमें मध्ययुग में ले जाता है। परन्तु ऐसे आक्षेप वे ही लोग करते हैं जिन्होंने उनकी बात को समझा ही नहीं है। गांधीजी यह जरा भी नहीं चाहते कि वे ग्रामीण समाज आपस में एक-दूसरे से अथवा शेष देश और संसार से कोई सम्बन्ध ही नहीं रक्खें। यह न तो सम्भव है और न इष्ट ही। गांधीजी चाहते हैं कि ग्राम राज्य स्वराज्य शासन की प्राथमिक इकाइयां हों और सामाजिक आर्थिक तथा राजनैतिक मामलों में उन्हें अधिक-से-अधिक स्वतंत्रता रहे। वे तहसील जिला प्रान्त और समस्त देश की लोक-सभा से समुचित भांति से सम्बद्ध रहें।

यदि किसीका यह ख्याल है कि प्राचीन काल में या मध्ययुग में भी ग्राम-पंचायतें एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न-भिन्न रहती थीं उनका भारत से कोई सम्बन्ध नहीं होता था तो यह गलत है। मनुस्मृति महाभारत कौटिल्य का अर्थशास्त्र और संस्कृत के अन्य अनेक ग्रन्थों में हम देखते हैं कि हर गांव में इसी प्रकार दस-दस बीसी-बीसी हजार-हजार गांव पर एक-एक अधिकारी होता था जो अपने नीचेवाले प्रदेश के काम-काज की देख भाल करता रहता था। यह सच है कि प्रत्येक गांव अपने आंतरिक प्रबन्ध में अधिक-से-अधिक

स्वाधीन होता था बशर्ते कि वह राष्ट्र की सुरक्षा और कार्यक्षमता में बाधक नहीं होता हो। ये ग्रामराज्य धीरे-धीरे अपने ऊपर के संघटनों में संघ-पद्धति से विलीन हो जाते। इस प्रकार एक के ऊपर एक स्वायत्त लोक-शासन के स्तर बिल्कुल ऊपर तक बनते जाते। डॉ राधाकुमुद मुकर्जी ने इन विविध शासकीय स्तरों की संस्थाओं के नाम बताये हैं जिन्हें सभा महासभा तथा मावर कहा जाता था। इस शासन-व्यवस्था का सबसे उत्तम वर्णन चोल-साम्राज्य के शासकीय संगठनों के रूप में पाया जाता है जिनका अधिक उल्लेख राजाओं के अनेक शिला-लेखों में आया है। सबसे छोटी बुनियादी इकाई था गांव और नगर जिन्हें क्रमशः उर और नगर कहते थे। ऊपरवाले संगठन को नाड अथवा कुरम कहते थे। कुरम के ऊपरवाले स्तर के संगठन का नाम था कोट्टम अथवा विसाया और उससे ऊपर था प्रान्त का संगठन जिसे मण्डल अथवा राष्ट्र कहा जाता था जो साम्राज्य का सबसे बड़ा भाग होता था। श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने भी अपनी पुस्तक 'हिन्दू पॉलिटी' में जनपद-व्यवस्था का वर्णन किया है जिसके अधीन अनेक छोटी-छोटी प्रादेशिक सभाएं होती थीं। इन सारे प्रमाणों से साफ सिद्ध होता है कि हमारी ग्राम-पंचायतों की पद्धति कहीं किसी असभ्य और जंगली जातियों के संगठन का अवशेष नहीं थी बल्कि वह संघ-पद्धति पर बनाया गया एक सुव्यवस्थित शासकीय संगठन था। आज यदि हम इस पद्धति को ग्रहण करना चाहें तो स्वाभावतः वह बहुत अधिक व्यवस्थित और सुसंगठित होगा। परन्तु इसमें मूल चीज है सत्ता का विकेन्द्रीकरण और व्यवस्थित वितरण। हमारी भावी शासन-व्यवस्था में इसका हमें सबसे अधिक ध्यान रखना होगा क्योंकि सैकड़ों वर्षों से अनेक उथल-पुथलों का सामना उसने किया है और अभी-अभी तक टिकी रही है। वह संगठन मध्ययुगीन नहीं आनेवाले युग के आदर्श राज्य के लिए एक नमूने की आदर्श-व्यवस्था होगी। डॉ राधाकृष्णन कहते हैं कि "ग्रामों की तरफ लौट चलो का मतलब फिर से जंगली अवस्था में लौट चलने से नहीं है। भारत की प्रकृति के अनुकूल जीवन बनाने का एकमात्र तरीका यही है जिससे उसे जीवन का हेतु और श्रद्धा प्रदान करके उसे सार्थक बनाया। मानव-जाति को सभ्य बनाये रखने का भी यही एक मार्ग है। भारत किसानों और मजदूरों का ग्रामीण समाज

का सर्गों में बसे मामर्मों का और तपोवनों का देश है। इसने संसार को बहुत-सी अच्छी और महान् बातें दी हैं। किसी मनुष्य या देश का बुरा नहीं किया और न किसीपर अपनी सत्ता लादनी चाही।"[1]

इतने पर भी यदि कोई झूठी आलोचक गांधीजी के विचारों को पिछड़े हुए और मध्ययुगीन कहता रहेगा तो मैं साफ-साफ कह दूंगा कि बनाम यह पिछड़ापन हमारी आज की सभ्यता और आधुनिकता से हजार गुना अच्छा है, जो शोषण उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद और आत्मा का नाश करनेवाले बड़े-बड़े युद्धों को लाई है। अगर इन्हीं सब चीजों का नाम प्रगति है तो ऐसी प्रगति को दूर से ही नमस्कार है।

अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्व-बन्धुत्व

हम बड़ी शान से अन्तर्राष्ट्रीयता की बातें करते हैं और गांधीजी के ग्रामवाद की खिल्ली उड़ाते हैं, परन्तु क्या हमने कभी यह भी समझने का यत्न किया है कि गांधीजी का यह ग्रामवाद हमारे तथाकथित अन्तर्राष्ट्रीयता से कहीं आगे बढ़ा हुआ है ? वह केवल अन्तर्राष्ट्रीयता नहीं विश्व बन्धुत्व भी चाहते हैं। अपने गांव प्रान्त देश और संसार के केवल मानव मात्र से नहीं बल्कि इस अनन्त विश्व के साथ तादात्म्य अनुभव करने की वे हमसे अपील करते हैं परन्तु यह तादात्म्य सिद्ध करने के लिए जमीन और आसमान के बीच निरन्तर उड़ते रहने की जरूरत नहीं है। अपनी छोटी-सी झोंपड़ी में शांति से बैठकर भी हम विश्व के साथ तादात्म्य सिद्ध कर सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्व-बन्धुत्व मन की अवस्थाएं हैं। इनका सम्बन्ध देश और काल से नहीं। ग्राम और विश्व के साथ मनुष्य एकसाथ एकता अनुभव कर सकता है। गांधीजी का मत है कि हमारे भौतिक जीवन का आधार ग्राम हो और विश्व-बन्धुत्व हमारा सांस्कृतिक अथवा आध्यात्मिक धाम हो। उनके स्वदेशी-धर्म का यह सार है। गांधीजी मानवता और विश्व की सेवा करना चाहते हैं परन्तु अपने निकटतम पड़ोसी और देश की सेवा के द्वारा। वह कहते हैं "मेरा स्वदेश-प्रेम सीमित भी है और व्यापक भी। "सीमित इस प्रकार कि अत्यन्त नम्रता के साथ मैं अपना ध्यान अपनी जन्म

[1] 'माडर्न माइंड'—रलोक ऐंड रिजेनरेशन आफ विलेज इंडिया नामक पुस्तक'

भूमि पर केन्द्रित कर देता हूं और व्यापक इस अर्थ में कि मेरी सेवा में दूसरों के साथ होड़ अथवा विरोध का भाव नहीं है। इस संसार में जो कुछ भी है उसके साथ में अपने-आपको एकरूप कर देना चाहता हूं।

नई सभ्यता

असल बात यह है कि गांधीजी का मार्ग कोई मध्ययुगीन जीवन की पद्धति नहीं बल्कि एक नई सभ्यता है। वर्तमान सभ्यता की बुराइयों को दूर करने के लिए बहुत-से 'भभूक' उपाय सुझाये गए हैं परन्तु अन्त में आकर सभी एक बात—हिंसा या जबरदस्ती—पर ज़ोर देते हैं। बास्टर सिपमन कहते हैं—"आधुनिक संसार पर अपना आधिपत्य स्थापित करने की अभिलाषा से भड़कनेवाले सब दलों का रूप यद्यपि अलग-अलग है तथापि शस्त्रों का खजाना तो सबका एक-सा ही है। उनके सिद्धान्तों में कोई भेद नहीं और सबके युद्ध-गीतों की तान समान है केवल शब्द कहीं-कहीं दूसरे हैं। सब मनुष्य के श्रम और जीवन पर जबरदस्ती करना चाहते हैं। उनका सिद्धान्त यह है कि मनुष्य का दुःख और अव्यवस्था दूर करने का उपाय यही है कि उन्हें अधिकाधिक बलपूर्वक संगठित किया जाय। वह कहते हैं कि 'राज्य-सत्ता की मदद से ही मनुष्य को सुखी बनाया जा सकता है।'"[1] यह राज्य-सत्ता मात्र मुख्य वस्तु बन गई है यही प्रबल प्रवाह है और जो इस बात को नहीं मानता—सर्वग्राही सत्ता और सर्वव्यापी संगठन में विश्वास नहीं करता—"वह दम्भू और प्रतिक्रियावादी है या उसे एक ऐसा मूर्ख समझ लीजिये जो प्रवाह के विरुद्ध तैरने की बेकार बेवकूफी करता है। महात्मा गांधी अकेले एक पुरुष हैं जो पिछले कुछ दशकों से लगातार अहिंसा और विकेन्द्रीकरण का उपदेश दे रहे हैं। पूर्व के सन्तों की बातों में जो सादगी सजीवता और वास्तविकता होती है, वह उनमें है।

डॉ. राधाकमल मुकर्जी लिखते हैं—

"राजनैतिक भविष्य के बारे में हमारी दृष्टि पूर्व की परम्परा का

'विज़म ऑफ गांधी'—रॉल वाकर, पृ. ८२

[1] 'दि गुड सोसायटी'—वाल्टर लिपमैन, पृ. १

अनुसरण करती है। इसमें मूक जनता पर बुद्धिजीवियों धनपतियों, राजाओं या सर्वहारा सत्ता द्वारा कोई बात जबरदस्ती से नहीं लादी जायगी। वह होगा किसानों का जनतन्त्र। पुराने समय से कर्म अर्थात् धन्धों और पेशों के आधार पर जो स्वाधीन समाज बने हुए हैं उनको लेकर ग्राम जिला और प्रान्तों के स्तर पर उत्तरोत्तर व्यापक बनते जाएँगे और इन सबका मिलकर राष्ट्र का एक सर्वोच्च संघ बन जायगा। वह एक ऐसा प्रजातन्त्र होगा जिसके अन्दर गाँवों के मन्दिरों और उपवन-बाग की प्राचीन पवित्र संस्कृति फिर से जी सकेगी और फिर भी उसमें आधुनिक वास्तविकता और सामाजिकता का नवजीवन भी होगा।

अपने एक वक्तव्य में इस नई सभ्यता की कल्पना गांधीजी ने दी है, जिसे वह अपनी भाषा में रामराज्य कहते हैं

"*धार्मिक भाषा में आप उसे पृथ्वी पर भगवान का राज्य कह सकते* हैं। राजनीतिक भाषा में वह पूर्ण प्रजातन्त्र होगा। उसमें गरीब अमीर, वर्ण जाति और विश्वास का कोई भेद नहीं होगा। वहाँ जमीन और राज्य-सत्ता पर समाज का अधिकार होगा। *न्याय तुरन्त किया जायगा न्याय सच्चा* और सस्ता होगा इसलिए आराधना (धर्म) वाणी और लेखनी की स्वतन्त्रता होगी। इस सबका आधार होगा नैतिक संयम जिसका पालन *लोग समझ-बूझकर करें। ऐसे राज्य का आधार सत्य और अहिंसा ही हो* सकते हैं और उसमें सुखी स्वावलम्बी और समृद्ध ग्राम-समाज ही होंगे।"[1]

मैं मानता हूँ कि वैधानिक शासन-सम्बन्धी गांधीजी की यह कल्पना *निरा सपना नहीं है बल्कि देश के अन्दर चल रहे धार्मिक संघर्षों और* अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों से बचने का एक व्यावहारिक और स्थायी हल है। जो इन कल्पनाओं को अव्यावहारिक सपने कहकर इनकी हँसी उड़ाते हैं वे *जरा आधुनिक सर्वघाती युद्ध से होनेवाले अवर्णनीय विनाश की कल्पना तो कर*। यदि हम सचमुच चाहते हैं कि ऐसा सर्वघाती महायुद्ध किसी भी हालत में फिर नहीं हो तो हमें अपने आर्थिक और राजनीतिक संस्थाओं *और संगठनों को नीचे से ऊपर तक पूरी तरह से बदलने का निश्चय*

---

[1] डेमोक्रेसी [illegible] पृ० [illegible]

[2] 'दि हिन्दू' [illegible], ४७

करना होगा। ये तथाकथित प्रगतिशील योजनाएं हमें किसी परिणाम पर नहीं ले जा सकतीं। जैसा कि सर विलियम बीवरिज ने कहा है "अब अपने के सुवर्ण-युग और वर्तमान संसार के बीच नहीं बल्कि सुवर्ण-युग और ठेठ नरक के बीच चुनाव करने का प्रश्न हमारे सामने आज उपस्थित है। हम नरक को पसन्द करना चाहते हैं या गांधीजी के रामराज्य को? श्रद्धा और दृढ़ता के साथ हमें तुरन्त चुनाव कर लेना चाहिए, नहीं तो इस सर्व नाश के ज्वार को हम किसी प्रकार रोक नहीं सकेंगे।

'दि प्राइस ऑव पीस' पृ० ७

खण्ड ४

सर्वोदय और समाजवादी नमूना

१

समाज का समाजवादी स्वरूप

अखिल भारत राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने आवडी-अधिवेशन में समाज के समाजवादी नमूने के बारे में महत्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत किया तबसे कांग्रेस के कार्यकर्ता और दूसरे कई लोग जिन्हें आर्थिक संयोजन में दिलचस्पी है स्वभावतः पूछते रहते हैं कि इस 'समाजवादी नमूने' का असली अर्थ क्या है? इसलिए इस प्रस्ताव का पूरा अर्थ समझने के लिए हमें उसका जरा विस्तारपूर्वक अध्ययन करना होगा। प्रस्ताव इस प्रकार है

"विधान की धारा में निश्चित कांग्रेस के उद्देश्य को पूरा करने के लिए तथा भारतीय संविधान की प्रस्तावना में बताये उद्देश्यों और राज्य के नीति-सम्बन्धी मार्ग-दर्शक सिद्धान्तों के परिपालन के लिए यह जरूरी है कि सारा संयोजन समाजवादी स्वरूप के समाज की स्थापना के हेतु से हो जिस में उत्पादन के साधनों का स्वामित्व और संचालन समाज के हाथों में हो उत्पादन उत्तरोत्तर तेजी से बढ़ता जाय और राष्ट्र की संपत्ति का वितरण न्यायपूर्वक समानता के आधार पर हो।

कांग्रेस का उद्देश्य है—"भारत में समान अवसर और समान राजनैतिक आर्थिक और सामाजिक अधिकारों पर आधारित सहकारी सम्मिलित राज्य (कोआपरेटिव कामनवेल्थ) की स्थापना। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में बताये उद्देश्यों में एक यह भी है कि सबके साथ 'सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक न्याय' हो तथा सबको समान दर्जा और अवसर मिले। राज्य का नीति-सम्बन्धी मार्ग-दर्शक सिद्धान्त भी यह है कि राष्ट्र

की सरकार हर प्रकार से जनता के कल्याण की साधना करेगी अर्थात् ऐसी समाज-रचना की स्थापना और शक्ति-भर रक्षा करेगी जिसमें राष्ट्र के जीवन से सम्बन्धित सभी संस्थाओं और अंगों में सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक न्याय का पालन हो। (धारा ३८)। धारा ३९ में लिखा है "राज्य ऐसी नीति का अवलम्बन करे, जिसमें राज्य के समस्त नागरिकों को—पुरुषों और स्त्रियों को भी—समान रूप से अधिकार होगा कि उन्हें जीविकोपार्जन के पर्याप्त साधन उपलब्ध हों। समाज की साधन-संपत्ति के स्वामित्व और विनिमय के अधिकार का वितरण भी इस प्रकार हो कि वह संपूर्ण समाज के लिए हितकर हो। मार्ग-दर्शक सिद्धान्तों में यह भी लिखा है कि "राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था ऐसी न हो जिसके परिणाम-स्वरूप संपत्ति का केन्द्रीकरण हो और उत्पादन के साधनों का उपयोग कोई समाज के अहित में कर सके।" धारा ४ राज्य को आदेश देती है कि वह "ग्राम पंचायतों के संगठन का प्रबन्ध करे और उन्हें ऐसे सब अधिकार और सत्ता प्रदान करे, जिससे वे स्वशासित इकाइयों के रूप में अपना काम कर सकें। आगे चलकर धारा ४३ शासन को आदेश देती है कि 'वह समुचित कानून बनाकर या उपयुक्त आर्थिक व्यवस्था की स्थापना द्वारा या अन्य उपायों द्वारा ऐसा प्रबन्ध करे कि खेती में उद्योगों में या अन्यत्र काम करनेवाले कर्मचारी अथवा मजदूर को अपने निर्वाह के योग्य वेतन मिले और काम करने की वे सब सुविधाएं हों जिनसे वह अपनी रहन-सहन का स्तर ठीक रख सके उसे पर्याप्त विश्राम और अवकाश मिल सके और सामाजिक तथा सांस्कृतिक कार्य करने के अवसर भी मिलते रहें। खासतौर पर "ग्रामीण क्षेत्रों में राज्य व्यक्तिगत तौर पर या सहकारिता की पद्धति पर चलनेवाले ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहन देगा। धारा ४६ में "समाज के पिछड़े हुए और कमजोर वर्गों अर्थात् जन-जातियों या अनुसूचित जातियों की शिक्षा-दीक्षा की विशेष रूप से चिन्ता रखने का राज्य को आदेश है। कांग्रेस और भारतीय संविधान में लिखित इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए आवड़ी-अधिवेशन में पारित समाजवादी समाज के नमूनेवाले प्रस्ताव में कहा गया है कि देश में आर्थिक संयोजन के द्वारा ऐसे समाज की स्थापना की जाय जिसमें उत्पादन के सभी मुख्य साधनों पर समाज का ही स्वामित्व

हो। वही उसका संचालन भी करे, उत्पादन तेजी से हो और उत्तरोत्तर बढ़ता रहे और राष्ट्रीय संपत्ति का वितरण भी न्यायमुक्त हो।

समाजवादी नमूनेवाले प्रस्ताव के मर्म को ठीक तरह से समझने के लिए यह जरूरी है कि उसी अधिवेशन में पारित आर्थिक नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव पर भी हम विचार करें। इस प्रस्ताव में आर्थिक और सामाजिक स्तर पर पर्याप्त प्रगति करने के लिए कहा गया है। हमारा उद्देश्य स्पष्ट रूप से यह हो कि उत्पादन खूब बढ़े रहन-सहन का स्तर ऊंचा हो जाय बेकारी उत्तरोत्तर घटती रहे और अंत में वैस से वह एकदम मिट जाय। यह सब इस अर्थ में हो जाना चाहिए। प्रस्ताव में आगे कहा गया है कि "राष्ट्र का लक्ष्य है कल्याण राज्य की स्थापना और समाज का ढांचा समाजवादी बनाना। यह तो राष्ट्रीय आय में काफी वृद्धि करने से और चीजों के खूब उत्पादन तथा रोजी के साधनों और सेवाओं समाजोपयोगी प्रवृत्तियों के पर्याप्त विस्तार से ही सम्भव होगा। इसलिए शासन की अर्थनीति का लक्ष्य हर चीज की विपुलता और उसका न्यायपूर्ण वितरण होना चाहिए। इन उद्देश्यों की सिद्धि के लिए प्रस्ताव भारी उद्योगों की स्थापना और छोटे तथा गृहोद्योगों के व्यापक विस्तार पर जोर देता है। प्रस्ताव में आगे कहा गया है कि समाजवादी नमूनेवाले समाज में संयोजन और विकास के कार्यों में शासन को महत्वपूर्ण योग देना होगा। राज्य को खास तौर पर बिजली परिवहन इत्यादि सम्बन्धी बड़ी-बड़ी योजनाओं के प्रारम्भ और संचालन का काम करना होगा सामाजिक प्रवृत्तियों वृत्तियों और साधनों का नियन्त्रण करना होगा उद्योगों की स्थापना और विकास में प्रराजकता पैदा न होने पावे इस हेतु से उसमें महत्वपूर्ण जगहों पर नियन्त्रण कायम करने होंगे। निजी व्यापारिक कोठियों और संस्थाओं की स्थापनाओं पर प्रतिबन्ध लगाने होंगे और श्रम तथा उत्पादन के मानदण्ड कायम करके उनकी रक्षा करनी होगी। प्रस्ताव में यह भी साफ कर दिया गया है कि सरकारी क्षेत्र को उत्तरोत्तर अधिक काम करना होगा—खास तौर पर बुनियादी उद्योगों की स्थापना में। गैर-सरकारी अर्थात् स्वतन्त्र संस्था में—उदाहरणार्थ सहकारी समितियां छोटे-छोटे उद्योग-संस्थान आदि का भी महत्व होगा ही।

यह भी याद दिलाई गई है कि हमें शांतिपूर्ण और लोकतन्त्री तरीकों से दूरगामी परिणाम लानेवाले सामाजिक आर्थिक और औद्योगिक परिवर्तन तेजी से और सफलतापूर्वक लाने हैं। इस प्रकार जब हम आवड़ी प्रस्ताव का कांग्रेस के विधान के उद्देश्यों का और भारतीय संविधान के निर्देशक सिद्धान्तों का सूक्ष्म अध्ययन करते हैं तो हमें पूरी तरह से ज्ञात हो जाता है कि समाजवादी नमूने के समाज की स्थापना का असली अर्थ क्या है। इस समाजवादी नमूने में जिन-जिन बातों का समावेश होता है संक्षेप में वे इस प्रकार हैं

१ समाजवादी नमूनेवाले समाज का बुनियादी उद्देश्य है ऐसे समाज और अर्थ-व्यवस्था की स्थापना जो समान अवसर और सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक न्याय के सिद्धान्त पर आधारित है।

२ इस समाज में जात-पांत धर्म लिंग और आर्थिक सामाजिक प्रतिष्ठा-सम्बन्धी कोई भेद भाव नहीं होगा हर आदमी को काम दिया जायगा और काम करने लायक हर नागरिक—पुरुष या स्त्री—को जीवन वेतन मिलेगा। दूसरे शब्दों में समाजवादी समाज-रचना में बेकारी नहीं रहेगी। सबको रोजी मिलेगी।

३ देश की साधन-सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों पर राज्य का सम्पूर्ण स्वामित्व होगा या उसका पूरा नियन्त्रण होगा। उनका उपयोग वह राज्य के अधिक-से-अधिक हित के कामो में करेगा।

४ समाज ऐसी अर्थ-रचना का निर्माण करेगा जिससे कहीं सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण और उनका उपयोग समाज के अहित मे नहीं हो सकेगा।

५ देश की सम्पूर्ण सम्पत्ति को और उत्पादन को बढ़ाने के व्यवस्थित और तीव्र उपाय किये जायगे।

६ यह भी जरूरी है कि राष्ट्र की सम्पत्ति का वितरण न्यायपूर्वक हो और वर्तमान आर्थिक विषमताएं कम-से-कम कर दी जायं।

(७) यह सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन शांतिपूर्ण और प्रजातान्त्रिक तरीकों से लाया जाना चाहिए।

(८) समाजवादी समाज रचना मे आर्थिक और राजनैतिक सत्ता का

दृढ़ता के साथ विकेन्द्रीकरण करना होगा अर्थात् सारे देश में अपना प्रबन्ध खुद करनेवाली ग्राम-पंचायतों की स्थापना करनी होगी और गृहोद्योगों का व्यापक रूप से विस्तार करना होगा।

इस दृष्टि से देखें तो कांग्रेस की अर्थ-नीति का हम मात्र बहुदर्शी और ठीक अर्थ करेंगे तो वह उचित नहीं होगा। हम सारे प्रश्न को तर्क शुष्क सैद्धान्तिक दृष्टि से नहीं बल्कि मूलतः यथार्थ दृष्टि से देखते हैं। हमारा उद्देश्य एकदम साफ है। उसमें भूल के लिए गुंजाइश नहीं है। यह कोई स्थिर और अपरिवर्तनीय नहीं विकासशील नीति है। वर्तमान स्थिति में हमारे देश के अन्दर सबको रोजी देने अधिकतम उत्पादन बढ़ाने और आर्थिक तथा राजनैतिक न्याय स्थापित करने का एक निश्चित तरीका होगा। लोगों की माली हालत को यदि हम सुधारना चाहते हैं तो हमें अपने कार्यक्रम को और अपने तरीकों को भी बदलना होगा। यह नीति न्यूनाधिक परिमाण में महात्मा गांधी के सिद्धान्तों पर ही आधारित है और समाजवादी समाज-रचना का आधार मोटे तौर पर सर्वोदय ही है। परन्तु कांग्रेस ने सर्वोदय शब्द का प्रयोग इसलिए नहीं किया है कि वह इस उच्च शब्द को राजनीति में घसीटना नहीं चाहती परन्तु यह तो स्पष्ट है कि देश की वर्तमान स्थिति में जहाँतक भी सम्भव है वह सर्वोदय के आदर्श का ही अनुगमन करना चाहती है। समाजवादी समाज-रचना का अर्थ अत्यधिक केन्द्रित सत्तावाली और फौजी अनुशासन में जकड़ी हुई समाज-रचना कदापि नहीं है। पश्चिम में समाजवाद का जो अर्थ किया जाता है वह हमारा अभिलषित लक्ष्य नहीं है। बड़े पैमाने के उत्पादन पर आधारित केन्द्रित सत्तावाली अर्थ-व्यवस्था हिंसा-शक्ति और वर्ग-संघर्ष को जन्म देती है जबकि कांग्रेस शान्ति लोकतन्त्र और अहिंसा को मानती है और वह इस देश में अधिनायक-तन्त्री और केन्द्रित सत्तावाली समाज-रचना की स्थापना का दृढ़ता के साथ विरोध करती है।

२

समाजवादी समाज-रचना और औद्योगीकरण

आवडी-अधिवेशन के समाजवादी समाज-रचना-सम्बन्धी प्रस्ताव को ध्यान में रखते हुए यह समझ लेना जरूरी है कि आनेवाले वर्षों में कांग्रेस देश में किस प्रकार उद्योगों का विस्तार करना चाहती है। आर्थिक नीति सम्बन्धी हमारे प्रस्ताव में कहा गया है कि हम दस वर्ष के अन्दर-अन्दर देश से बेकारी बिल्कुल मिटा देना चाहते है इस उद्देश्य की हम तभी पूर्ति कर सकेंगे जब समाजवादी समाज रचना की स्थापना के लिए हम किस प्रकार का औद्योगिक सगठन बनाना चाहते हैं। उसका सही नक्शा हमारे सामने हो। यह मानना होगा कि अभी तक हम अपनी अर्थ-नीति को साफ और निश्चित नहीं कर सके हैं यहाँतक कि पहली पंचवर्षीय योजनाओं म लिखी योजना-आयोग की सिफारिशों को भी हम पूरी तरह कार्यान्वित नही कर सके। एक तरफ तो औद्योगिक उत्पादन के जो लक्ष्य हमने निर्धारित किये थे उनसे हम कई उद्योगों में आगे बढ़ गये हैं परन्तु देश म बेकारी तो बढ़ ही रही है। इसलिए औद्योगीकरण के बारे में हमारे जो बुनियादी सिद्धान्त हैं उनको फिर से सक्षिप्त भाषा में रख देना जरूरी है।

सन् १६४८ में भारत सरकार ने अपनी अर्थ-नीति पर एक वक्तव्य प्रकाशित किया था। फिर राष्ट्रीय संयोजन पर कांग्रेस के प्रस्ताव हैं और पचवर्षीय योजनाओं में भी कई बातें कही गई हैं। इन सबको एक साथ पढ़ने से उद्योगों के सम्बन्ध में हमारी नीति का एक स्पष्ट चित्र हमारी आंखों के सामने खड़ा हो जाता है। संक्षेप मे वह इस प्रकार है

१ हमारी औद्योगिक नीति के मूल उद्देश्य ये हैं

(अ) अधिक-से-अधिक उत्पादन

(आ) सबको रोजी देना

(इ) आर्थिक और सामाजिक न्याय।

२ कुछ उद्योग जैसे लोहा और इस्पात यन्त्र और पुर्जे बिजली परिवहन संचार इत्यादि राष्ट्र के लिए कुंजी हैं। इनको जल्दी-से-जल्दी बनाना जरूरी है परन्तु इनपर स्वामित्व राज्य का होना और वही इनका

सचालन करेगा। निजी व्यापारियों के हाथों में इन बुनियादी उद्योगों को देना सुरक्षित नहीं। इन उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के लिए यदि आज हमारे पास आवश्यक पूंजी नहीं है तो कम-से-कम इनका नियन्त्रण राज्य को पूरी तरह से अपने हाथ में ले ही लेना चाहिए और आधुनिकतम नमूने की कल-सामग्रीवाले नये उद्योगों को बनाने के लिए राज्य को अपने सारे साधन लगा देने चाहिए।

३ उपभोग्य चीजों के अर्थात् कपड़ा चीनी कागज तेल चावल आदि के उद्योगों से सम्बन्ध है इन्हें सहकारी समितियों के रूप में विकेन्द्रित करने का पूरा प्रयत्न किया जाय। उद्देश्य यह नहीं है कि उन भोग्य सामग्री के जो उद्योग अभी चालू हैं उन्हें एकदम बन्द कर दिया जाय बल्कि बड़े पैमाने के उत्पादनवाले उद्योगों से छोटे उद्योगों में तथा गृहोद्योगों में अलग-अलग क्या-क्या उत्पादन हो इसका पूरा निश्चय हो जाना चाहिए ताकि इनके बीच प्रतिस्पर्धा और संघर्ष न होने पावे। निजी क्षेत्र में काम करनेवालों को अवश्य ही राष्ट्रीय संयोजन की मर्यादाओं के अन्दर आवश्यक स्वतन्त्रता और अवकाश मिलते रहने चाहिए।

४ जैसी कि योजना-आयोग की सिफारिश है अधिक-से-अधिक उत्पादन करने और बेकारी को मिटाने के उद्देश्य से हमें उत्पादन की नीति निश्चित करके उसका कार्यक्रम भी बना लेना चाहिए। उदाहरण के लिए कुछ प्रकार के कपड़ों का उत्पादन पूरी तरह से खादी और हाथ-करघों के क्षेत्र में ही हो। इसी प्रकार तमाम खाद्य तेल घानियों में ही निकले। चावलों की हाथकुटाई के उद्योग को प्रोत्साहन और संरक्षण देने के लिए चावल की मिलों को संगठित रूप से कम किया जाय बल्कि उनकी एकदम बन्दी भी की जाय। दफ्तरों में लगनेवाला सब प्रकार का कागज हाथकागज के उद्योग के लिए सुरक्षित कर दिया जाय। चमड़े के सामान में हिन्दुस्तानी पद्धति के चप्पल आदि के जैसे बड़े कारखानों में न बनाये जायं। जबतक बड़े पैमाने पर उपभोग्य वस्तुएं पैदा करनेवाले कारखानों पर हम इस प्रकार के कठोर प्रतिबन्ध नहीं लगायेंगे तबतक छोटे उद्योगों को और ग्रामोद्योगों को विकास का मौका नहीं मिल सकेगा और हम पूरी तरह के बेकारों और आंशिक बेकारी की समस्या को हल नहीं कर सकेंगे।

भारत सरकार का अनुमान है कि अगली पंचवर्षीय योजना में हमको सग भग सवा करोड़ आदमियों को रोजी देनी होगी जिसके लिए पांच-छः हजार करोड़ रुपये व्यय करने होंगे। राष्ट्र के लिए इतनी बड़ी रकम हम यदि कहीं से प्राप्त कर भी सकें तो भी जबतक छोटे छोटे उद्योगों और ग्रामोद्योगों का सहारा नहीं लेंगे इतने आदमियों के लिए काम मिलना असम्भव होगा।

५ समाज में आर्थिक न्याय और समानता को बढ़ाने के लिए निजी क्षेत्र के कारखानों के प्रबन्ध में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने होंगे। जमीन के प्रबन्ध में जो सामन्त-पद्धति के बिचौलिये थे उनको तो हमने हटा दिया। इसी प्रकार का जो सामन्तवाद उद्योग के क्षेत्र में है, उसे भी हमें हटाना होगा। कम्पनियों-सम्बन्धी कानून का यथोचित मसविदा संसद में पेश हुआ और वह स्वीकार भी हो गया। हम आशा करें कि शहरी क्षेत्र में बड़ी आयवालों की आय को घटाने में बहुत बड़ी हद तक वह मददगार होगा और इसमे आर्थिक विषमताएं घटेंगी।

६ समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन के प्रमुख साधनों पर समाज का ही स्वामित्व होगा और संचालन भी उसीके हाथों में होगा। इसलिए बुनियादी उद्योगों की स्थापना में सरकारी क्षेत्र उत्तरोत्तर अधिकाधिक भाग लेता रहेगा। फिर भी राष्ट्र की अर्थ-रचना में निजी क्षेत्र का भी महत्व बराबर बना रहेगा जिसमें औद्योगिक सहकारी संस्थाएं ग्रामोद्योग तथा गृहोद्योग भी रहेंगे। इनको आवश्यक और उचित स्वतन्त्रता तथा अवसर मिलेगा परन्तु राष्ट्र के व्यापक हितों की रक्षा के हेतु इनपर राष्ट्र का सुनियोजित नियन्त्रण भी रहेगा।

७ पश्चिम में समाजवाद का अर्थ है अत्यधिक केन्द्रित उद्योग। इन पर स्वामित्व राष्ट्र का होता है परन्तु भारत में हम इस प्रकार की सैनिक ढंग के शक्तिशाली व्यवस्था नहीं चाहते। इसके विपरीत हम तो अपने आर्थिक और सामाजिक लक्ष्यों को शांतिपूर्ण और लोकतांत्रिक तरीकों से हल करना चाहते हैं। यह उद्योगों को कुशलतापूर्वक और व्यवस्था के साथ विकेन्द्रित करके उन्हें देश के विभिन्न भागों में फैला देने से होगा। हम अपने उद्योगों की रचना ठेठ नीचे से गांवों और शहरों में छोटे-छोटे उद्योगों

और गृहोद्योगों की स्थापना द्वारा करना चाहते हैं जिससे अधिक-से-अधिक जनता उत्पादन में भाग ले सके।

८ भारत अपने उद्योगों की रचना इस आधार पर करना चाहता है जिससे राष्ट्र मे अधिक-से-अधिक स्वावलंबन आवे। आर्थिक और राजनैतिक दृष्टि से भी विदेशी बाजारों और बाहरी आर्थिक सहायता का मोह त्याग देना देश के लिए किसी भी प्रकार लाभदायक नहीं है। हमारी अपनी जरूरतें भी अवश्य ही खूब बढ़नेवाली हैं। उन्हींको ध्यान में रखते हुए हम अपना औद्योगिक विकास करें। बाहर से केवल वे ही चीजें हम मंगाएं जो अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं। हमारी सारी उद्योग-नीति स्वदेशी के सिद्धान्त पर आधारित हो।

१

समाजवादी स्वरूप और सामाजिक क्रांति

समाजवादी समाज-रचनावाले कांग्रेस के प्रस्ताव ने देश मे और विदेशों में भी बहुत-से लोगो का ध्यान अपनी तरफ आकर्षित किया है। इस प्रस्ताव ने लोगो में उत्साह और स्फूर्ति की एक नई लहर पैदा कर दी है परन्तु हमें यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि केवल आर्थिक प्रगति से समाजवादी समाज की स्थापना नहीं हो सकेगी। उसके लिए पहले समाज के वर्तमान ढांचे मे क्रांतिकारी परिवर्तन करने होंगे। उसे उन तमाम बुराइयों से मुक्त करना होगा जो समाज में अनेक प्रकार के भेद और असमानताएं पैदा कर रही हैं। समाजवादी समाज-रचना की कल्पना भारतीय संविधान की प्रस्तावना और राज्यनीति-सम्बन्धी निर्देशक सिद्धान्तों पर आधारित की गई है। इस प्रस्तावना में सामाजिक न्याय और उसके लिए समान दर्जा तथा अवसर हों इसपर बड़ा जोर दिया गया है। निर्देशक सिद्धान्तों में स्त्रियो और पुरुषो को समान माना गया है और बच्चों के हितों का भी पूरा पूरा ध्यान रखने पर बड़ा जोर दिया गया है। संविधान मे राज्य को आदेश है कि उसके प्रदेशो मे समस्त नागरिकों के लिए समान कानून होंगे और चौदह वर्ष के अन्दरवाले बच्चो के लिए शिक्षा निःशुल्क तथा अनिवार्य होगी। राज्य को यह भी आदेश है कि पिछड़ी हुई तथा अनुसूचित जातियों

की शिक्षा तथा आर्थिक स्थिति के सुधार पर राज्य खास तौर पर अधिक ध्यान दे और इस बात का ख्याल रखे कि उनके हितों की पूरी तरह रक्षा हो, समाज में उनके साथ अन्याय तथा उनका शोषण न होने पावे। निर्देशक सिद्धान्तों में "शराब तथा स्वास्थ्य के लिए हानिकर मादक द्रव्यों—दवा की बात अलग है—के उपभोग पर प्रतिबन्ध लगा देने का भी उल्लेख है।"

आवडी-अधिवेशन के उपर्युक्त समाजवादी समाज-रचनावाले प्रस्ताव का हेतु कांग्रेस के उद्देश्य को पूरा करना तथा "भारतीय संविधान की प्रस्तावना और निर्देशक सिद्धान्तों में लिखित उद्देश्यों की पूर्ति करना है।" इन निर्देशक सिद्धान्तों से यह एकदम साफ है कि समाज के वर्तमान ढांचे को, जितना तेजी से सम्भव हो हमें बदलना होगा। श्री उच्छ्रंग रायजी ढेबर ने कांग्रेस के साठवें अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में राष्ट्र के नवनिर्माण के काम में समाज-सुधार के लक्ष्यों को प्राप्त करने पर बड़ा जोर दिया। उन्होंने कहा कि "जबतक स्वयं समाज के अन्दर लोकतंत्री सिद्धान्तों का आदर और अमल नहीं होगा तबतक राजनैतिक लोकतंत्र असम्भव ही है। उन्होंने साफ-साफ कहा कि जबतक भारत के प्रत्येक नागरिक को समान अवसर नहीं मिलेंगे तबतक सच्ची समानता की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। "जात-पांत के प्रति निष्ठा और राष्ट्र-निष्ठा साथ-साथ चल नहीं सकती।' जात-पांत के भेद-भाव राष्ट्र-निष्ठा और राष्ट्रीयता के लिए घातक हैं इसलिए हमें एक बार दृढ़ निश्चय करके इन भेदभावों को मिटा ही देना चाहिए।

कांग्रेस में पेश किये गए अपने प्रतिवेदन में श्री नेहरू ने आवडी में बड़े जोर के साथ कहा था कि हम भारत को एक महान सम्मिलित सहकारी राज्य बनाने जा रहे हैं। उसका अर्थ यही है कि "सबको समान अवसर मिलेगा और सामाजिक न्याय की स्थापना होगी। इसलिए संकीर्ण प्रांतीयता या जातीयता को दबाना जाना चाहिए और जात-पांत की बुराई को जड़मूल से उखाड़ फेंकना चाहिए।

आवडी-अधिवेशन में स्त्रियों और बच्चों के कल्याण पर एक विशेष प्रस्ताव स्वीकृत किया गया था। उसके अन्दर उन तमाम प्रतिगामी रूढ़ियों,

रिवाजों और रूढ़ियों की निन्दा की गई है जो स्त्रियों के विकास में बाधा पहुंचाती हैं और राष्ट्र की सेवा के विविध कार्यक्रमों में भाग लेने से उन्हें रोकती हैं। प्रस्ताव में कहा गया है कि राष्ट्र के हित में यह आवश्यक है कि स्त्रियों को अपना विकास करने और राष्ट्र की सेवा करने का पूरा अवकाश मिले। उन्हें उत्तराधिकार का अधिकार भी दिया जाय ताकि कानून तथा समाज में वे किसी प्रकार घाटे में न रहें। विभिन्न राज्यों की सरकारों ने स्त्रियों और बच्चों की भलाई के जो अनेक काम किये हैं कांग्रेस ने उनकी सराहना की और हिन्दुओं में सुधार के बारे में संसद में जो विधेयक पेश किया गया है उसका स्वागत किया है। आवड़ी-अधिवेशन ने बुनियादी शिक्षा पर भी एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत किया है और स्वतंत्र भारत के राष्ट्रीय लक्ष्य और सामाजिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए वर्तमान शिक्षा-पद्धति में दूरगामी परिवर्तन करने की आवश्यकता बताई है। कांग्रेस ने बुनियादी शिक्षा को भारत में प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा का भावी नमूना बताया है। उसने तमाम राज्य-सरकारों से अनुरोध किया है कि वे जितनी भी जल्दी सम्भव हो इस नीति पर अमल शुरू कर दें ताकि दस वर्ष के अन्दर-अन्दर देश के ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में वह पूरे जोर के साथ व्यवस्थापूर्वक काम करने लग जाय। कांग्रेस ने आचार्य विनोबा भावे के भूदान और सम्पत्ति-दान-आन्दोलन का भी स्वागत किया और इसे "एक नैतिक प्रवृत्ति माना है जिसके द्वारा वह शान्ति के साथ समाज में स्वेच्छापूर्वक आर्थिक तथा सामाजिक क्रान्ति करना चाहते हैं। एकता और एकीकरण वाले प्रस्ताव में समाज-सुधार पर जोर दिया गया है ताकि व्यक्ति और समाज की प्रगति और विकास में बाधा पहुंचानेवाली रुकावटों को हटाया जा सके। "भारत में जो महान विविधता है और सांस्कृतिक समृद्धि है उसकी तो रक्षा की जाय परन्तु प्रकृति की दृष्टि से यह जरूरी है कि भारत मन और बुद्धि से एक होकर रहे। प्रस्ताव में जात-पांत के और साम्प्रदायिक भेद भावों को मिटाने पर बहुत जोर दिया गया है। "इससे न केवल देश में फूट फैलती है बल्कि समानता के आदर्श की ओर बढ़ने में भी रुकावट पैदा होती है।

जात-पांत तथा साम्प्रदायिकता ऐसी बहुरी सामाजिक बुराइयां हैं,

जिनका मुकाबला हमें हर मोर्चे पर करना होगा। छुआछूत और जात-पांत के प्रश्न को हल करना उतना आसान नहीं है। देश की जनता के हृदय से इस बुराई को निर्मूल करने के लिए राष्ट्रपिता ने तो बार अपनी जान की बाजी लगा दी। भारत के संविधान से हर तरह की छुआछूत को एकदम हटा दिया गया है। 'छुआछूत को लेकर यदि किसीपर कोई असमर्थता लादी गई तो कानून में वह एक अपराध माना जायगा और उसपर सजा है।" संसद में छुआछूत पर इस आशय का एक कानून बन गया है कि जो लोग इस सामाजिक बुराई को किसी प्रकार भी बरकरार करेंगे वे भी अपराधी माने जायंगे। फिर भी हमें यह याद रखना होगा कि जबतक हम दृढ़ निश्चय के साथ छुआछूत और जात-पांत की बुराइयों के पीछे नहीं पड़ जायंगे वे मिटनेवाली नहीं हैं। भारत में जातीयता और साम्प्रदायिकता के मूलभूत कारणों का हम विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि हमारे जीवन के अनेक अंगों में इनके लक्षण मौजूद हैं। हम जिन उपनामों का उपयोग करते हैं वे जातियों और उपजातियों के ही सूचक हैं। हमारे उत्तराधिकार-संबंधी कानून भी जाति-सम्बन्धी विचारों पर आधारित हैं। हमने वाणिज्य मताधिकार शुरू किया है परन्तु देश में जातीयता और साम्प्रदायिकता के भेदभावों की आग को इसने बढ़ाया ही है। शिक्षा के क्षेत्र में अभीतक जातियों की अलग-अलग संस्थाएं हैं ही। अब तो ये नाम हट जाने चाहिए। सरकार न तो इन संस्थाओं को मान्यता ही दे और न आर्थिक मदद ही। आज भी ऐसे कई प्रपत्र (फॉर्म) हैं जिनमें उम्मीदवार से जात-पांत का उल्लेख मांगा जाता है। बहुत-से लोगों को ये बातें गौण लगेंगी परन्तु देश में समाजवादी समाज-रचना करने की बात जब हम सोचते हैं तो उसमें ये उपेक्षणीय नहीं हैं। जात-पांत के भेदभाव को बढ़ानेवाले जितने भी कारण हैं उन सबका हमें परीक्षण करना होगा। राजनैतिक नेताओं तथा समाज सुधारकों का कर्तव्य है कि वे इन सबको जड़मूल से उखाड़कर फेंक दें। इस सुधार के काम में शिक्षा-संस्थाएं बड़ा काम कर सकती हैं। उदाहरण के लिए कोई स्कूल या कॉलेज अपने विद्यार्थी को अपने नाम के साथ जात-पांत सूचक चिह्न न लगाने दे। इसी प्रकार जातीय या साम्प्रदायिक शिक्षा संस्थाएं समय की जरूरत के प्रतिकूल हैं। अतः उन्हें अब नहीं रहना चाहिए।

फिर समाजवादी समाज-रचना का प्रारम्भ स्वयं हमें अपने जीवन में करना चाहिए। जबतक हम अपने दैनिक जीवन और सोचने के तरीकों में भी आवश्यक परिवर्तन नहीं कर लेंगे अभीष्ट नये समाज की रचना में हम सफल नहीं हो सकेंगे।

४

समाजवादी समाज : सात सिद्धांत

मेरा ख्याल है समाजवादी समाज के सात बुनियादी सिद्धान्त हैं। पहला सिद्धान्त है—प्रत्येक मनुष्य को अधिकार है कि उसे रोजी अर्थात् रोजी कमाने का साधन—काम—दिया जाय और देश में कोई बेकार न रहे। जबतक काम करने योग्य हर आदमी को पर्याप्त रोजी कमाने के लिए काम नहीं दिया जाता तबतक समाजवादी समाज की स्थापना असम्भव है। बेकारी और समाजवाद साथ-साथ रह ही नहीं सकते। जो हो, भारत में आज हम ऐसे समाजवादी समाज की कल्पना नहीं कर सकते जिसके अन्दर किसी भी बेकार मनुष्य को अपना नाम दर्ज करा देने पर बगैर काम किये घर बैठे बेकारी का मासिक भत्ता मिलता रहे। बेकारी के भत्तेवाली समाज-व्यवस्था को हम ठीक नहीं मानते। महात्मा गांधी ने हमें सिखाया है कि बेकारी अर्थात् निष्क्रियता से मनुष्य का केवल मानसिक और शारीरिक ह्रास ही नहीं होता बल्कि नैतिक पतन भी होता है। इसलिए भारत अपने यहां ऐसे समाजवाद की स्थापना करना चाहता है, जिसके अन्दर हर पुरुष और स्त्री अपने खरे पसीने की कमाई ही खाना पसन्द करेगा। गीता ने भी कहा है कि जो मनुष्य बगैर परिश्रम किये खाता है वह चोर है और जो समाज इस दुरवस्था को बरदाश्त कर लेता है वह असभ्य और अनैतिक है।

समाजवादी समाज का मूलभूत दूसरा सिद्धान्त है राष्ट्रीय सम्पत्ति का अधिक-से-अधिक निर्माण। समाजवादी समाज की स्थापना के लिए केवल इतना काफी नहीं है कि आप काम करने-योग्य लोगों को रोजी दें। इसके साथ-साथ यह भी जरूरी है कि समाज के आर्थिक जीवन का संगठन हम इस प्रकार करें कि उपयोग्य सामग्री के कुल उत्पादन में भी काफी

वृद्धि हो ताकि लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठ सके। यह सोचना गलत है कि लोगों को पूरा काम देने के लिए यदि छोटे-छोटे उद्योगों और ग्रामोद्योगों की स्थापना की जायगी तो उससे लोगों के रहन-सहन का स्तर गिर जायगा क्योंकि प्रति व्यक्ति उत्पादन बढ़ाने के लिए कारीगर बिजली बल्कि अणु-शक्ति का भी उपभोग कर सकेंगे। उत्पादन को यदि औद्योगिक सहकारी संगठनों में विकेन्द्रित कर दिया जायगा तो केन्द्रित उत्पादनवाले बड़े कारखानों की अपेक्षा महंगा नहीं पड़ेगा। दूसरी बातों में यदि कहीं पक्षपात नहीं किया जाय तो कुल मिलाकर छोटे-छोटे उद्योगों में पैदा की जानेवाली चीजें बड़े कारखानों के उत्पादन की अपेक्षा सस्ती ही पड़नी चाहिए। इस प्रकार स्पष्ट है कि समाजवादी समाज-रचना तभी सफल हो सकेगी जब सबको रोजी देने के फलस्वरूप राष्ट्रीय सम्पत्ति के उत्पादन में अधिकाधिक वृद्धि भी हो। केवल गरीबी के वितरण से कल्याण-राज्य कायम नहीं हो सकता।

समाजवादी समाज रचना का तीसरा सिद्धान्त है राष्ट्र में अधिकतम स्वावलम्बन। एक राष्ट्र अपने उत्पादन को बढ़ाकर दूसरे अविकसित पड़ोसी देशों को अपना माल बेचकर भी अपने लोगों को पूरा काम दे सकता है। किन्तु ऐसी संकीर्ण राष्ट्रीयता को और पिछड़े राष्ट्रों के शोषण को हमारा समाजवाद अच्छा नहीं मानता। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार हम जरूर चाहते हैं, परन्तु वह स्वच्छ और निर्दोष हो। पड़ोसी देशों को हानि पहुंचाकर हम अपना निर्यात-व्यापार नहीं बढ़ाना चाहते। हमारे आर्थिक संयोजन का आधार ऐसा न हो। जो समाज अपने देश के बाहर दूसरों का योजना पूर्वक शोषण करके अपने देश में समाजवाद की स्थापना करने का ढोंग करता है, वह सही अर्थों में समाजवादी नहीं कहा जा सकता।

समाजवादी समाज का चौथा मूल-भूत सिद्धान्त है सामाजिक और आर्थिक न्याय। कोई भी राष्ट्र तबतक समाजवादी नहीं कहा जा सकता जबतक कि उसके संगठन के अन्दर समानता और न्याय नहीं होगा। उदाहरण के लिए भारत में जबतक हम छुआछूत को पूरी तरह नहीं मिटा देते तबतक समाजवादी राज्य की स्थापना की बातें करना भी व्यर्थ है। यह सामाजिक

जो समाज-रचना मनुष्य मनुष्य के बीच भेद-भाव बरतती है और अपने ही एक अंग को जानवरों से भी बुरी हालत में डाल देती है उसमें जड़मूल से क्रान्ति होनी ही चाहिए। इसी प्रकार हमारे समाज को समाजवादी रूप देने के लिए स्त्रियों को भी ऊपर उठाना होगा। शराबखोरी और वेश्यावृत्ति को भी मिटाना ही होगा। अन्य जितनी भी प्रकार की सामाजिक असमानताएं और अन्याय हैं, उनको हटाने के बाद भारतीय समाज में आर्थिक समता को भी बढ़ाना होगा। कहने की जरूरत नहीं कि इस समय हमारे समाज में गरीबों और अमीरों के बीच बहुत बड़ा अंतर है। समाजवादी समाज की नींव डालने से पहले इस गहरी और चौड़ी खाई को पाटना बहुत जरूरी है। कर-जांच-आयोग (टैक्सेशन इन्क्वायरी कमीशन) ने सुझाया है कि समाज में १ १ से अधिक विषमता नहीं होनी चाहिए। इस विषमता को घटाकर शायद १ २ तक ले आना अधिक उचित होगा। मृत्यु-कर, भारतीय संविधान की धारा ३१ को बदलना जो जायदाद से सम्बन्ध रखती है कारखानों की व्यवस्था से सम्बन्ध रखनेवाले कम्पनी लॉ में क्रांतिकारी परिवर्तन करना, इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण और आय-कर की ऊंची दरों को बढ़ाना ये सब समाजवादी समाज की दिशा में ले जानेवाले कदम हैं। ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के बीचवाली इन असमानताओं को भी बगैर किसी भेद-भाव के मिटाना ही होगा। आचार्य विनोबा भावे द्वारा जारी किये गए भूदान और सर्वोदयवाले आन्दोलन केवल भारत में ही नहीं बल्कि समस्त संसार में समानता पैदा करने के लिए आवश्यक वातावरण तैयार करने में बहुत सहायक हो रहे हैं।

समाजवादी समाज की पांचवीं बुनियादी कल्पना यह है कि हमारे सारे तरीके शान्तिपूर्ण अहिंसक और लोकतांत्रिक हों। समाजवादी और साम्यवादी देशों ने समाजवाद लाने के लिए वर्ग-संघर्ष हिंसा और सत्ता के केन्द्रीकरण से काम लिया है। भारत इस मार्ग का अनुसरण नहीं करना चाहता। महात्मा गांधी हमेशा कहा करते थे कि साधनों की शुद्धि उतनी ही जरूरी चीज है जितनी साध्यों की शुद्धि। अच्छे मकसदों की प्राप्ति के लिए यदि गलत साधनों का प्रयोग किया जाता है तो अच्छे मकसद स्वयं दूषित और कलुषित हो जाते हैं। भारत की स्वाधीनता की यह देन और भारतवर्ष के

द्वारा नहीं लाना चाहते थे। बहुत सोच-विचार के बाद ही भारत ने शान्ति और लोकतंत्र के मार्ग को पसन्द किया है। इसलिए उसने लोकतांत्रिक तरीकों से ही अपने सब नागरिकों को रोजी देने का तथा अधिक-से-अधिक उत्पादन करने की योजना करने का निश्चय किया है। यह सचमुच एक महान और शायद सबसे बड़ी चुनौती है। हमारी पहली और दूसरी पंचवर्षीय योजनाएं इसीलिए खास तौर पर लोकतांत्रिक और वैधानिक प्रगति पर आधारित की गई हैं। भारत ने निश्चय कर लिया है कि हर हालत में वह इन आदर्शों पर ही चलेगा। हिंसा और मारकाट का रास्ता नहीं अपनायेगा। हमें विश्वास है कि अपने करोड़ों श्रमजीवियों को खुशहाल बनाने के इस महान् और शानदार कार्य में उसे सफलता अवश्य मिलेगी।

समाजवादी समाज का छठा सिद्धान्त है सत्ता और सम्पत्ति का विकेन्द्रीकरण। यह विकेन्द्रीकरण भारत औद्योगिक सहकारी समितियों और ग्राम-पंचायतों की स्थापना द्वारा करना चाहता है। अहिंसक और लोकतांत्रिक समाज के लिए यन्त्रों पर आधारित और अत्यधिक केन्द्रित उत्पादन की पद्धति का सयोजन सम्भव ही नहीं है। अत्यधिक केन्द्रित उत्पादन के लिए मुट्ठीभर आदमियों के हाथों में सत्ता और सम्पत्ति का केन्द्रीकरण अनिवार्य हो जाता है। भारत को ऐसी हिंसा पर आधारित कठोर सैनिक अनुशासनवादी पद्धति कतई पसन्द नहीं। भारत में ग्राम-पंचायतें बहुत प्राचीन काल से काम करती आई हैं। उसकी संस्कृति और सभ्यता का वे एक अभिन्न अंग रही हैं। हमारे पूर्वजों ने अत्यन्त सोच विचार और अनुभव के बाद उनको कायम किया है। पश्चिम के भी बहुत से महान विचारक अब इसी नतीजे पर पहुंच रहे हैं कि यदि लोकतन्त्र को सफल बनाना है तो उसकी इकाइयां छोटी-छोटी ही होनी चाहिए। इस लिए यदि भारत में हमें समाजवादी समाज-रचना की योजना बनानी है तो लोकतन्त्र को छोटी-छोटी इकाइयों में बांटना परम आवश्यक है। व्यक्ति और समाज के हितों का सबसे उत्तम सामंजस्य ऐसी छोटी-छोटी सामाजिक इकाइयों में ही हो सकता है। हम न तो यह चाहते कि समाज की वेदी पर व्यक्ति के हितों का बलिदान हो और न हम यह बरदाश्त कर सकते हैं कि व्यक्ति अपने स्वार्थों के लिए समाज के हितों की हत्या करे। हम

ऐसे समाज की रचना करना चाहते हैं, जिसमें किसी प्रकार का शोषण न हो और जिसके अन्दर व्यक्ति और समाज के हितों का सफल समन्वय हो। जाहिर है कि विकेन्द्रित लोकतन्त्र में ही ये उद्देश्य सिद्ध हो सकते हैं। भारत अपने समाजवाद की इमारत नीचे से उठाना चाहता है। वह मानता है कि यह चीज ऊपर से लादी नहीं जा सकती।

हमारे समाजवादी राज्य का सातवां सिद्धान्त 'सर्वोदय' (अन्टू दिस लास्ट) का आदर्श है। गांधीजी यह कहते हुए कभी थकते ही नहीं थे कि आखिरी अर्थात् सबसे नीचेवाले आदमी की तरफ हमें सबसे पहले ध्यान देना चाहिए। शहरों की सड़कों को चौड़ी करने और उन्हें डामर की बनाने के लिए तो हम बड़ी अधीरता दिखाते हैं परन्तु गांवों में सादी सड़कें भी बनाने की हमें चिन्ता नहीं होती। शहरों में बड़े-बड़े मकान और दफ्तरों की इमारतें बनाना हमें जरूरी मालूम होता है, परन्तु गांवों के लोगों के लिए सीधे-सादे सुन्दर मकान बनाने की बात भी हम नहीं करते। आजाद हुए हमें इतने वर्ष हो गये परन्तु देश में आज भी ऐसे अनेक भाग हैं जिनका विकास नहीं हो पाया है। आज भी इतनी पिछड़ी हुई आबादियां हैं, जिनकी तरफ हमारा ध्यान अभीतक नहीं गया है। समाजवादी समाज रचना में उन लोगों की जरूरतों की तरफ सबसे पहले ध्यान देना होगा जो सबसे अधिक गरीब और गिरे हुए हैं।

भारत में समाजवादी समाज की स्थापना के लिए मैं सात सिद्धान्त बताता हूं। ये राष्ट्र-पिता गांधीजी का सिखावन के अनुरूप ही हैं। सर्वोदय में इन सबका समावेश हो जाता है और भारत इसपर चलने का निश्चय कर चुका है। इसलिए हमारा कर्तव्य है कि हम अपनी पूरी शान्ति और बुद्धि से इनके अनुसार चलने का यत्न करें। यदि हम दूसरे देशों के समाजवादी या पूंजीवादी सिद्धान्तों की नकल करने का प्रयत्न करेंगे तो हम सही रास्ते को छोड़कर भटक जायंगे। भगवान की दया से हमें एक अत्यन्त महान सांस्कृतिक विरासत मिली है। इस पुण्य-पुरातन देश में उन्हीं मानवी मान्यताओं के आधार पर हम अपने समाजवाद की इमारत खड़ी करना चाहते हैं।

५

समाजवादी राज्य की ओर

पूर्व या पश्चिम के किसी देश में प्रचलित समाजवाद की हम नकल करना नहीं चाहते। दूसरे देशों के जीवन के तरीकों की इस प्रकार नकल करना कभी लाभदायक नहीं हो सकता। प्रत्येक देश को अपनी निजी प्रकृति विशेषता और परिस्थितियों के अनुसार ही अपने जीवन का तरीका बनाना होता है। भारत अधिनायकतंत्री—अथॉरिटेरियन—तरीकों से नहीं लोकतन्त्री तरीकों को अपनाना चाहता है। प्रधान मंत्री ने स्वयं कई बार कहा है कि 'मेरा विचार है कि कुल मिलाकर शान्तिपूर्ण लोकतन्त्र का तरीका अधिक फलदायी होता है। समय की दृष्टि से तो उसमें लाभ है ही परन्तु परिणाम की दृष्टि से वह और भी अधिक लाभदायी होती है। महात्मा गांधी ने भी तो हमें तथा संसार को यही पाठ पढ़ाया था। गलत साधन अंत में जाकर सही साध्यों को भी मजूद बना देते हैं और आर्थिक तथा सामाजिक क्रान्तियों में अस्तव्यस्तता और अधीरता के कारण जब-जब भी हिंसा से काम लिया गया है अन्त में वह हानिकर ही सिद्ध हुआ है। पिछले वर्षों में संयोजन की लोकतान्त्रिक पद्धति के द्वारा भारत ने आर्थिक क्षेत्र में आश्चर्यजनक प्रगति की है। अपनी इस प्रगति की तुलना हम संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत रूस सहित संसार के किसी भी देश के साथ कर सकते हैं। हमें भूलना नहीं चाहिए कि अमरीका के पास विशाल भू-प्रदेश और अपार प्राकृतिक साधन पड़े थे। फिर भी उसे प्रथम श्रेणी का औद्योगिक राष्ट्र बनने में पूरे सौ वर्ष लग गये। इसी प्रकार सन् १६१७ की अक्तूबर की क्रान्ति के बाद अपनी पहली पंचवर्षीय योजना रूस ग्यारह वर्ष बाद बना सका था। चीन की नई साम्यवादी सरकार भी आशा कर रही है कि साम्यवाद की नींव को मजबूत करने में उसे अभी पन्द्रह-बीस वर्ष और लग जायेंगे। इसलिए यह सोचना गलत है कि अधिनायक-तन्त्र के सयोजन लोकतान्त्रिक संयोजन की अपेक्षा अधिक जल्दी फलदायक होता है। हमें तो उल्टे निश्चय है कि अधिनायक-तन्त्री तरीकों की अपेक्षा शान्ति का मार्ग ही जल्दी और स्थायी फल देता है।

परन्तु भारत जिस प्रकार का समाजवादी राज्य चाहता है, उसका रूप क्या होगा यह समझ लेना बड़ा जरूरी है। अपनी योजना का साफ-साफ चित्र हमें हमेशा अपनी आँखों के सामने रखना चाहिए। हमारी आर्थिक नीति के बुनियादी उद्देश्य ये हैं—१ अधिक-से-अधिक उत्पादन २ बेकारी का निर्मूलन ३ और सामाजिक तथा आर्थिक न्याय। हम भारी उद्योगों के—खास तौरपर बुनियादी भारी उद्योगों के—विरोधी नहीं हैं, परन्तु ऐसे उद्योगों पर यथा-सम्भव स्वामित्व राज्य का ही हो। संचालन भी उनका राज्य ही करे। यदि ऐसे उद्योगों का निकट भविष्य में राष्ट्रीयकरण नहीं हो सकता है तो उनपर राज्य का पूरा नियन्त्रण तो अवश्य हो। राज्य अपने साधनों का उपयोग पुराने धन्धोंवाले वर्तमान उद्योगों को खरीदने में नहीं नये उद्योग खड़े करने में ही करे। हां पुराने उद्योगों का राष्ट्रीयकरण राष्ट्र की दृष्टि से हितकर हो तो बात दूसरी है। जहांतक उपभोग्य वस्तुओं के उद्योगों से सम्बन्ध है इन्हें औद्योगिक सहकारी समितियों के रूप में विकेन्द्रित कर देने का हर प्रकार से प्रयत्न कर दिया जाय। राष्ट्रीय विकास परिषद् की एक बैठक में प्रधान मन्त्री ने कहा था कि बड़े उत्पादनवाले कारखानों में अधिक मजदूरों को काम नहीं दिया जा सकता। यदि हम चाहें कि हम अपने तमाम बेकारों को बड़े कारखानों में ही काम दें तो ऐसे कारखाने खड़े करने के लिए इतनी अधिक पूंजी की आवश्यकता होगी जिसकी गिनती "खगोल विद्या के अंकों में ही हो सकती है। इसीलिए उन्होंने कहा कि "मुझे जरा भी शंका नहीं है कि बेकारी की समस्या को हम छोटे और गृहोद्योगों के द्वारा ही हल कर सकते हैं। उद्योगों के क्षेत्र म यन्त्रों के उपयोग के भी हम विरोधी नहीं हैं, परन्तु विज्ञान के आविष्कारों का उपयोग इस प्रकार किया जाना चाहिए कि जिसस हम अधिकतम उत्पादन बेकारी-निवारण और आर्थिक तथा सामाजिक न्याय इन तीनों प्रश्नों को एक साथ हल कर सकें। दूसरे शब्दों में हम जैसे तैसे नहीं इस प्रकार उत्पादन बढ़ाना चाहते हैं जिससे राष्ट्र को लाभ हो। प्रसन्नता की बात है कि अम्बर चर्खा अर्थात् नये ढंग का सुधरा हुआ चरखा एक करोड़ आदमियों को काम देने की क्षमता रखता है जिसके लिए केवल बीसेक करोड़ रुपये की पूंजी लगानी होगी। इस चरखे की मदद से हर मनुष्य

साधारणतः बारह आने रोज घर बैठे कमा सकेगा। पूरी और आंशिक बेकारी की समस्या को हल करने के लिए हमें इस प्रकार के धन्धों की जरूरत है जिनमें अधिक-से-अधिक मनुष्यों को काम दिया जा सकता है।

आचार्य विनोबा भावे ने कहा था कि बिहार और देश के अन्य भागों में बाढ़ों ने जो बरबादी की है उससे उन्हें इतना दुःख नहीं हुआ जितना गृहोद्योगों और ग्रामोद्योगों के विनाश से होता है। आज भी कितने ही ग्रामोद्योगों की हत्या हमारी आंखों के सामने हो रही है। खादी और हाथ-करघों पर काम करनेवालों की हालत बड़ी शोचनीय हो रही है यद्यपि पिछले कुछ महीनों में उसमें कुछ सुधार हुआ है। चावलों की हाथकुटाई के उद्योग की हत्या मिलें कर रही हैं। तेल की मिलें तेलघानी उद्योग का खून कर रही हैं और चीनी की मिलें गुड़ और खण्डसारी के ग्रामोद्योग का प्राण ले रही हैं। हमारा मतलब यह नहीं है कि कपड़ा तेल चावल और चीनी की वर्तमान मिलों को एकदम बन्द कर दिया जाय परन्तु ग्रामोद्योग छोटे उद्योग और बड़े उद्योगों के क्षेत्र निश्चित कर दिये जायं उदाहरणार्थ जैसा कि योजना-आयोग का सुझाव है खाद्य तेलों का क्षेत्र पूरी तरह से घानियों के लिए सुरक्षित रहे और मिलों में केवल अखाद्य तेल उत्पन्न किये जाय। इसी प्रकार पोषण की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि चावलों की कुटाई का काम पूरी तरह से हाथ से ही हो। कपड़े के क्षेत्र में भी कुछ किस्में खादी और हाथकरघों पर ही बन। हम यह निश्चय कर लें कि अन्त में हाथ-करघों पर केवल खादी या अम्बर चरखे पर कता सूत ही काम में लिया जाय। हमें विश्वास है कि इन प्रश्नों को अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग बोर्ड अपने हाथ में लेगा और भारत सरकार भी इस बोर्ड की सिफारिशों के प्रकाश में ही अपने अंतिम निर्णय करेगी।

समाजवादी समाज के आदर्श को कार्यान्वित करने के लिए वर्तमान शिक्षा-पद्धति में भी हमको आमूल परिवर्तन करना होगा क्योंकि आज एक तरफ तो शिक्षितों में लगातार बेकारी बढ़ रही है और दूसरी तरफ हमारी पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत कई महत्त्वपूर्ण योजनाओं के लिए हम प्रशिक्षित व्यक्तियों की कमी बहुत अनुभव कर रहे हैं। उदाहरणार्थ ग्रामीण क्षेत्रों के लिए हमें डॉक्टरों और इंजीनियरों की पूरी फौज की जरूरत है। प्रधान

मंत्री ने राष्ट्रीय विकास परिषद् के सामने ठीक ही कहा था कि हमारी ग्रामीण योजनाओं को पूरी करने के लिए हम इतना नहीं ठहर सकते कि डॉक्टरों और इंजीनियरों को पूरी शिक्षा देने में वर्षों लगा दें। थोड़े और लम्बे समय के प्रशिक्षण वर्ग साथ-साथ चलाये जा सकते हैं। प्रधानमंत्री ने तो यहांतक कहा कि "इन लोगों को आधी और चौथाई शिक्षा देकर भी गांवों में भेजा जा सके तो इसे मैं पसन्द करूंगा क्योंकि इससे इस संक्रमण काल में ग्रामों को कुछ तो सहायता हो सकेगी। मतलब यही है कि कार्य बहुत भारी है और उसको जल्दी-से-जल्दी पूरी करने का ध्यान हमें रखना है।

१

समाजवादी संयोजन में लोकतन्त्र की दृष्टि

योजना-आयोग ने अपनी सलाह के लिए कुछ वैज्ञानिकों का एक मंडल नियुक्त किया है। इसकी बैठक का समारम्भ करते हुए श्री जवाहरलाल नेहरू ने पंचवर्षीय योजना के प्रसंग में लोकतन्त्र की दृष्टि से इसपर बड़ा जोर देते हुए कहा कि इसके लिए हमें किसानों मजदूरों बुद्धिजीवियों और समस्त जनता का दिली सहयोग प्राप्त करना चाहिए। उन्होंने कहा कि आप यह तो आशा नहीं कर सकते कि खेतों में काम करनेवाले किसानों और मजदूरों को आपकी योजना की तफसीलों की जानकारी होगी। फिर भी यह जरूरी है कि हम जो कुछ कर रहे हैं उसे वे समझें और पसन्द करें, और हमें बतायें कि हम ठीक कर रहे हैं या नहीं। श्री नेहरू ने वैज्ञानिकों से कहा 'लोकतन्त्री देशों में लोग किन बातों को चाहते हैं, इसका वे ध्यान रक्खें। इसका यदि आप ध्यान नहीं रक्खेंगे तो आपको सफलता नहीं मिलेगी और योजना का सारा प्रयास बेकार होगा। वह समाप्त हो जायगी। उन्होंने यह भी कहा कि संयोजन के सिद्धांत प्रत्येक देश की जरूरतों और उसके निवासियों की पूर्व-परम्पराओं परिस्थितियों और प्रकृति तथा मान्यताओं को देखकर ही कायम किये जाने चाहिए।

लोग अक्सर पूछते हैं कि क्या आर्थिक संयोजन लोकतन्त्र में सम्भव है। कुछ अर्थशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों का यह पक्का विश्वास है कि संयो-

रूप में कड़े नियन्त्रण बगैर सम्भव नहीं और ऐसा कड़ा नियन्त्रण लोगों की आज़ादी छीन लेता है, वे गुलाम बन जाते हैं। दूसरे विचारकों का ख्याल है कि आर्थिक संयोजन सही मार्गों में सफल तभी होगा जब वहां लोकतन्त्र का—आज़ादी का—वातावरण होगा। सोवियत रूस का संयोजन डिक्टेटरशाही का जोर-जबरदस्ती का संयोजन है। ऐसे कड़े नियन्त्रणवाले केन्द्रित संयोजन में व्यक्ति आज़ादी नहीं अनुभव करता। उत्पादन के लक्ष्यों को पूरा करने वितरण का प्रबन्ध करने और सब लोगों को पूरा काम देने की सारी जिम्मेदारी और सत्ता शासन अपने हाथ में ले लेता है। वहां व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए कोई स्थान ही नहीं होता। वह राज्य-संयोजन के महान यन्त्र का एक पुर्जा-मात्र बन जाता है। इसी प्रकार का संयोजन चीन जैसे दूसरे साम्यवादी देशों में भी चल रहा है। बेशक स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार, छोटे-बड़े मामूली फेर-फार अवश्य होते हैं। उधर संयुक्त राज्य अमरीका फ्रान्स और यूरोप के दूसरे देशों में खेती और उद्योगों के उत्पादन मजदूरी देने और सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्रों में जब जहां जैसी जरूरत हुई, टुकड़ों में संयोजन से काम लिया गया है। उदाहरणार्थ संयुक्त राज्य अमरीका में जब बहुत बड़ी मन्दी आई तो उसका मुकाबला करने के लिए राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने राष्ट्रीय राहत अधिनियम—नेशनल रिकवरी एक्ट—बनाया। इसी प्रकार ग्रेट ब्रिटेन में बीवरिज समाज-सुरक्षा योजना बनी थी। दूसरे कई देशों में भी राष्ट्रीय जीवन के सीमित क्षेत्रों में संयोजन के प्रयोग किये गए हैं, परन्तु लोकतन्त्र में देश-व्यापी रूप में संयोजन का विशाल प्रयोग करने का साहस संसार में एकमात्र भारत ही कर रहा है। जब पहली पंचवर्षीय योजना बनी तो लोगों को उसकी सफलता के बारे में बड़ी शंकाएं थीं परन्तु उसने अनेक क्षेत्रों में अपने निर्धारित लक्ष्यों से भी अधिक सफलता प्राप्त करके दिखा दी और जनता के हृदय में एक प्रकार के आत्म-विश्वास और स्वावलम्बन की भावना भर दी।

दूसरी पंचवर्षीय योजना भी काफी आगे बढ़ गई है और समाजवादी स्वरूप के समाज की नींव डालने की आशा दिला रही है। उसपर ठीक प्रकार से अमल होने से यह राष्ट्रीय आय को २५ प्रतिशत बढ़ा देगी और शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में कुल मिलाकर करोड़ सवा करोड़ अधिक

मनुष्यों को रोजी दिला सकेगी। यह कई भारी और महत्त्वपूर्ण उद्योग खड़ा कर देगी जो भावी आर्थिक विकास के सुदृढ़ आधार का काम करेंगे। इसके अलावा सारे देश में यह छोटे-छोटे और गृहउद्योग भी फैला देगी। औद्योगिक विकास के अलावा दूसरी पंचवर्षीय योजना में खेती की उपज को बढ़ाने पर भी बहुत जोर दिया गया है। इससे जहां एक तरफ देश के निवासियों के लिए भरपूर अन्न हो जायगा वहां दूसरी ओर अन्नों के अलावा उपज बेचकर विदेशी मुद्रा भी कमाई जा सकेगी जिससे बाहर से यन्त्र-सामग्री और अन्य प्रकार का कच्चा माल मंगाया जा सकेगा। दूसरी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत हमारी अनेक नदी-घाटी योजनाएं पूरी हो जायेंगी और वे हमारे कारखानों के लिए अधिकाधिक बिजली देने लग जायेंगी। ये भावी सफलताएं खासतौर पर भारत जैसे अविकसित देश के लिए, बड़ी आनन्ददायक होंगी। प्रधान मन्त्री लोगों से हमेशा अपील करते रहते हैं कि वे नवीन भारत के निर्माण के महान पुरुषार्थ में शरीक हों। इस महान साहसिक कार्य की विशेषता यह है कि यह लोकतन्त्र के शान्तिपूर्ण तरीकों से किया जा रहा है।

यह सोचना भूल है कि डिक्टेटरशाहीवाले देशों में जितनी तेजी से प्रगति होती है उसकी तुलना में यह लोकतन्त्री पद्धति धीमी है। उदाहरणार्थ हमसे प्रायः कहा जाता है कि चीन में आर्थिक विकास की गति भारत की अपेक्षा कहीं तेज है। यह सच भी है कि कुछ बातों में चीन हमसे आगे है, परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि कई अनेक बातों मे चीन से भारत आगे है। चीनी जनराज्य के प्रधानमन्त्री श्री चाऊ एन लाई ने अपने बम्बई के एक भाषण में कहा था कि "राष्ट्रीय विकास के अनेक क्षेत्रों में भारत ने बहुत काम किया है। उन्होंने कहा था कि कई बातों में भारत चीन से आगे है और चीन के लोगों को चाहिए कि वे अपने भारतीय मित्रों से नम्रतापूर्वक ये बातें सीख लें। इन दो देशों के बीच पिछले दो हजार वर्षों से दोस्ती चली आई है। इन दो महान् देशों को परस्पर के साथ आर्थिक सांस्कृतिक और दार्शनिक सम्बन्ध स्थापित करने के अनेक अवसर मिले हैं। परन्तु आज ये दोनों देश भिन्न आर्थिक और राजनैतिक विचार-धाराओं को मानते हैं। भारत दृढ़ता के साथ लोकतन्त्र और अहिंसक क्रान्ति की

राह पर चल रहा है। और चीन डिक्टेटरशाही के मातहत अपने मार्ग पर जा रहा है। फिर भी दोनों देश एक-दूसरे से काफी नई-नई बातें सीख सकते हैं, परन्तु भारतवासियों को जरा भी यह आशंका नहीं होनी चाहिए कि लोकतन्त्री संयोजन डिक्टेटरशाही संयोजन की अपेक्षा धीरे-धीरे काम करता है।

फिर भी यह अति आवश्यक है कि लोकतन्त्र में संयोजन खेती तथा उद्योगों के विकेन्द्रीकरण की पद्धति से हो। बड़े-बड़े बुनियादी उद्योग राष्ट्र के ही हों और वही उनका संचालन भी करे, परन्तु उपभोग्य वस्तुओं के उद्योग सहकारिता के आधार पर जितना भी सम्भव हो व्यापक रूप से विकेन्द्रित कर दिये जायं। राष्ट्र का निर्माण बिल्कुल नीचे से हो इस दृष्टि से प्रत्येक गांव या कुछ गांव मिलकर अपनी जरूरतों के बारे में स्वावलम्बी बनने और अपनी बुद्धि से ही हर काम को करने की कोशिश करें। इस दृष्टि से राष्ट्र-निर्माण में पंचायतों और सहकारी समितियों का भाग अत्यन्त महत्वपूर्ण होगा। यदि ऐसा नहीं किया गया तो लोकतन्त्र में भी संयोजन अत्याचार और सैनिक ढंग की जबरदस्ती का एक कारण बन सकता है। हमें सदा यह ध्यान रखना है कि लोकतन्त्र में संयोजन वही सफल माना जा सकेगा जिसमें खासकर ग्रामीण क्षेत्र के लोगों को अपनी शक्ति का भान होने लग जाय और वे अपनी निजी सूझ-बूझ से हर काम करें। अभी तक शासकीय कार्यक्रमों में लोग सहयोग देते रहे हैं। अब सामुदायिक विकास योजनाएं ऐसा प्रयत्न कर रही हैं कि लोगों की योजनाओं में सरकार सहयोग दे। देश में समाजवादी स्वरूप के समाज का निर्माण करने का यही एकमात्र लोकतांत्रिक तरीका है। केन्द्रीकरण से और नौकरशाही तरीकों से बचने का हमें हमेशा ध्यान रखना होगा। यदि ऐसा नहीं करेंगे तो हमारे मार्ग में बड़ी कठिनाइयां आयंगी और बड़ी-बड़ी मुसीबतों का सामना करना होगा।

७

नीचे से संयोजन

भारत के संविधान के निदेशक सिद्धान्तों में से एक यह है कि स्वशासन की इकाइयों के रूप में राज्य ग्राम-पंचायतों का संगठन करेगा।

गांधीजी ने भी आर्थिक और राजनैतिक सत्ता को विकेन्द्रित करना लाभ दायक माना और इस हेतु से ग्राम-पंचायतों को पुनर्जीवित करने की सलाह दी है। उनका तो सच्चे स्वराज्य का सपना यह है कि "सारे देश में स्वाव लम्बी स्वशासित छोटे-छोटे ग्राम-राज्य कायम हो जायं। सौभाग्य से सारे राज्यों ने अपने-अपने यहां ग्राम-पंचायतों की स्थापना के सम्बन्ध में कानून बना दिये हैं। इनकी रचना और अधिकार यद्यपि हर राज्य में अलग-अलग प्रकार के हैं परन्तु उन सबमें ऐसे बीज हैं जिनके द्वारा हम बिल्कुल नीचे से छोटी-छोटी स्वायत्त ग्राम-समाजों के आधार पर अपने नवीन लोकतन्त्र की इमारत खड़ी कर सकते हैं।

आज पश्चिम के तमाम अग्रगामी राजनीतिज्ञ और समाज-सुधारक भी मानने लग गये हैं कि यदि लोकतन्त्र को आज एक सामाजिक और आर्थिक संगठन के रूप में सफलतापूर्वक काम करना है तो उसे विकेन्द्रित रूप में ही काम करना होगा। अध्यापक जोड ने कहा है कि "यदि समाज की कर्तृत्व शक्ति में मनुष्य की श्रद्धा फिर से जगानी है तो राज्य के छोटे छोटे टुकड़े करने होंगे और उसके अधिकारों को भी बांट देना होगा।" डॉ. ब्रुकिंग भी मानते हैं कि "छोटे-छोटे सुगठित गणराज्यों में ही सच्ची सभ्यता की रक्षा हो सकती है। आधुनिक समाज-शास्त्र भी इस सिद्धान्त को मानता है कि "छोटी-छोटी इकाइयों में मनुष्य बड़ा सुखी रहता है। आधुनिक समाज के दोषों का विश्लेषण करते हुए अध्यापक एल्टन कहते हैं कि "बुराई की जड़ में जाकर देखिये और साहस के साथ विकेन्द्रीकरण और सत्ता के बंटवारे का मार्ग ग्रहण कीजिये। अमरीका का प्रसिद्ध समाज-शास्त्री लेविस ममफोर्ड भी "गांवों में छोटी-छोटी सामाजिक इकाइयां ही बनाने की सलाह देता है। आज भी अमरीका में ग्रामीण और सहकारी जीवन के निर्माण में छोटी-छोटी इकाइयां बड़ा काम कर रही हैं। प्रगति के पथ पर 'कैन्टुकी माँ दि मार्च'[1] सर्वोदय के मार्ग पर चलनेवाले स्त्री-पुरुषों की बड़ी दिलचस्प कहानी है। 'छोटे कस्बों का पुनरुज्जीवन' में बड़े जोर के साथ कहा गया है कि

---

[1] 'स्माल टाउन रिनेसां'

"प्राणवान लोकतन्त्र के पनपने और एक शक्ति के रूप में बढ़ाने के लिए आवश्यक वातावरण केवल छोटी-छोटी इकाइयों में ही मिल सकता है। न्यूयार्क के पास अपने 'जीवन-विद्यालय' मे डॉ बोरसोदी छोटी इकाइयों में विकेन्द्रित जीवन के विकास का प्रयोग कर रहे हैं। मोहिमो में असो स्प्रिंग्स में डॉ मॉर्गन का सामाजिक जीवन के निर्माण का प्रयत्न भी लोकतन्त्री जीवन की रक्षा का और उसे स्थायित्व प्रदान करने का एक साहसभरा प्रयत्न है।

इस प्रकार ग्राम-पंचायतों की कल्पना कोई मध्ययुग की पिछड़ी हुई कल्पना या कबाइली जीवन का अवशेष नहीं है। जैसा कि डॉ राधाकृष्णन ने कहा है 'ग्रामीण जीवन को अपनाने का अर्थ जंगली अवस्था को लौट जाना नहीं है भारत की प्रकृति के अनुकूल जो जीवन है उसकी रक्षा करने का यह एकमात्र तरीका है। डॉ राधाकमल मुकर्जी ने अपने 'डेमोक्रेसीज़ इन दि ईस्ट' मे लिखा है कि किस प्रकार "ग्राम-पंचायतें नवीन समाज का सुन्दर नमूना पेश कर सकती हैं। इनमें अलग-अलग धन्धों में लगे हुए ग्रामीणजन हिल-मिलकर प्रेम से रहेंगे और भावी राज्य के निर्माण में इस केन्द्रित संसदीय लोकतन्त्र की अपेक्षा कहीं अधिक और सन्तोषजनक योग देंगे। ग्रामीण जीवन का यह तरीका पुराना बेकार तथा त्याज्य नहीं है। शासन और आर्थिक संगठन की बुनियादी इकाई के रूप में यह विज्ञान के इस युग के अनुरूप ही है। इतनी सारी वैज्ञानिक प्रगति के बावजूद केन्द्रीकरण की अपेक्षा विकेन्द्रीकरण का आश्रय लेने मे ही समाज का कल्याण है। यह सोचना भी गलत है कि ग्राम-पंचायतों का जीवन अकेला तथा एकांतिक होगा। प्राचीन काल में भी लोगों का जीवन ऐसा नहीं था। सारे स्तरों पर समाज की कड़ियां बराबर एक-दूसरे से जुड़ी हुई थीं। सच तो यह है कि विज्ञान और लोकतन्त्र की प्रगति का स्वाभाविक परिणाम यही होना चाहिए कि आर्थिक और राजनैतिक सत्ता का अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण और वितरण हो।

लोकतन्त्र में राष्ट्रीय संयोजन तभी सफल होगा जब योजनाओं का निर्माण और अमल लोगों पर ऊपर से लादने के बजाय ठेठ नीचे से लोग स्वयं शुरू करें। इसलिए सच्चे आर्थिक संयोजन का अर्थ यही है कि नीचे

से सुसंगठित व्यवस्थित छोटी-छोटी इकाइयां गांवों और छोटे-छोटे कस्बों में भी बनाई जायं। प्रसन्नता की बात तो यह है कि हमारे देश की पंचवर्षीय योजनाओं में इस बात का यानी आर्थिक क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण का ध्यान रक्खा गया है। सामुदायिक विकास योजनाएं और राष्ट्रीय विकास खण्डों की योजनाएं इसी दिशा में लिये गए सही कदम हैं। इनकी छोटी-छोटी बातों में भले ही थोड़ा-बहुत मतभेद हो। स्थानीय योजनाओंवाले भाग हमारी राय में इस राष्ट्रीय योजना का मूल है। परन्तु ये स्थानीय योजनाएं तभी सफल होंगी जब इनपर अमल करने के लिए सबल और सुगठित पंचायतें देश-भर में होंगी। यदि इस प्रकार अपने राष्ट्रीय जीवन के निर्माण का काम हम नीचे से ग्राम-पंचायतों के निर्माण से लेकर सच्चे दिल से करेंगे तो हमारे देश के नागरिक जीवन और न्याय-प्रशासन में भी प्रत्यक्ष लाभ दिखाई देगा।

ग्राम-पंचायतों की प्राचीन परंपरा इस देश में आजकल की तरह दल-पद्धति की नहीं संपूर्ण समाज को एक मानकर चलनेवाली सुगठित लोकतंत्र की थी। पंचों को प्रत्यक्ष परमेश्वर के समान माना जाता था। पंचायतों के चुनाव प्रायः सर्वसम्मति से होते थे। जहांपर सब एकमत नहीं हो पाते थे वहां पर्चियां डालकर छोटे बच्चे से एक पर्ची उठवा ली जाती थी। लोकतंत्र की स्वस्थ परम्पराओं के आधार पर यदि हम देश का निर्माण करना चाहते हैं तो हमें अपनी पंचायतों को फिर से जीवित करना होगा और उनके निर्माण और संचालन में सर्वसम्मति से काम करने की पद्धति शुरू करनी होगी। आशा है, देश के राजनैतिक दल इस प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक विचार करेंगे और ग्रामपंचायतों को दलगत राजनीति के अखाड़े नहीं बनायंगे। हम सबको चाहिए कि अपनी पुरानी पंचायत-संस्था को पुनरुज्जीवित करें और दलगत और संप्रदायों के विचारों से अलग और ऊपर रखकर सहकारशील उदार पद्धति से पंचायतों को चलायें तभी हम भारत का उसकी सच्ची प्रकृति के अनुरूप निर्माण कर सकेंगे।

लगभग सभी राज्य-सरकारों ने ग्राम-पंचायतों और न्याय-पंचायतों की स्थापना के बारे में आवश्यक कानून भी बना दिये हैं। हां प्रत्येक स्थान की विशेष परिस्थिति और परम्पराओं के अनुसार इन कानूनों में विभिन्नता

काफ़ी है। अब यह ज़रूरी है कि इन पंचायतों के काम के अनुभव को एकत्र किया जाय और प्रशासन न्यायदान और राष्ट्र के आर्थिक संयोजन की दृष्टि से इन्हें सबसे उत्तम साधन किस प्रकार बनाया जा सकता है, इसका प्रयत्न किया जाय। ग्राम-पंचायतों और न्याय-पंचायतों के पारस्परिक सम्बन्ध अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग प्रकार के हैं। कुछ राज्यों में न्याय-पंचायतें ग्राम-पंचायतों की उपसमितियों के रूप में काम कर रही हैं। दूसरे कई राज्यों में वे स्वतंत्र रूप से अलग-अलग काम कर रही हैं और दोनों में शायद ही कोई सम्बन्ध है। इसी प्रकार प्रशासन और कर लगाने सम्बन्धी पंचायतों के अधिकार भी अलग-अलग राज्यों में अलग अलग हैं।

भारत सदियों से पंचायतों का घर रहा है। वेदों जातकों धर्म-सूत्रों महाभारत मनुस्मृति शुक्र-नीतिसार कौटिल्य के अर्थशास्त्र और मुस्लिम शासकों तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कागजों में उनके विस्तृत उल्लेख पाये जाते हैं। कितने ही राजवंशों और साम्राज्यों का उत्थान और पतन हुआ परन्तु ये छोटे-छोटे गणराज्य निर्बाध रूप से अपना काम करते रहे। हां ब्रिटिश राज्य में जाकर इनको बहुत बड़ा धक्का लगा। इसका कारण अंग्रेजों का अत्यधिक लोभ था। वे सत्ता को पूरी तरह से अपने हाथों में रखना चाहते थे इसलिए लगान की वसूली भी अपने ही हाथों में उन्होंने ले ली। परन्तु अब पुराने धागों को फिर से एकत्र किया जा रहा है और हमें विश्वास है कि गांधीजी के सपने के नवीन भारत के निर्माण में पंचायतें बड़ा महत्वपूर्ण काम करेंगी। पिछले कुछ दशकों में पंचायतें बड़ी दुर्दशा में पहुंच गई थीं और लोग उनकी क्षमता और प्रतिष्ठा में विश्वास खो चुके थे। इसलिए ग्रामीण समाज में इनकी शक्ति और उपयोगिता के बारे में पूरा विश्वास उत्पन्न होने में स्वभावतः कुछ समय लगेगा। फिर भी निराशा का रत्तीभर भी कारण नहीं है।

पश्चिम के लोकतंत्र में अनेक खामियां हैं। उसमें आर्थिक जड़ता और सत्ता का अत्यधिक केन्द्रीकरण हो गया है। अपनी इस प्राचीन विरासत को यदि हम फिर से अपना लें तो भारत अपना और दूसरे अनेक राष्ट्रों का भी अपने उदाहरण द्वारा काफ़ी भला कर सकेगा। सत्ता और संपत्ति की

विकेन्द्रित व्यवस्था और वर्ग-पक्ष-मुक्त (सारे समाज को एक मानकर) प्रबन्ध में इस पद्धति के दो बड़े गुण हैं। गांधीजी ने कहा है "केन्द्र में बीस आदमी बैठ जाय और शासन-प्रबन्ध करें यह लोकतंत्र नहीं है। सच्चे लोकतंत्र में तो गांवों में बैठकर लोग नीचे से काम करते हैं। गांवों में स्वस्थ और शक्तिशाली ग्राम-पंचायतों की स्थापना होगी और वे सूझ-बूझ से काम करने लगेंगी। तब लोकतंत्र की पद्धति का आर्थिक संयोजन सफल होगा।

८

संयोजन और सर्वोदय

"विनोबाजी के सर्वोदय की कल्पना हममें से बहुतों को कुछ अजीब-सी भले ही लग रही हो परन्तु मूलतः देखा जाय तो आज हम इस बारे में जितने भी शब्दों का प्रयोग करते हैं उन सबसे यह शब्द और कल्पना भी कहीं अधिक अच्छे हैं। सच तो यह है कि मैं उसका उपयोग केवल इसलिए जान-बूझकर नहीं कर रहा हूं कि हम अभी अपनेको उस योग्य नहीं पाते और हमें संकोच होता है कि इस उच्च कल्पना और पवित्र शब्द का कहीं दुरुपयोग न हो जाय। आज सारे भारत में एक मंथन-सा चल रहा है। कहीं पंचवर्षीय योजना को सफल बनाने की धुन है तो कहीं खेती को सुधारने की चिन्ता है, कहीं छोटे-बड़े उद्योग कहां-कहां खोले जायं इसकी चिन्ता है तो कहीं समाज-सुधार और समाज-कल्याण की भाग-दौड़ चल रही है। कहीं भाषा के विवाद जोर-शोर से चल रहे हैं, तो कहीं राजनैतिक और आर्थिक प्रश्नों की गरमा-गरम चर्चाएं चल रही हैं। कहीं फूट है तो कहीं एकता की कोशिशें और अपीलें जारी हो रही हैं। मतलब यह कि आज देश में इस प्रकार एक तूफान-सा आया हुआ है परन्तु इन सबके बीच विनोबा की दुर्बल मूर्ति चट्टान की भांति दृढ़ता के साथ खड़ी है। यों दीखने में वह सौम्य और शान्त है परन्तु अपने अन्दर वह लम्बे अतीत की सारी शक्ति समेटे हुए है और उनकी आंखों में भविष्य का स्वप्न भी मानो साकार खड़ा है।"[1]

---

[1] चंगपुर सर्वोदय-सम्मेलन के लिए भगवन्ती नेहरूजी का सन्देश।

पंढरपुर सर्वोदय सम्मेलन के समक्ष भाषण देते हुए विनोबा ने बड़ा जोर देकर कहा कि संयोजन ठेठ नीचे से गांव से ऊपर की ओर होना चाहिए। दिल्ली में बैठकर देश के लाखों गांवों के लिए जो योजना बनेगी वह सही नहीं होगी। इसी बात का समर्थन करते हुए नेहरूजी ने दिल्ली की एक पत्रकार-परिषद में कहा था— 'सच्चा संयोजन सरकार के किसी यंत्र के द्वारा हो ही नहीं सकता। अगर सच्चा और व्यावहारिक संयोजन व्यापक तौर पर करना है तो उसमें लोगों का—ठेठ गांवों के लोगों का—सहयोग होना चाहिए। "जाहिर है कि यदि आपकी योजनाएं ठेठ गांवों तक पहुंचना चाहती हैं तो यह काम नौकरशाही ढंग से केवल ऊपर बैठकर नहीं बन सकता। और, नौकर तो रहेंगे ही। हर राष्ट्र में होते हैं उनकी निन्दा करने में कोई लाभ नहीं। केवल वे ही अपने मनमाने ढंग से काम करते रहें तो वह बुरा—खतरनाक—होता है। परन्तु वे जनता की इच्छा के अनुसार और उसके अनुकूल काम करेंगे अर्थात् दोनों सहयोग से काम करते हैं और एक-दूसरे की मदद करते हैं तब काम अच्छा होता है।"

आबू में सामुदायिक विकास योजनाओं के बारे में हुई परिषद ने भी गांवों की विभिन्न संस्थाओं अर्थात् ग्राम-पंचायतों, सहकारी समितियों और शालाओं का सहयोग लेने पर बड़ा जोर दिया गया था। श्री बलवंत राय मेहता के सभापतित्व में योजना-कार्यों के बारे में जो समिति बनाई गई है, उसने भी विकास-खण्डों की पंचायतों तक शासन को विकेन्द्रित करने पर जोर दिया है और कहा है कि ग्राम-पंचायतों को काफी अधिकार दिये जाने चाहिए। व्यावहारिक दृष्टि से भी हमको इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। भारत एक बहुत विशाल और कम विकसित देश है। इसकी आबादी और क्षेत्र भी बहुत है। केन्द्रित सत्तावाले शासन या योजना-आयोग के लिए यह असम्भव है कि वह एक-एक गांव की हालत और जरूरतों को जानकर उसके सर्वांगीण विकास की पूर्ति कर सके। यद्यपि सिंचाई, परिवहन संचार और बड़े-बड़े भारी उद्योगों की योजनाओं में भी लोगों को अवश्य दिलचस्पी है। परन्तु इनसे कहीं अधिक दिलचस्पी उन्हें उन योजनाओं में होती है, जो उनकी प्रत्यक्ष जरूरतों से सम्बन्ध रखती

हैं और जो उनकी आंखों के सामने चमती हैं। इसलिए इस प्रकार की योजनाओं के क्षेत्र को अधिक बढ़ाना चाहिए और लोगों को प्रोत्साहन और अनुकूलताएं प्रदान करनी चाहिए कि वे स्वयं अपनी योजनाएं बनावें और प्राथमिकता के अनुसार उन्हें कार्यान्वित भी करें। प्रसन्नता की बात है कि लगभग तमाम राज्य-सरकारें अब यह प्रयत्न कर रही हैं कि स्थानीय योजनाएं ग्राम-पंचायतें ही बनावें और वे ही उन्हें पूरी भी करें।

परन्तु हम अपने सही उद्देश्य को तभी पा सकेंगे जब राष्ट्र के संयोजकों की वृत्ति नौकरशाही से भिन्न होगी। हम सबको यह पक्की गांठ बांध लेनी चाहिए कि लोकतन्त्र में संयोजन तभी सफल होगा जब लोग अपना संयोजन खुद अपने लिए करेंगे। फिर लोकतन्त्र का मुख्य तत्व यही है कि लोगों का आदर हो। जबतक उनके हाथों में काफी अधिकार नहीं हैं और उन्हें अपनी जिम्मेदारियां पूरी करने का अवसर नहीं दिया जायगा। तबतक उनमें नागरिक कर्तव्यों का भाव उसके लिए आवश्यक सूझ-बूझ और अभिक्रम नहीं आवेगा। लोकतंत्र में संयोजकों का सबसे पहला कर्तव्य यह है कि वे मानव का विकास करें। जैसा कि प्रधान मन्त्री ने कहा था सबसे महत्व की बात तो यह है कि आप मानव की तरफ कितना ध्यान देते हैं। यदि लोकतन्त्र में मनुष्य को अपने विकास का अवसर नहीं मिलता उसके व्यक्तित्व को दबा दिया जाता है तो वहां संयोजन में सफलता की अधिक आशा नहीं की जा सकती।

इसका मतलब यह नहीं कि हम गांवों को अलग-अलग रहने दें और देश के शेष भाग से उनका कोई सम्बन्ध न हो। प्राचीन काल में भी ऐसा नहीं था। उनका आपस में तथा ऊपर की बड़ी मर्यादा जिले और प्रान्त के स्तर की संस्थाओं से बराबर सम्बन्ध था। ग्राम-पंचायत के ऊपर खण्ड पंचायत जिला पंचायत और राज्य-सरकार होगी। परन्तु ऊपर की पंचायत का मुख्य काम देख भाल मार्ग-दर्शन और समन्वय का ही होगा। ग्रामों और कस्बों को यह समझा दिया जाय कि अपने विकास-कार्यों के लिए उन्हें अपने ही धन-जन के साधनों पर निर्भर रहना चाहिए। उदाहरणार्थ आंशिक या पूरी बेकारी की समस्या को प्रत्येक स्थान के लोग खुद ही हल करें।

दिल्ली के योजना-आयोग से यह आशा न करें। अगर लोगों से कह दिया जाय कि अपने-अपने गांवों की बेकारी को मिटाने की योजना और उसका अमल उन्हें खुद करना होगा तो लोग अपनी स्थानीय योजनाओं में अपने बेकार मनुष्यों के लिए काम पैदा कर लेंगे और उन्हें पूरा भी करवा लेंगे। बहुत हुआ तो इसके लिए जिले को एक इकाई मान लिया जाय। गांवों का पूरा विकास केन्द्रीय सत्ता करे यह आशा करना व्यर्थ है।

इसलिए सर्वोदय का आदर्श आर्थिक और राजनैतिक सत्ता के अधिक-से-अधिक विकेन्द्रीकरण द्वारा सबका कल्याण साधन है। गांधीजी हमेशा कहा करते थे कि वह स्वराज्य निकम्मा होगा जो हर गांव में स्वतन्त्रता का दैव नहीं जगा सके। प्रधान मन्त्री और सामुदायिक विकास-योजनाओं के मन्त्री भी यही मानते हैं। यद्यपि हम 'सर्वोदय' शब्द का प्रयोग नहीं करते हैं फिर भी हमारी सारी विकास-योजनाओं का लक्ष्य तो उसी आदर्श को जल्दी-से-जल्दी प्राप्त करना है। यह भी माना कि सर्वोदय के नमूने की समाज-रचना हम जल्दी नहीं कर सकेंगे परन्तु हमारे लक्ष्य के बारे में कोई भ्रम नहीं होना चाहिए। भारत सर्वोदय के नमूने के लोकतन्त्र की स्थापना करना चाहता है और उसका संयोजन विकेन्द्रीकरण सहकारिता और शांति के सिद्धान्तों पर होगा। इस विषय में किसीको भ्रम न रहे। इसलिए विकेन्द्रीकरण हिंसा और वर्ग-संघर्ष की दिशा में जहां-कहीं भी काम होता दिखाई दे उसे दृढ़ता के साथ रोक दिया जाना चाहिए।

पश्चिम के देशों में अथवा अधिराज्यवाले (टोटलिटेरियन) देशों में संयोजन की जिन पद्धतियों से काम लिया जा रहा है उनकी नकल यहां भारत में करने की जरा भी जरूरत नहीं है। अनादि काल से हमारी अपनी निराली संस्कृति रही है। हमें अपना संयोजन उसीके अनुकूल करना चाहिए। बेशक हम दूसरे देशों से भी ग्रहण करने लायक बातें जरूर लेंगे और उनके अनुभव से लाभ उठायेंगे परन्तु हम अपने मूल आधार को छोड़कर बाहर की हवा में नहीं उड़ेंगे और अपने-आपको नहीं खोयेंगे। यदि हम अपने घर को ही देखेंगे और साथ ही दूसरों की अच्छी बातों के लिए अपने दिमाग को खुला भी रख सकेंगे तो आशा है हम कोई राजनैतिक और आर्थिक पद्धति

दूसरों के लिए भी मार्ग-दर्शक हो सके।

९

नैतिक मूल्यों की आवश्यकता

भारत में उत्पादन की वृद्धि और उसका उपयोग से सब देश की प्रगति के लिए आवश्यक हैं परन्तु प्रगति केवल यहीं समाप्त नहीं हो जाती। प्रत्येक सभ्यता की जड़ में कुछ नैतिक सिद्धान्त होते हैं और प्रत्येक राष्ट्र को अपने जीवन-व्यवहार में कुछ नैतिक पैमानों का मानदण्डों पालन करना होता है। यदि किसी राष्ट्र में या उसके निवासियों में इनकी कमी है तो विज्ञान और यन्त्र-शास्त्र की सारी प्रगति—जिसे भी हम प्रकाश चाहते हैं—कोई मूल्य नहीं रखती। अन्त में जाकर किसी भी राष्ट्र या उसके निवासियों की प्रतिष्ठा का नाप उनकी नीतिमत्ता और आचार-व्यवहार से ही होती है।

देश में इस समय जो हिंसा और अनुशासनहीनता बढ़ती जा रही है और व्यवहार में आचार का स्तर गिरता जा रहा है उसकी यदि हम उपेक्षा करेंगे तो भारी हानि उठायेंगे। अपने उद्देश्यों की सिद्धि में साधन-शुद्धि पर गांधीजी बड़ा जोर देते थे। हम साधनों की शुद्धि का जितना आग्रह रखेंगे उतने ही हम अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में सफलता पा सकेंगे। दूसरे मार्ग गलत होंगे और उनसे राष्ट्र की केवल हानि ही होगी। वे राष्ट्र की नैतिक प्रतिष्ठा और पैमानों को गिराने के अतिरिक्त देश में फूट और कलह ही फैलायेंगे।

भारत ने आर्थिक संयोजन का एक साहसभरा प्रयोग बड़े पैमाने पर इस लोकतन्त्र में शुरू किया है। यह कदम अत्यन्त महत्वपूर्ण है—न केवल भारत के लिए, बल्कि समस्त संसार के लिए। अतः स्वभावतः इसकी सफलता पर सबकी आँखें लगी हुई हैं परन्तु इसका स्थायी प्रभाव केवल हमारी भौतिक सफलताओं पर नहीं बल्कि इसपर भी निर्भर करेगा कि हमने इसके साथ-साथ अपना नैतिक और आध्यात्मिक बल कितना बढ़ाया। संयोजन मुख्यतः मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार से सम्बन्ध रखता है। इसलिए संयोजन की सफलता मानवी अर्थात् नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों

की वृद्धि से मापी जायगी। यदि समाज में ये मानवी गुण नहीं बढ़े हैं, यदि मनुष्यों के दिल बड़े नहीं हुए हैं, उनकी दृष्टि व्यापक नहीं हुई है और चरित्र अधिक शुद्ध और उच्च नहीं हुए हैं तो संयोजन का सारा आधार ही चला जाता है। दूसरे शब्दों में भारत को केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में ही नहीं अपने घर में भी मनुष्य मनुष्य और समाज के व्यवहारों में भी पंच शीलों का पालन करना होगा अर्थात् अपने महान् उद्देश्यों की सिद्धि के लिए हमें नैतिक मूल्यों और साधन-शुद्धि का आग्रह रखना होगा।

संसार के राष्ट्रों में भारत को लोग आज निश्चित रूप से आदर और प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखते हैं। यह आदर उसे इसी कारण प्राप्त हुआ है कि संसार के प्रश्नों की तरफ देखने और उनको हल करने में उसकी दृष्टि न्याय और निष्पक्षता की रही है। यह प्रतिष्ठा और आदर बाहर तभी बना रह सकता है जब हम अपने घर में भी उन्हीं सिद्धान्तों पर अमल करेंगे। यदि हमारी करनी और कथनी में अन्तर होगा तो हमारा आदर करने के बदले बाहर के लोग हमारी हँसी उड़ायेंगे। तमाम धर्मों के बड़े-बड़े नेताओं ने हिंसा द्वेष और लड़ाई झगड़ों को बुरा बताया है और यही कहा है कि कठिन-से-कठिन समस्याओं को स्थायी रूप से हल करने का मार्ग सद्भाव मित्रता और सहयोग ही है। भगवान बुद्ध के उपदेशों का सार भी यही है कि हिंसा और द्वेष का जवाब अहिंसा और प्रेम से दो। हिन्दू धर्म इस्लाम और ईसाइयत में भी सहिष्णुता भ्रातृभाव और दूसरे के विचारों का आदर आदि गुणों पर बहुत जोर दिया गया है। अपनी आजादी प्राप्त कर लेने के बाद आज यदि भारत इन आदर्शों और शाश्वत सत्यों को भुला देगा तो आज संसार उसकी तरफ जिस आदर की दृष्टि से देखता है निश्चित रूप से उसे वह खो देगा। इसलिए परिस्थिति के इन खतरों को हमें खूब अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। साम्प्रदायिक दल आज देश में आग से खेल रहे हैं। वे देश में फासिस्ट वृत्तियां पैदा कर रहे हैं जो भारत के लोकतंत्री जीवन और प्रत्यक्ष आजादी के लिए भी अत्यन्त खतरनाक हैं। इस खतरे का हम सबको दृढ़ श्रद्धा और निश्चय से सामना करना चाहिए।

शान्ति और अहिंसा के लिए हम अपने-आपको अर्पित कर दें और इसके जो भी परिणाम हों उन्हें सहने को तैयार रहें। हमें तो निश्चय है कि

वह द्वेष और हिंसा बहुत अधिक देर तक नहीं टिकेगी। वह स्वयं नष्ट हो जायगी। ईसा ने कहा था "जो तलवार के बल पर आगे बढ़ना चाहेंगे उनका नाश तलवार ही करेगी।" इन बुनियादी सिद्धान्त को हम याद रखें और सम्प्रदायवाद तथा हिंसा का पूरी ताकत के साथ मुकाबला करें। हम यह भी याद रखें कि लोगों के हृदय में हम जितना प्रवेश करेंगे और उनके विश्वास का जितना संपादन करेंगे उतनी ही हमारी सच्ची ताकत बढ़ेगी।

१

भौतिक और नैतिक संयोजन

बुद्ध-जयन्ती के अवसर पर राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद ने चेतावनी देते हुए कहा था "यदि मानव-जाति ने अध्यात्म की तरफ ध्यान नहीं दिया और सत्य अहिंसा और प्रेम के बुनियादी गुणों का विकास नहीं किया तो वह अपनी सारी सुख-समृद्धि से हाथ धो बैठेगी। प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने भी आकाश में उमड़नेवाले अशान्ति के काले-काले बादलों की ओर इशारा करते हुए कहा कि यदि हमने इनपर काबू नहीं किया तो ये मानव का नाश कर देंगे और यह काबू पाने का मार्ग भगवान् बुद्ध ने बता दिया है। हमें अपने हृदयों में और दिमाग में एक सच्ची क्रान्ति करनी होगी। डॉ राधाकृष्णन बुद्ध-जयन्ती समारोह-समिति के सभापति थे। उन्होंने कहा—"यदि हमने अपने तौर-तरीके नहीं बदले तो आध्यात्मिक अन्धकार की रात हमपर छा जायगी और विज्ञान की सारी देनों को तथा सांस्कृतिक वैभव को हम खो बैठेंगे। मनुष्य का घोर पतन होगा और वह फिर जंगली अवस्था में पहुंच जायगा। ब्रह्मदेश के प्रधान मन्त्री श्री नू ने कटक में दिये अपने एक भाषण में आनेवाले संकटों से बचने के लिए मानव-जाति से अपने नैतिक मानदण्डों को ऊंचा उठाने की बड़े जोरों से अपील की। आज तो उसने अपने सारे व्यक्तिगत राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय नीति के सिद्धान्तों को पूरी तरह भुला दिया है। इसकी श्री नू ने बड़ी निन्दा की।

नि सन्देह करोड़ो मानव आज अपनी प्राथमिक और मामूली जरूरतें भी नहीं पूरी कर पाते हैं। अत उनका जीवन-स्तर ऊपर उठाना परम आवश्यक है। प्रत्येक स्वतन्त्र और लोकतन्त्री देश के नागरिक को कम-से

कम से चीजें तो अवश्य ही मिल जानी चाहिए, परन्तु हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि केवल इन भौतिक जरूरतों की पूर्ति कर देने से ही शान्तिपूर्ण और प्रगतिशील समाज की स्थापना नहीं हो सकेगी। जबतक लोगों के दिलों और दिमागों में सच्चा परिवर्तन नहीं होगा तबतक मनुष्य जाति को भौतिक समृद्धि भी नसीब नहीं होगी।

आखिर मनुष्य केवल रोटी खाकर ही नहीं जीता और न भौतिक सुख सामग्री से मनुष्य को सच्चा मानसिक और आत्मिक सुख ही मिल सकता है। हमारे देश की संस्कृति में तो अनादिकाल से नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को ही सबसे अधिक महत्व दिया गया है। इस देश में तो मनुष्य के धन-वैभव को देखकर नहीं उसकी सेवा और त्याग को देखकर उसका आदर होता है। यह सच है कि दरिद्रता अच्छी चीज नहीं है और आधुनिक समाज को चाहिए कि वह एक निश्चित मात्रा में कम-से-कम भौतिक सुख सुविधा तो सबको मिले ऐसा प्रबन्ध कर दे। परन्तु सादगी का अर्थ दरिद्रता नहीं है और न जरूरतें बढ़ा लेना प्रगति की निशानी है। हमें भौतिक और नैतिक कल्याण और विकास के बीच एक सन्तुलन कायम कर लेना चाहिए। हमें सदा यह ध्यान रखना होगा कि अपने आर्थिक संयोजन में लक्ष्यों को पूरा करने के साथ-साथ नैतिक पुनरुत्थान के लिए अनुकूल परिस्थितियां निर्माण करने का काम भी हमें करते रहना है नहीं तो हम ऐसे मार्ग पर चल पड़ेंगे जो हमारी संस्कृति और राष्ट्र की आत्मा के प्रतिकूल होगा। जबतक देश के निवासी—स्त्रियां और पुरुष—नेक और ईमानदार नहीं होंगे हम राष्ट्र की नींव को मजबूत नहीं कर सकेंगे। राष्ट्र की असली सम्पत्ति बड़ी-बड़ी योजनाएं कारखाने या विशाल इमारतें नहीं हैं। राष्ट्र की सच्ची सम्पत्ति और सुख का कारण तो वास्तव में समझदार और जिम्मेदार नागरिक हैं जिन्हें अपने कर्तव्यों और अधिकारों का पूरा-पूरा भान है। डॉ॰ राधाकृष्णन ने हाल ही में कहा था—"बुद्ध भगवान के असली स्मारक उनकी याद में खड़े किये गए स्तूप नहीं बल्कि उनके सिद्धान्तों पर—धर्म-चक्र पर—अमल करनेवाले सत्पुरुष हैं। भारतीय लोक-राज्य का चिह्न भी धमचक्र है, जिसका अर्थ है सच्ची प्रवृत्ति धर्म के अर्थात् कर्तव्य और सन्मार्ग के अनुसरण में ही है। यदि इस चिह्न को हम भुला देंगे तो

हमारा कभी कल्याण नहीं हो सकता ।

११

चौथा माप

अपने एक भाषण में प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने कहा था कि "संसार को अब अपने मन का चौथा माप विकसित करने की जरूरत है। अब यान्त्रिक और वैज्ञानिक प्रगति इतनी अधिक हो गई है कि युद्ध एक पिछड़ी हुई पुरानी चीज बन गया है और संसार के सामने नई-नई समस्याएं खड़ी हो गई हैं। उस चौथे माप की जरूरत इन समस्याओं को सुलझाने के लिए है। यह चौथा माप होगा नैतिक। वैज्ञानिक प्रगति और मानव के बनाये अन्तरिक्षयान समस्याओं के नैतिक पहलू को नहीं बदल सकते। "यह सारी वैज्ञानिक प्रगति अच्छे को बुरा और बुरे को अच्छा नहीं बना सकती। हम आशा करें कि संसार धीरे-धीरे सभ्य हो जायगा। आज वह सच्चे मानें में सभ्य नहीं है। बेशक उसने विज्ञान में और अस्त्रों में काफी प्रगति कर ली है, परन्तु अभी वह सभ्य नहीं बन पाया उसमें समझ नहीं आई है। समझ आना तब कहा जा सकेगा जब इस सारी यान्त्रिक और वैज्ञानिक प्रगति का उपयोग वह मनुष्य के विनाश के लिए नहीं भलाई के लिए करने लगेगा। विज्ञान और शस्त्र के साथ दौड़ में हमारी मानसिक शक्तियां पीछे रह जाती हैं। हमें अपने मस्तिष्कों को इस नये अणु युग अन्तरिक्ष की ओर ग्रह-नक्षत्रों की यात्रा के युग के अनुरूप विचार करने के योग्य बनाना चाहिए। अगर हम ऐसा नहीं करते हैं तो सिवा सम्पूर्ण विनाश के दूसरा कोई चारा नहीं है।

ये शब्द भविष्य-सूचक हैं। न केवल भारत के बल्कि संसार के समस्त देशों के नेताओं को भी इसपर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए।

इसीलिए गांधीजी सदा जीवन के नैतिक मूल्यों पर सबसे अधिक जोर दिया करते थे। उनके लिए भौतिक वैज्ञानिक प्रगति—यदि उसके पीछे नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य नहीं हैं तो—कोई अर्थ नहीं रखती थी। वह चाहते थे कि हम समस्त मनुष्य-जाति के साथ बल्कि समस्त विश्व के साथ एक हो जायं परन्तु विश्व के साथ हमारे सम्पर्क का आधार स्वार्थ और

शोषण की वृत्ति नहीं सहयोग और सेवा हो। "हमारा राष्ट्र-प्रेम किसी दूसरे देश के लिए खतरनाक नहीं होगा क्योंकि हम किसीका शोषण नहीं करना चाहते। इसी प्रकार हम किसीको अपना शोषण भी नहीं करने देंगे।" वह कहते कि संस्कृति और सभ्यता ऊंची तभी होगी जब राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक अपने चरित्र को और नैतिक जीवन को ऊंचा उठायगा और इसके फलस्वरूप समाज में व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध शुद्ध होंगे। वह हमेशा कहते कि मनुष्य को सदा अपने अन्दर देखते रहना चाहिए। सन् १९२८ में उन्होंने 'यंग इण्डिया' में लिखा था—"हमारी बाहरी आजादी—जब कभी हम उसे प्राप्त करेंगे—ठीक उस समय की हमारी भीतरी आजादी का प्रतिबिम्ब होगी और यदि आजादी के बारे में यह विचार सही है तो हमारी सारी शक्ति अपने भीतरी सुधार में ही लग जानी चाहिए।"

इस युग में सर्वोदय के सबसे बड़े व्याख्याकार आचार्य विनोबा हैं। वह भी हमसे यही कहा करते हैं कि "अब आधुनिक विज्ञान तभी आगे बढ़ सकेगा जब वह शान्ति और अहिंसा का सहारा लेगा। यदि उसने हिंसा से नाता जोड़ा तो उसका परिणाम होगा मनुष्य-जाति का सम्पूर्ण नाश।" परन्तु यदि वह अहिंसा के साथ हो जाय तो मानव की भलाई और प्रगति की कोई सीमा ही नहीं होगी। इसीलिए वह अपने भूदान और ग्रामदान आन्दोलन के द्वारा पारस्परिक सहयोग और नैतिक पुनरुज्जीवन पर इतना अधिक जोर दे रहे हैं। उनकी शान्ति-सेना की योजना इसी विचार की परिणति है। जबतक हम अपने सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक प्रश्नों को पुलिस और फौज की बिना मदद लिये अहिंसा और शान्ति से हल करना नहीं सीखते तबतक हम भारत में अथवा संसार में शान्तिप्रिय अहिंसक समाज-रचना स्थापित करने की आशा नहीं कर सकते। शान्ति-सेना की स्थापना मामूली पुलिस या सेना के समान नहीं की जा सकती। उसके लिए जीवन का समग्र दर्शन और मूल्यों के बदलने की जरूरत होती है। धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में लगातार सेवा और त्याग से ही वह सफल हो सकती है। मतलब यह कि मनुष्य-जाति स्वार्थ और भौतिक लाभ की दृष्टि छोड़ देगी और जीवन के सब प्रश्नों को नीति और सदाचार के मार्ग से हल करने

की कोशिश करेगी तब शान्ति-सेना संख्या में कम होने पर भी अणुबम का भी मुकाबला कर सकेगी।

इस दृष्टि से देखें तो भारत के सिर पर एक महान जिम्मेदारी है। उसकी सारी संस्कृति जीवन के नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों पर आधारित है। यहां के ऋषि चिन्तक और नेता अनादिकाल से अहिंसा शान्ति और आध्यात्मिक शक्ति पर सबसे अधिक जोर देते आये हैं। जैसा कि हमारे प्रधान मन्त्री ने पत्रकारों की एक परिषद में कहा था तटस्थतावाली हमारी वैदेशिक नीति इन्हीं बुनियादी सिद्धान्तों पर आधारित है। उसके मूल में आर्थिक परिस्थितियां नहीं हैं। बुद्ध और अशोक के समय की परम्पराएं उसकी बुनियाद में हैं। इस विचार को हमारे प्रधान मन्त्री ने अपने हांगकांगवाले चिरस्मरणीय भाषण में बहुत सुन्दर ढंग से रक्खा है। उन्होंने कहा था—"मैं यह कहने की हिम्मत करता हूं कि सम्राट अशोक की आवाज भारत की आवाज है और युगों से आकाश में गूंज रही है। वही भारत को बल देती है। यद्यपि भारत अनेक बार गिरा परन्तु आत्मा की यह अद्भुत शक्ति सदा हाथ पकड़कर उसे ऊपर उठाती रही है और आज यदि इस पीढ़ी के हम भारतवासियों ने इस आवाज को भुला दिया जो हमारे सामने महात्मा गांधी की वाणी के रूप में प्रकट हुई है, यदि किसी बाहरी लाभ के लोभ में पड़कर हमने इस आवाज को भुला दिया और दूसरे रास्ते पर हम चल पड़े तो समझ लेना हमारे बुरे दिन आ गये।

१२

साध्य और साधन

संसार में स्वभावतः लोगों के विचारों और आदर्शों में भेद होता ही है। यही राष्ट्रों में भी होता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं होना चाहिए कि इन मतभेदों को दूर करने के लिए मनुष्य और राष्ट्र एक-दूसरे से द्वेष करें, लड़ें झगड़ें और हिंसा-कांड या युद्ध करें। जो राष्ट्र भिन्न-भिन्न प्रकार की सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक पद्धतियों में विश्वास करते हैं वे अपने पारस्परिक व्यवहार में शान्ति परस्पर आदर, से काम ले सकते हैं।

इसी प्रकार यदि व्यक्तियों के बीच मतभेद है तो वे भी परस्पर आदर और सहिष्णुता से काम लेकर सहयोग कर सकते हैं। सभी जानते हैं कि हिंसा और द्वेष से मतभेद कभी दूर नहीं किये जा सकते। वे तो शान्ति के साथ मित्रतापूर्वक बातचीत कर, एक-दूसरे को समझने का यत्न करने और सहयोग से ही दूर हो सकते हैं। इसीलिए गांधीजी हमेशा इस बात पर बड़ा जोर दिया करते कि उच्च आदर्श केवल शुद्ध और पवित्र साधनों से ही साध्य हो सकते हैं। वह कहते थे कि साधन बीज है और साध्य वृक्ष। जैसा बीज होगा वैसा वृक्ष होगा। इसी प्रकार जैसा साधन होगा वैसा साध्य होगा। यह सम्बन्ध अटूट है। वे यह भी कहते थे कि हमारा साधन जितना शुद्ध होगा सफलता उतनी ही जल्दी मिलेगी। यह ख्याल गलत है कि इससे सफलता देरी से मिलती है। उन्होंने लिखा है—'यह मार्ग शायद लम्बा—बहुत लम्बा—मालूम हो परन्तु मुझे निश्चय है कि यही सबसे सीधा और नजदीक का रास्ता है। प्राध्यापक आल्डस हक्सले ने अपनी पुस्तक 'एण्ड्स एण्ड मीन्स' में इसी सिद्धान्त पर—अर्थात् महान और उच्च आदर्श पवित्र साधनों से ही प्राप्त हो सकते हैं—बड़ा जोर दिया है। परन्तु कितने दुःख की बात है कि इस प्रकार के विचार रखने के कारण ही इमरे नैगी को अपने प्राणों का मूल्य चुकाना पड़ा। वह मानते थे कि साम्यवादी आदर्शों की प्राप्ति हिंसा और जोर-जबरदस्ती से नहीं हो सकती। हंगरी के वर्तमान प्रधान मंत्री ने कम्यूनिज्म पर एक पुस्तक लिखी है जिसमें उसने कहा है—"समाजवादी समाज के निर्माण में हम बड़े-बड़े हत्याकांडों से प्रगति नहीं कर सकते। उसके लिए तो समाज के अन्दर से वर्तमान मतभेदों को दूर करने के लिए पहले क्रमशः हिंसा का उपयोग कम करना चाहिए। फिर लोकतन्त्र की पद्धति से जनता में व्यापक रूप से सहकारिता की प्रवृत्तियां चलानी चाहिए। तब समाजवादी समाज की स्थापना हो सकेगी।"

श्री नैगी का यह भी मत था कि आगे चलकर मार्क्स के सिद्धान्त और निदान बदलने चाहिए क्योंकि "जैसे-जैसे सामाजिक राजनैतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियां बदलती जाती हैं वैसे-वैसे मनुष्य को भी अपनी कार्य-पद्धति बदलनी ही होगी?" सारी बात का सार इतने में आ गया। प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने यथेष्ट ... है कि ... में यदि कोई ...

प्रमिक प्रक्रियानुस जोश है तो वे हैं साम्यवादी। वे उन्हीं नारों और सिद्धान्तों को लेकर अभी तक बैठे हैं जो बीसों वर्ष पहले भले ही उपयोगी रहे हों परन्तु वर्तमान परिस्थितियों में तो वे एकदम बेरसपूर्ण हैं। आचार्य विनोबा भावे भी कम्यूनिस्ट मित्रों से कहते रहते हैं कि वे समय के साथ अपनी कार्य-पद्धति को बदलें और "प्रांखें मूंदकर" मार्क्स का अनुगमन न करें। वह कहते हैं, 'स्वयं मार्क्स भी मार्क्सवादी नहीं था। इसलिए यह जरूरी है कि साम्यवादी भाई मार्क्स के सिद्धान्तों में समय के अनुसार संशोधन और सुधार करें। अब एटम बम और अंतरिक्ष की उड़ानों का युग आ गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज का संसार शांति और अहिंसा के मार्ग से उत्तरोत्तर पारस्परिक सहयोग और सहिष्णुता की तरफ बढ़ रहा है। द्वेष संघर्ष और युद्ध की शक्तियां अब हटती जा रही हैं और उनका स्थान शान्ति भ्रातृभाव और मानवता की शक्तियां ले रही हैं। पिछले दो महायुद्धों ने और इस युग के शीत युद्ध ने यह सिद्ध कर दिया है कि एक-दूसरे के प्रति अविश्वास भय और दुश्मनी पैदा करके अस्त्रशस्त्रों के ढेर लगाने से समस्याएं हल नहीं होंगी। वह सब व्यर्थ है। स्थायी शान्ति और सुख दिलों और दिमागों को बड़ा बनाने से ही प्राप्त होगी। इसके लिए हम अपने मतभेद जोर-जबरदस्ती से नहीं शान्ति से बैठकर बातचीत के द्वारा दूर करने होंगे और परस्पर एक-दूसरे का आदर करना होगा।

निःसन्देह कार्ल मार्क्स एक सच्चा विचारक और तत्वज्ञानी था। मनुष्य मनुष्य का शोषण न करे, इसका उपाय खोजने का उसने सच्चे दिल से यत्न किया परन्तु पिछले कई वर्षों में आर्थिक संगठनों के रूप और आकारों में जो महान् परिवर्तन हो गये हैं, इनकी कल्पना भला उसे कैसे हो सकती थी। इसी प्रकार लोकतंत्र के तरीकों में उसके बाद जो विकास हुआ है इसका भी वह अनुमान नहीं कर सकता था। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का उसका सिद्धान्त उन दिनों फ्रांस और जर्मनी में जो तत्वज्ञान प्रचलित था उसी पर आधारित है। यदि आज वह होता और इस युग में शान्ति तथा लोकतन्त्री तरीकों से कितनी जबरदस्त सामाजिक और आर्थिक क्रान्तियां हो सकती हैं वह यह देखता तो अपना प्रमाण निःसन्देह दूसरे प्रकार से लिखता। महात्मा गांधी के सत्याग्रह ने मानव की प्रगति का कितना समर्थ

क्षेत्र खुला कर दिया है। इसका अध्ययन और खोज करने की जरूरत है। आचार्य विनोबा भावे के भूदान और ग्रामदान-आन्दोलन ने सिद्ध कर दिया है कि हिंसा की अपेक्षा अहिंसक क्रान्ति कहीं अधिक परिणामकारक होती है। इसलिए आधुनिक अनुभव और वैज्ञानिक प्रगति को ध्यान में रखकर मार्क्स के बताये सिद्धान्तों में अब मूलगामी फेरफार करना आवश्यक हो गया है। ऐसे समय पुराने विचारों को पकड़कर बैठे रहना मूर्खतापूर्ण और आत्मघात के समान है। सही तरीका तो यह है कि आज कम्यूनिज्म के अन्दर जो अंतरविरोध पैदा हो गया है उसपर शांति के साथ विचार करके नये मार्ग और नये तरीके ढूंढे जायं।

जहांतक भारत के राजनैतिक और सार्वजनिक जीवन का सम्बन्ध है हम बहुत प्रेम से स्वागत करेंगे यदि देश में सार्वजनिक जीवन के मार्ग-दर्शक सिद्धांत क्या हों इसपर सब दल आपस में मित्रभाव से चर्चा करें। भारत अहिंसा शांति और पारस्परिक सहयोग के सिद्धान्तों का सदा समर्थक रहा है। उसने साधन-शुद्धि और स्वच्छ व्यवहार पर भी हमेशा जोर दिया है। इसलिए सभी दलों को अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में शुद्ध साधन और शांति के मार्गों से ही काम करने में क्यों आपत्ति हो हम समझ नहीं पा रहे हैं। उदाहरण के लिए हम सब यह निर्णय कर सकते हैं कि अपने राजनैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए हम हिंसा से काम नहीं लेंगे। यदि किसी दल के कोई सदस्य इस नियम को भंग करें और कभी हिंसा का अवलम्बन करें तो उस दल का यह कर्तव्य होगा कि वह अपने इन सदस्यों की खुलेआम निन्दा करे और उनके विरुद्ध अनुशासन की कार्रवाही करे। शासक दल को भी चाहिए कि देश में जो उचित राजनैतिक हलचलें हों उनका सामना करने के लिए हिंसा का प्रयोग न करे। मान लीजिये कि कहीं अवांछा रूप परिस्थिति खड़ी हो गई है और वहां गोली चलानी पड़ी है तो शासन स्वयं ही उसकी न्यायिक जांच की आज्ञा भी दे दे। यदि शासक दल तथा विरोधी दल इस प्रकार की स्वस्थ परिपाटियां डाल देंगे तो देश में लोकतंत्र की जड़ें मजबूत हो जायगी और वह प्रगति भी कर सकेगा।

११

पहली वफादारी

"हमारे अनेक कर्तव्य हैं। अपने परिवार, जाति समाज भाषा प्रदेश इनके प्रति भी हमारी वफादारी और कर्तव्य हैं और यदि मनुष्य विवेक से काम ले तो इनमें से प्रत्येक के स्थान का निर्णय वह कर सकता है, परन्तु यदि किसीके मन में इन वफादारियों के बीच संघर्ष पैदा हो जाय तो प्रत्येक नागरिक को सबसे पहले और अधिक वफादार रहना है अपने देश के प्रति और सब वफादारियों का स्थान इसके बाद में होगा। याद रहे कि हमारा सारा भविष्य इस बात पर निर्भर करता है कि हम भारत के प्रति अपनी इस वफादारी का बचाव क्या देते हैं। यह समय बड़ा नाजुक है। इस युग में कमजोर और जिनमें फूट है ऐसे देश जी नहीं सकते। उनका नाश निश्चित है।

—जवाहरलाल नेहरू

इस देश की सबसे बड़ी कमजोरी युगों से यही रही है कि यहां अनेक वर्गों में फूट और मतभाव की वृत्तियां पनपती रही हैं। यह पुराना इतिहास अब नहीं दोहराया जाना चाहिए। दुर्भाग्य से पिछले कुछ समय से ऐसी कई वृत्तियां अपना सिर फिर उठाती नजर आ रही हैं। भारत की एकता के लिए ये बहुत खतरनाक हैं। इधर-उधर भाषा-सम्बन्धी जो झगड़े विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता, पंजाबी सूबे का प्रश्न और सरकारी कर्मचारियों ने अपने वेतन बढ़ाने के लिए शासन को मजबूर करने का जो मार्ग ग्रहण किया ये सभी—फूट की—बीमारी के भिन्न-भिन्न रूप हैं।

देश में लोकमत इतना जागृत और शिक्षित हो कि समाज में फूट डालनेवाली और हिंसक प्रवृत्तियां पनपने पावें ही नहीं। जहां भी कहीं वे सिर उठायें जागृत नागरिक उन्हें वहीं दबा दें। यदि ऐसा हो जाय तो सरकार को पुलिस या फौज से काम लेने की जरूरत ही नहीं होगी।

विभाजन का होना दुर्भाग्यपूर्ण बात थी। फिर भी भारत एक विशाल देश है। परन्तु किसी देश का बड़ा होना एक वरदान अथवा अभिशाप भी हो सकता है। वरदान वह तब होता है जब बड़े देश के निवासियों

के दिल और दिमाग भी बड़े हों और वे छोटी-छोटी बातों और झगड़ों में अपने-आपको भूल न जाय। किन्तु वही बड़प्पन उस देश के लिए अवश्य ही बहुत बड़ा अभिशाप भी बन जाता है जब वहां के निवासी दिलों को छोटा बना लेते हैं छोटे छोटे झगड़ों में उलझ जाते हैं और आपस में लड़खड़ाहट पैदा कर लेते हैं। अतः युवकों को चाहिए कि वे इस बात को बहुत अच्छी तरह समझ लें क्योंकि कल उन्हें देश का नेतृत्व करना होगा। स्वाधीन भारत के झण्डे को वे तभी अपनी पूरी शान के साथ ऊंचा रख सकेंगे जब महात्मा गांधी के सिद्धान्तों के अनुसार अपने राष्ट्र के निर्माण का प्रयत्न करेंगे और अपने दिलों और दिमागों को जिम्मेदार लोकतन्त्र और सहकारिता के वातावरण में बढ़ने का मौका देंगे। इसके विपरीत यदि वे भटक जायंगे और जान में या अनजान में कष्ट और हिंसा के मार्ग पर कदम रख देंगे तो देश में अशान्ति द्वेष जाति-जाति और वर्ग-वर्ग के बीच झगड़े खड़े हो जायंगे और फिर उज्ज्वल भविष्य के हमारे प्यारे-से-प्यारे सपने सपने ही रह जायंगे।

१४

सर्वोदय और मार्क्सवाद

गांधीजी के एक आदरणीय साथी और भक्त ने एक बार कहा था "गांधीजी के आदर्शों का अमल रूस में कुछ हद तक बहुत पहले से हो रहा है। और यह कि 'यद्यपि रूस का आदर्श पूरी तरह 'सर्वोदय' नहीं है फिर भी रूस का समाज कुछ बातों में गांधीजी के आदर्शों के बहुत अधिक नजदीक है।

निःसन्देह यह सच है कि पूंजीवादी विचारधारा से हम सब असन्तुष्ट हैं और पूंजीवादी व्यवस्था सिद्धान्त के रूप में अब एक गई-गुजरी चीज है। हम यह भी मानते हैं कि भारत की वर्तमान आर्थिक रचना भी बड़ी असन्तोषजनक है और दरिद्रता बेकारी तथा आर्थिक असमानताओं की समस्याओं ने यहां इतना भयावना रूप धारण कर लिया है कि उनका इलाज तुरन्त होना चाहिए। भिन्न-भिन्न राजनैतिक विचारधारा के लोग धीरे धीरे यह अनुभव करने लगे हैं कि हमारी अनेक आर्थिक बुराइयों का

उपाय गांधीजी की विचार-पद्धति ही है और व्यवहार-बुद्धिवाले समझदार लोग मानने लगे हैं कि सर्वोदय की विकासशील विचारधारा हमारा सही तारणोपाय है। परन्तु यह आभास भी पैदा करना गलत है कि सर्वोदय और मार्क्सवाद एक-से हैं और रूस में गांधीजी के सिद्धान्तों पर अमल किया जा रहा है। इसमें न सर्वोदय की सेवा है, न मार्क्सवाद की। इन दोनों विचार धाराओं में उत्तर और दक्षिण ध्रुव के जितना अन्तर है और इनके बुनियादी सिद्धान्त भी एक-दूसरे के विरोधी हैं। स्वर्गीय श्री किशोरलाल मशरूवाला गांधीजी के विचारों के बारे में एक अधिकारी व्यक्ति माने जाते हैं। उन्होंने गांधीवाद और साम्यवाद पर एक लेखमाला लिखकर इस भ्रम को दूर करने का यत्न किया था कि 'गांधीवाद हिंसारहित मार्क्सवाद ही है।' यह लेख-माला अलग-से पुस्तक के रूप में भी 'गांधीवाद और साम्यवाद' के नाम से छप गई है। श्री मशरूवाला ने लिखा है—"गांधीवाद और साम्यवाद में इतना ही अन्तर है, जितना हरे और लाल रंग में है—यद्यपि जिन आंखों को रंगों की पहचान ही नहीं है, उन्हें तो वे दोनों रंग एक-से ही दीखेंगे।

आचार्य विनोबा भावे भी हमसे बार-बार कह रहे हैं, 'इन दोनों विचारधाराओं में कोई मेल नहीं हो सकता। इन दोनों के बीच आधारभूत अन्तर है।' विनोबा ने कहा, "दो आदमी एक-दूसरे से इतने मिलते-जुलते थे कि लोगों को बड़ी आसानी से एक-दूसरे के बारे में भ्रम हो जाता था परन्तु उनमें अन्तर केवल इतना था कि एक दांत दे सकता था और दूसरे की दांत गायब थी। उन्होंने अनेक बार कहा है कि "अन्त में साम्यवाद को गांधीवाद से ही लोहा लेना पड़ेगा।' आचार्य विनोबा तो मानते हैं कि "वास्तव में साम्यवाद अधिक मिलता है पूंजीवाद से, क्योंकि दोनों नैतिक मूल्यों और आत्मा के कल्याण की अपेक्षा भौतिक जरूरतों और शरीर सुख को अधिक महत्त्व देते हैं। महात्मा गांधी ने भी साम्यवाद को वर्तमान भौतिक सभ्यता का अनिवार्य परिणाम बताया है और कहा है, "साम्यवाद हिंसा को अपना अस्त्र मानता है और ईश्वर को मानने से इन्कार करता है इसलिए यह मुझे कभी मंजूर नहीं हो सकता। 'पैसे और भौतिक सुखों के पीछे' लोग जो पागलों की तरह दौड़ रहे हैं इसे गांधीजी ने सदा बुरा कहा

है और केवल बाहरी रहन-सहन के ऊंचे स्तर की अपेक्षा जीवन को ऊंचा उठाने पर उन्होंने सदा बहुत जोर दिया।

सच्ची बात तो यह है कि सर्वोदय और मार्क्सवाद बुनियादी तौर पर एक-दूसरे से भिन्न हैं। इन दोनों को मिलाने की कोशिश करना न केवल व्यर्थ बल्कि खतरनाक भी है। गांधीजी ने जीवन के सभी क्षेत्रों में आध्यात्मिक मूल्यों को महत्व दिया है। मार्क्सवादियों के लिए धर्म और तत्व-ज्ञान गरीबों की अफीम है। ऐंजल्स ने कहा था "धर्म में पहला शब्द झूठ है। लेनिन ने धर्म को अत्याचार का एक तरीका बताया है। मार्क्सवादी 'मन को जड़मूर्तों की उपज' बताते हैं, 'आत्मा और आध्यात्मिक मूल्य' उनके लिए कोई चीज ही नहीं हैं। वे केवल 'बुर्जुआ' मनोवृत्ति के प्रतीक हैं। गांधीजी ने कभी नहीं माना कि केवल साध्य ही अन्तिम और असली वस्तु है फिर साधन कैसे भी हों। उन्होंने साध्यों के समान साधनों की पवित्रता पर भी उतना ही जोर दिया है। प्रत्यक्ष स्वराज्य की प्राप्ति में भी उन्होंने सत्य और अहिंसा पर बड़ा जोर दिया है। वहां लेनिन के लिए अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए झूठ प्रपंच कपट अवैध तरीके टालमटूल और सत्य को छिपाना सबकुछ उचित है। सन् १९४२ में गांधीजी ने कहा था कि "यद्यपि रूस ने काफी सफलता प्राप्त करली है, फिर भी जबतक वह साधन-शुद्धि को महत्व नहीं देगा उसकी ये सफलताएं टिकेंगी नहीं। महात्माजी को निश्चय था कि झूठ और हिंसा से कभी मनुष्य का स्थायी कल्याण नहीं हो सकता। १९४६ में गांधीजी ने 'हरिजन' में लिखा था—

"साम्यवादियों ने बखेड़े खड़े करना अपना धन्धा बना लिया है। उनमें कई मेरे मित्र हैं। कुछ मुझे पुत्रों के समान हैं। परन्तु ऐसा लगता है कि भले-बुरे और झूठ-सच की उन्हें कोई परवा ही नहीं है। वे इस आरोप को मानने से इन्कार करते हैं परन्तु उनकी करनी से यह साबित होता है। फिर ऐसा लगता है कि वे रूस के इशारे पर चलते हैं। भारत की अपेक्षा रूस को वे अपनी पुण्य भूमि मानते हैं। बाहरी शक्ति पर इस प्रकार विश्वास करना मुझे बुरा ही पसन्द नहीं।

गांधीजी मानते थे कि मनुष्य स्वभावतः अच्छा है। इसलिए वह सिर फोड़ने की नहीं हृदय-परिवर्तन की सदा सलाह देते थे। इसके विपरीत

स्वामित्व की यह पक्की राय थी कि "जबतक आप अपने पूरे दिल से दुश्मन से नफरत नहीं करेंगे तबतक आप उसे जीत नहीं सकते।

सर्वोदय और मार्क्सवाद के बीच एक और बड़ा अन्तर है। गांधीजी लोकतन्त्र को सर्वोदयी अथवा अहिंसात्मक समाज-रचना का मूल आधार मानते थे। राजनैतिक और आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण सर्वोदयी राज्य के विकास के लिए हानिकर है परन्तु मार्क्सवादी तो मानते हैं कि लोकतंत्र बुर्जुआ-विचार है। "इसका तख्ता उलटना क्रान्तिकारी जनता का पहला कर्तव्य है।" लेनिन मानते हैं ट्रॉट्स्की भी यही मानता था। वह इसे 'निकम्मा विचार' कहता था। लेनिन ने अपनी 'राज्य और क्रान्ति' नामक पुस्तक में साफ लिखा है कि साम्यवादी तो इस मौके की टोह में हैं कि "बुर्जुओं के इस राज्य-यन्त्रों को—उनके लोकतन्त्री स्वरूपों को भी—वे कब तोड़ फोड़कर चूर-चूर कर दें और पृथ्वी पर से उनका नामोनिशान मिटा दें।" गांधीजी गृहोद्योगों और ग्रामीण समाज पर आधारित विकेन्द्रित सामाजिक अर्थ-रचना के हिमायती हैं तो मार्क्सवादी बड़े-बड़े यान्त्रिक कारखानों और केन्द्रित उत्पादनवाली अर्थ रचना पर आधारित किसानों और मजदूरों की डिक्टेटरशाही चाहते हैं। मार्क्सवादियों का अन्तिम सपना है वर्गहीन समाज रचना जिसमें राज्य धीरे-धीरे समाप्त हो जायगा परन्तु प्राध्यापक हक्सले अपनी 'एण्डस एंड मीन्स' नामक पुस्तक में लिखते हैं 'ऐसा अति केन्द्रित सत्तावाला राज्य तो अपने आप नहीं महा युद्ध से अथवा बिल्कुल नीचे से क्रान्ति की आग भभकेगी तभी नष्ट होगा। उसके अपने आप सड़-गलकर गिरने की तो रत्तीभर भी संभावना नहीं है।

इस विषय को और अधिक लम्बा करना बेकार है। यह तो दिन की तरह साफ है कि ये दोनों विचारधाराएं मूलतः बहुत अलग-अलग हैं और आज इनके बीच भारत में और बाहर—संसार में भी—जबरदस्त युद्ध छिड़ा हुआ है।

१५

भारत और साम्यवादी पद्धति

हमारे प्रधान मन्त्री श्री नेहरू अक्सर कहा करते हैं कि भारत को

समाज की स्थापना करता है। 'समाजवाद' शब्द निश्चय ही किसी विशेष समाजवादी दल की बपौती नहीं हो सकता और हम भी उसका प्रयोग उसके का किसी खास और सीमित अर्थ में नहीं कर रहे हैं। हमारा मुख्य भाव यह है कि अपनी अर्थ-व्यवस्था को हमें ऐसा ढालना है कि व्यक्ति और समाज के हितों का उचित सामंजस्य हो जाय और मनुष्य मनुष्य के बीच की आर्थिक विषमताएं कम-से-कम हो जायें। यह तभी सम्भव होगा जब हमारी आर्थिक व्यवस्था ऐसी होगी जो बेकारी को दूर करेगी, उत्पादन को खूब बढ़ायेगी और देश में सामाजिक तथा आर्थिक न्याय की स्थापना होगी।

"उस प्रकार के उद्योगों पर राज्य अपना अधिकार कर ले। इस प्रकार के केवल नारों से हमारी आज की समस्याएं हल नहीं होंगी। निःसन्देह महत्वपूर्ण और बुनियादी उद्योगों पर राष्ट्र का ही स्वामित्व होगा परन्तु जहां तक सम्भव हो, उपभोग्य वस्तुओं के उद्योगों को औद्योगिक सहकारी संस्थाओं के रूप में विकेन्द्रित कर देना परम आवश्यक है। इसका मतलब कोई यह न समझे कि हम बैलगाड़ीवाले पिछड़े हुए युग में देश को ले जाना चाहते हैं। विज्ञान की आधुनिक खोजों का उपयोग हमें छोटे-छोटे उद्योगों की और ग्रामोद्योगों की शक्ति बढ़ाने के लिए करना चाहिए, ताकि मनुष्य बेकार न हों बल्कि प्रति आदमी उसकी उत्पादन-शक्ति बढ़ जाय। हमें आखिर यह पूरी तरह समझ लेना चाहिए कि बेकारी मिटाने का अर्थ केवल पैसे बांटना नहीं है। यह एक मानसिक और नैतिक प्रश्न भी है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यह मनुष्यता की रक्षा का प्रश्न है। भारत में समाजवाद का काम करने लायक सब मनुष्यों को लाभदायक काम देना है। उसमें किसी भी प्रकार का भेदभाव न हो। इसी प्रकार आज लोगों की रहन-सहन के स्तरों में जो बहुत बड़ी असमानता है, उसे मिटाना समाजवाद का काम है। किन्तु यह हम हिंसा और सत्ता के द्वारा नहीं बल्कि शान्ति और लोकतान्त्रिक तरीकों से अर्थात् सर्वोदय अथवा गांधीजी के बताये तरीकों से करना चाहते हैं। समाजवाद से हमारा मतलब यह है, न कि साम्यवाद या पश्चिम के देशों में इस शब्द का जिस प्रकार अर्थ और प्रयोग किया जाता है वह। हमारा मुख्य ध्येय है अहिंसा और लोकतन्त्र के सिद्धान्तों पर

साम्यवादियों और सम्प्रदायवादियों से सदा सावधान रहना चाहिए। 'ये दोनों देश को विनाश की तरफ ही जानेवाले हैं। विचारों की दृष्टि से भारत का साम्यवादी दल दकियानूसी है। लम्बे वर्ष पहले यूरोप की जो हालत थी उसे देखकर लिखी किताबें उन्होंने पढ़ रखी हैं। फिर रूसी क्रान्ति के बाद की लिखी कुछ किताबें पढ़लीं और अब उन कल्पनाओं को वे भारत की वर्तमान स्थिति पर लागू करने का प्रयास कर रहे हैं। भारत की परिस्थिति बिल्कुल अलग है। हमारी समस्याएं अलग हैं। अतः उनके हल हमें स्वयं सोच-विचारकर ढूढने होंगे। समझ की कमी के कारण भारत के साम्यवादी उसे उल्टे घसीटकर पीछे ले जाने का प्रयत्न कर रहे हैं। भारत में जो नई-नई बातें हो रही हैं उनको ये अलेमानस न जानते हैं और न जानने की चिन्ता उन्हें है, जो उससे भी बुरी बात है।

एक सभा में भाषण देते हुए श्री नेहरू ने कहा था "किसी समय मैं मार्क्सवाद का विद्यार्थी था। उसने मुझे काफी प्रभावित किया परन्तु इतना नहीं कि भारत की समस्याओं को हल करने में वह मददगार हो सके। अपने देश की परिस्थितियों को जनता को और सारी पृष्ठभूमि को समझकर हमें यहां काम करना पड़ता है। चीन और रूस की बात दूसरी है। वहां का इतिहास अलग है। इतिहास की सारी उन प्रक्रियाओं को यहां आंखें मूंदकर दोहराना निरी मूर्खता होगी। उदाहरण के लिए चीन का वर्तमान शासन चीन के पिछले चालीस वर्षों के इतिहास का परिणाम है। उसका इतिहास गृह-युद्धों जापानी आक्रमणों और उनके भीतरी संघर्षों से भरा पड़ा है। यदि हम साम्यवादियों के बताये मार्ग से चलें तो हम अपनी मंजिल पर किस प्रकार पहुंच सकेंगे? क्या उनकी भांति हम भी एक-दो युद्ध विनाश और बरबादी में गुजारें? इसलिए उनका रास्ता अव्यावहारिक है। वह हमारे काम का नहीं है। हमारे लिए यह कहीं अच्छा और लाभदायक भी है कि हम शान्ति के मार्ग से ही आगे बढ़ें क्योंकि यदि हम यहां हिंसा से काम लेंगे तो आज से भी बुरी हालत में हम पहुंच जायंगे।

श्री नेहरू ने बार-बार साफ कर दिया है कि कांग्रेस और भारत सरकार की भी नीति शान्त और लोकतांत्रिक तरीकों से देश में समाजवादी

मूर्खता ही है। पूंजीवाद और व्यापारिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों की भांति मार्क्स के सिद्धान्त भी अब पुराने पड़ गये और उनमें आमूल सुधार और परिवर्तनों की जरूरत है। वर्ग-संघर्ष के स्थान पर अब सहयोग मे रहा है। जमींदारों से जमीन छीनने के लिए खून-खराबियां और बड़े-बड़े हत्या काण्डों के स्थान पर आज हम भूदान और ग्राम-दान जैसे दानवार आंदोलनों को देख रहे हैं। पहले सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति के लिए हिंसा अनिवार्य मानी जाती थी आज ऐसे परिवर्तन को सच्चे अर्थ में स्थायी बनाने के लिए आचार्य विनोबा हृदय और मन के परिवर्तन को आवश्यक मानते हैं और यह हिंसा और अहिंसा का भेद केवल सैद्धान्तिक वस्तु नहीं है, जैसा कि गांधीजी ने कहा है यह बुनियादी अन्तर मार्क्स के सिद्धान्तों की जड़ ही काट देता है—"और यदि आप बुनियाद बदल देते हैं तो सारी इमारत को बदलना पड़ता है। अच्छा हो यदि गांधीजी के विचारों पर आधारित इस लोकतन्त्री समाजवाद और अपने साम्यवाद के बीच यह जो बुनियादी अन्तर है, इसे साम्यवादी समझ लें। केवल अपनी पार्टी का विधान बदल देने से साम्यवादी अपने सिद्धान्तों को नहीं बदल सकते। वे जो बात अपनी जबान से कहते हैं यदि यही सचमुच उनके दिल में भी है तो उन्हें स्पष्ट रूप से यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि अब मार्क्सवाद के स्थान पर उससे कहीं अधिक क्रान्तिकारी सर्वोदय अथवा अहिंसक समाजवाद की स्थापना होनी चाहिए। हिंसा का परिणाम हिंसा ही होता है और उसका अनिवार्य परिणाम डिक्टेटरशाही होता है। समाज पर फौजी अनुशासन छा जाता है और वर्ग-संघर्ष लोकतन्त्र की जड़ों पर ही कुठाराघात करता है। अतः इस मार्ग पर समाज के स्वरूप को शान्ति के साथ बदलने की कहीं सम्भावना ही नहीं है।

१०

साम्यवादी दर्शन

श्री रामास्वामी मैकर ने यह धमकी दी थी है कि यदि समाज की हालत नहीं रही तो ब्राह्मणों की हत्याएं होने लगेंगी। प्रधान मन्त्री ने इन हलचलों की और धमकियों को देश के प्रति द्रोह बताया और कहा कि ये

संघर्ष और हिंसा के मार्ग से देश में कभी स्थायी शान्ति आ सकती है। उसकी प्राचीन परम्परा और पूर्व इतिहास उसे यही कहता है। भारत के तत्व-ज्ञान में जड़ नहीं चेतन सर्वोपरि माना गया है, जबकि साम्यवाद में चेतन जड़ का परिणाम है। इसीलिए तो गांधीजी यह मानते थे कि भारत में साम्यवाद जड़ नहीं पकड़ सकता। यह उसकी प्रकृति के विरुद्ध है।

सच तो यह है कि साम्यवाद लोकतन्त्र और सर्वोदय के बुनियादी सिद्धान्तों के ही विरुद्ध है। कम्यूनिस्ट पार्टी अपनी प्रस्तावना और लक्ष्यों को भले ही बदल ले परन्तु जबतक वह मार्क्स के सिद्धान्तों और तरीकों को प्रकट रूप से छोड़ नहीं देंगे लोग उसपर कभी विश्वास नहीं करेंगे। दूसरे शब्दों में मार्क्सवाद और लोकतन्त्री समाजवाद परस्पर बे-मेल चीजें हैं। उनके बीच का अन्तर ऊपरी नहीं मौलिक है। इन दोनों तत्व-ज्ञानों के बीच समझौते या समन्वय की बात करना ढोंग और पाखण्ड होगा। कुछ दिन पहले साम्यवादी रूस में 'व्यक्तिगत निष्ठा' के विरुद्ध रोष की एक लहर फैल गई थी और 'सामूहिक नेतृत्व' पर बड़ी-बड़ी वक्तृताएं हुई थीं परन्तु इस सारे मंथन के अन्त में व्यक्तिगत नेतृत्व ही विजयी सिद्ध हुआ। चीन में भी 'सौ पुष्पों को खिलने दो' की काव्यमय घोषणा हुई थी। परन्तु कुछ ही महीनों के अनुभव ने बता दिया कि वे सारे फूल कुम्हला गये और उन्होंने स्वयं अपने दोष कबूल कर लिये। अतः भारत के लोगों को यह विश्वास नहीं दिलाया जा सकता कि दूसरे देशों के कम्यूनिस्टों से यहां के कम्यूनिस्ट भिन्न प्रकार के सिद्ध होंगे।

मार्क्स निःसन्देह एक महान विचारक था परन्तु वह भारत के और दूसरे देशों के साम्यवादियों की भांति मतान्धवादी नहीं था। उसने अपने सिद्धान्त औद्योगिक क्रान्ति के बादवाले अपने समय के यूरोप की स्थिति के अध्ययन पर कायम किये थे। स्वयं पूंजीवादी देशों में भी उसके बाद जो बड़े-बड़े फेर-फार क्रमशः हुए, स्वभावतः उनकी वह कल्पना भी नहीं हो सकती थी। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का तत्व-ज्ञान भी आखिर रूस और यूरोप के दूसरे भागों में उस समय जो तत्व-ज्ञान प्रचलित थे उन्हीं पर आधारित किया गया था। इसके आधार पर सौ वर्ष पहले लिखी गई बातों पर बाद के सारे और इस युग की सारी बातों को लागू करना निरी

भी वे इसी नतीजे पर पहुंच रहे हैं कि मर्मों की खेतीवाले बड़े-बड़े सामूहिक खेतों की अपेक्षा छोटे-छोटे व्यक्तिगत खेती के खेतों में फी एकड़ उपज का मान कहीं अधिक ऊंचा होता है। सामूहिक पद्धति से यह सब सुघी-सुघी नहीं होगा। सारे कामों को यथाविधि चलानेवाले शास्त्रीय यन्त्र की मदद के लिए वहां बहुत बड़ी फौज और खुफिया पुलिस का एक विशाल जाल सदा फैलाये रखना पड़ता है। इसमें बेहद खर्च होता है। फिर इस पद्धति में जो भयंकर जोर-जबरदस्ती मानव का घोर अधःपतन और दमन होता है सो अलग है।

एकाधिकार की शासन-पद्धति में एक से अधिक दल रह नहीं सकते। न इस पद्धति में मानव-स्वातन्त्र्य के लिए कोई स्थान होगा। वर्ग का तानाशाह (प्रोलीतारियत) साम्यवादी मानते हैं कि प्रारम्भ में भले ही राज्य-शासन पर अधिकार करने के लिए वर्ग-संघर्ष और हिंसा से काम लिया जाय परन्तु बाद में राज्य प्रवृत्त हो जायगा। परन्तु अभी तक का अनुभव तो इस आशा को पुष्ट नहीं करता। जैसा कि प्राध्यापक जी डी एच कोल ने कहा है "इतिहास के अध्ययन से मनुष्य इसी नतीजे पर पहुंचता है कि तानाशाही (डिक्टेटरशिप) ज्यों-ज्यों पुरानी होती जाती है त्यों-त्यों वह कम नहीं अधिक उग्र और आलोचनाओं के प्रति अधिक असहिष्णु बन जाती है।" इसलिए साम्यवाद को यह सिद्ध करना है कि वहां लोकतन्त्र के सत्व और तत्व में कोई फर्क न आने देते हुए उसकी चौखट में साम्यवाद किस प्रकार काम कर सकता है। हमारा ख्याल है कि यह तभी हो सकता है जब भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी असन्दिग्ध भाषा में यह घोषणा कर देगी कि उसने साम्यवाद के आधारभूत सिद्धान्तों को छोड़ दिया है और यह कि भारत ने लोकतन्त्र के जिस मार्ग पर चलने की प्रतिज्ञा से रक्खी है, साम्यवाद के सिद्धान्त उसके अनुकूल नहीं हैं। मतलब यह कि भारत की जनता को साम्यवादियों पर तबतक विश्वास नहीं होगा जबतक कम्यूनिस्ट पार्टी अपनी नीति को ही पूरी तरह से बदल नहीं देगी और लोकतन्त्र के सर्वविदित सिद्धान्तों और तरीकों को मान्य नहीं कर लेगी और यह एक स्पष्ट और सार्वजनिक घोषणा के द्वारा तथा हमेशा के लिए हो। मतलब यह कि यह दूसरे देशों के साम्यवादी दलों से

राष्ट्र के लिए चुनौती है। श्री रामास्वामी नैकर मानते थे कि हरिजन की प्रतिमा जलाने और ब्राह्मणों को खत्म करने से जाति प्रथा नष्ट हो जायगी। क्या इससे भी बड़ी कोई मूर्खता और अपराध हो सकता है? श्री नेहरू ने कहा 'भारत ऐटम और हाइड्रोजन बमों से भी नहीं डरता। तब क्या वह किसी सिरफिरे दिमाग के आदमी के सामने अपना सर झुका देगा?

एक दूसरी सभा में भाषण देते हुए श्री नेहरूजी ने कहा "पुराने ज़माने में जाति-प्रथा के जो कुछ भी गुण-दोष रहे हों परन्तु आज तो उसके लिए देश में कोई स्थान नहीं है और यदि वह जारी रही भी तो देश को कमजोर बनायेगी और प्रगति के मार्ग में रोड़े अटकायेगी। पिछले सैकड़ों वर्षों में यह एक अभिशाप सिद्ध हुई है और इसने देश को कमजोर तथा पतित बना दिया है। इसने समाज को छिन्न-भिन्न करके विरोधी शक्तियों का गुलाम बना दिया है। एकता की भावना नष्ट कर दी है।

साम्यवाद पूर्णतया जड़वादी भौतिक जीवन-दर्शन है। नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को वह नहीं मानता। वह कहता है कि वर्ग-संघर्ष और पारस्परिक हत्या के मार्ग से ही राष्ट्र की सामाजिक और आर्थिक प्रगति होती है। साधन-शुद्धि के लिए साम्यवाद में कोई स्थान नहीं है। वह तो मानता है कि हमें अपने उद्देश्य से काम है। साधन कैसे भी हों, उद्देश्य यदि ऊंचा है तो काफी है। उसकी प्राप्ति के साधन बुरे भी हों तो कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिए। यह गांधीजी के बताये मार्ग से एकदम उलटा है। गांधीजी साधन-शुद्धि पर सबसे अधिक जोर देते हैं। महान उद्देश्य तभी सिद्ध हो सकते हैं। वे तो भारत की आजादी के लिए भी असत्य और हिंसा से काम लेना नहीं चाहते थे। उनका यह पक्का विश्वास था कि अशुद्ध साधनों से शुद्ध साध्य कभी प्राप्त नहीं हो सकते।

फिर यह मान्यता भी गलत है कि लोकतन्त्र की अपेक्षा साम्यवाद जल्दी फल देता है। सोवियत रूस के पिछले चालीस वर्ष के इतिहास पर ज़रा नज़र डालकर देखें। वहां सामूहीकरण और फौजी कड़ाई का परिणाम बहुत अच्छा और उत्साहवर्धक नहीं हुआ है। वहांपर आर्थिक प्रगति के अनेक प्रयासों को व्यावहारिक बनाने के लिए अन्य प्रकार से प्रयास करने पड़े हैं। पिछले तीस-चालीस वर्षों में अनेक कड़ुवे अनुभव वहां हुए हैं। आज

भी वे इसी नतीजे पर पहुंच रहे हैं कि यन्त्रों की खेतीवाले बड़े-बड़े सामूहिक खेतों की अपेक्षा छोटे-छोटे व्यक्तिगत खेती के खेतों में फी एकड़ उपज का मान कहीं अधिक ऊंचा होता है। सामूहिक पद्धति से यह सब खुशी-खुशी नहीं होगा। सारे कामों को यथाविधि चलानेवाले प्रशासकीय यन्त्र की मदद के लिए वहां बहुत बड़ी फौज और खुफिया पुलिस का एक विशाल जाल सदा फैलाये रखना पड़ता है। इसमें बेहद खर्च होता है। फिर इस पद्धति में जो भयंकर जोर-जबरदस्ती मानव का घोर अधःपतन और दमन होता है वो अलग है।

एकाधिकार की शासन-पद्धति में एक से अधिक दल रह नहीं सकते। न इस पद्धति में मानव-स्वातन्त्र्य के लिए कोई स्थान होगा। वर्ग का तानाशाह (प्रोलीतारियत) साम्यवादी मानते हैं कि प्रारम्भ में भले ही राज्य-शासन पर अधिकार करने के लिए वर्ग-संघर्ष और हिंसा से काम लिया जाय परन्तु बाद मे राज्य मुरझा हो जायगा। परन्तु अभी तक का अनुभव तो इस भावना को पुष्ट नहीं करता। जैसा कि प्राध्यापक जी डी एच कोल ने कहा है 'इतिहास के अध्ययन से मनुष्य इसी नतीजे पर पहुंचता है कि तानाशाही (डिक्टेटरशिप) ज्यों-ज्यों पुरानी होती जाती है त्यों-त्यों वह कम नहीं अधिक उग्र और आलोचनाओं के प्रति अधिक असहिष्णु बन जाती है। इसलिए साम्यवाद को यह सिद्ध करना है कि वहां लोकतन्त्र के तत्व और तत्व मे कोई फर्क न आने देते हुए उसकी चौखट में साम्यवाद किस प्रकार काम कर सकता है। हमारा ख्याल है कि यह तभी हो सकता है जब भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी असंदिग्ध भाषा में यह घोषणा कर देगी कि उसने साम्यवाद के आधारभूत सिद्धान्तों को छोड़ दिया है और यह कि भारत ने लोकतन्त्र के जिस मार्ग पर चलने की प्रतिज्ञा ले रखी है साम्यवाद के सिद्धान्त उसके अनुकूल नहीं हैं। मतलब यह कि भारत की जनता को साम्यवादियों पर तबतक विश्वास नहीं होगा जबतक कम्यूनिस्ट पार्टी अपनी नीति को ही पूरी तरह से बदल नहीं देगी और लोकतन्त्र के सर्वविदित सिद्धान्तों और तरीकों को मान्य नहीं कर लेगी और यह एक स्पष्ट और सार्वजनिक घोषणा के द्वारा तथा हमेशा के लिए हो। मतलब यह कि वह दूसरे देशों के साम्यवादी दलों स

अपना सम्बन्ध पूर्णतया तोड़ दे और अपने-आपको लोकतन्त्र में विश्वास करनेवाला एक समाजवादी दल बना ले। भारत में लोकतान्त्रिक समाजवाद का अर्थ है गांधीवादी समाजवाद। आचार्य विनोबा भावे अपने भूदान और ग्रामदान-आन्दोलनों के द्वारा जो समाज-व्यवस्था स्थापित करने जा रहे हैं, भारत उसी समाजवाद को स्वीकार कर सकता है।

हमारे अपने दिल में इस विषय में कोई उलझन नहीं है कि वास्तव में साम्यवाद एक ग़लत दर्शन है और सर्वोदय अथवा लोकतन्त्र के सिद्धान्तों के बिल्कुल विपरीत है, परन्तु हम यह भी जानते हैं कि जातीयता या सम्प्रदायवाद साम्यवाद से भी बुरा है। साम्यवाद में कम-से-कम अन्तिम लक्ष्य तो भाकर्षक है, यद्यपि उसकी प्राप्ति का मार्ग ग़लत अशुद्ध और हिंसात्मक है परन्तु जातिवाद में तो कुछ भी भलाई और आकर्षण नहीं है। यह तो एकदम अशुद्ध और तिरस्कार करने योग्य चीज़ है। इस प्रकार जातीयता और साम्यवाद हमारे सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र के दो मुख्य रोग हैं और दोनों ने पक्की सांठ-गांठ कर ली है। जो लोग सर्वोदय अर्थात् गांधीजी के विचारों के लोकतन्त्र में विश्वास करते हैं, उनको इस चुनौती का पूरी शक्ति के साथ और बोधपूर्वक मुकाबला करना है। असली बुराई है जातीयता। यदि इसका उपाय समय पर नहीं किया गया तो यह साबित्र या साम्यवाद का रूप धारण कर सकती है। जो हो इस मार्ग से लोकतन्त्र या समाजवाद को हम नहीं प्राप्त कर सकते जिसे राष्ट्रपिता गांधीजी चाहते थे कि भारत समझे और प्राप्त करे।

१८

सम्प्रदायवाद और साम्यवाद

साम्यवाद एक जीवन-दर्शन है। इसके आद्य प्रणेता मार्क्स थे। बाद में लेनिन, एंजल्स और स्टालिन ने इसे विकसित किया। साम्यवादी विचारधारा का मुख्य तत्त्व है सिद्धान्त प्रतिसिद्धान्त और समन्वय। उनका कथन है कि आर्थिक प्रगति वर्ग-संघर्ष से ही सम्भव है जो हिंसक क्रान्ति करवाती है और जिसका अन्त सर्वहारा-वर्ग की तानाशाही में होता है। रूस-चीन और पूर्व यूरोप के कई देशों में उनके

कार्यक्रम का आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद रहा है। भारत के भी साम्यवादी यद्यपि बात तो शान्ति और लोकतन्त्र की ही करते रहते हैं। परन्तु जब-जब उन्हें मौका मिला है, नाजुक परिस्थितियों का लाभ उठाकर हिंसक उपद्रव पैदा करने का बराबर यत्न करते रहते हैं। राज्यों के पुनर्गठन मजदूरों की हड़तालें बेतिहर मजदूरों के मामलों आदि में उन्होंने जो कुछ किया सो प्रत्यक्ष ही है। यद्यपि वे लोकतन्त्री कार्य पद्धति की दुहाई देते हैं, तथापि उनका काम करने का असली तरीका यही रहता है। अपने क्षेत्र में वे किसी भी राजनैतिक दल को काम करने नहीं देते। न वे भाषण-स्वातन्त्र्य को मानते हैं न छापाखाने की स्वतन्त्रता को। भारत के साम्यवादियों को यदि इस देश में सत्ता हथियाने का अवसर मिले तो सारे समाज पर अपनी सत्ता से छा जाने और हिंसा से काम लेने की नीति में वे फर्क करेंगे यह मानने के लिए हमारे पास कोई कारण नहीं है।

गांधीजी सदा कहा करते थे कि उनका रास्ता सर्वोदय अर्थात् अहिंसक समाजवाद का है और वर्ग-संघर्ष तथा हिंसा पर आधारित साम्यवाद का सिद्धान्त मुख्य अलग है। वह यह कहते कभी थकते नहीं थे कि साधन-शुद्धि सबसे पहली चीज है और उद्देश्य चाहे कितना ही अच्छा हो यदि उसकी प्राप्ति के लिए अशुद्ध साधनों का उपयोग किया जाता है तो उससे अच्छा साध्य भी दूषित हो जाता है। इस कारण उन्होंने साम्यवादियों की नीति और कार्यक्रमों को सदा गलत बताया और तमाम सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों को लोकतन्त्र और अहिंसा के मार्ग से ही सुलझाने का आग्रह रखा। राजनैतिक स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए भी उन्होंने झूठ गुप्तता और हिंसा को कभी प्रश्रय नहीं दिया। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि हिंसा और लोकतन्त्र कभी एक साथ नहीं रह सकते। वे सदा एक-दूसरे की काट करते रहेंगे। एकाधिकारवाले (टोटलिटेरियन) राज्य में व्यक्ति अपनी सारी आजादी खो देते हैं। यह चीज दुनियावी तौर पर सर्वोदय के सिद्धान्त से एकदम विपरीत है। गांधीजी के कल्पनागत अहिंसक समाज में व्यक्ति और समाज दोनों पूरी तरह से आजाद रहेंगे और उन्हें अपने विचार प्रकट करने और विकास का पूरा-पूरा अवसर मिलेगा उन्होंने अपने स्वराज्य की कल्पना ग्राम राज्य पर आधारित की है। ग्रामीण समाज का

यह अपना एक छोटा-सा स्वावलम्बी स्वराज्य होगा जिसमें न कोई किसीका शोषण करेगा न अपना शोषण दूसरे किसीको करने देगा। इसमें अपनी भौतिक जरूरतें पूरी कर लेने के अलावा नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का भी खयाल उन्हाने रक्खा है। साम्यवादी दृष्टि केवल भौतिक है, परन्तु सर्वोदय में जीवन के भौतिक और नैतिक मूल्यों का समन्वय किया गया है। इसीलिए तो गांधीजी हमें हमेशा कहा करते थे कि साम्यवाद भारत की प्रकृति और संस्कृति के अनुकूल नहीं है। उन्होंने साफ-साफ कहा था कि इस भूमि में साम्यवाद नहीं पनप सकेगा।

अगले कुछ वर्ष हमें एक तरफ सम्प्रदायवाद से और दूसरी तरफ साम्यवाद से लोहा लेने में बिताने होंगे। कहने की आवश्यकता नहीं कि सम्प्रदायवाद या मजहबवाद एक बहुत बड़ी बुराई है। वह राष्ट्रीयता की कल्पना पर अर्थात् अखण्ड भारत की एकता पर ही कुठाराघात करता है। वह यदि अधिक नहीं तो साम्यवाद के जितना ही अनिष्टकर है। इसलिए हम इन दोनों का दृढ़ता और हिम्मत के साथ मुकाबला करना होगा। कार्ल मार्क्स ने साम्यवादी विचार और काम करने का जो तरीका कायम किया उसे सौ वर्ष बीत गये। यूरोप की तब जो हालत थी उसे ध्यान में रखकर वे बातें कही गई थीं। आज बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में वैसी ही परिस्थितियां निर्माण करने की बातें करना निरी मूर्खता है। आज संसार पारस्परिक सहयोग और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की दिशा में काफी आगे बढ़ गया है। अब वर्ग-संघर्ष और हिंसक उपद्रवोंवाली बातें बहुत पुरानी हो गई हैं। स्वयं रूस में जहां साम्यवाद ने पहले-पहल अपनी स्थापना की वहां की साम्यवादी पार्टी ने भी यह अनुभव कर लिया है कि खेती का जबरदस्ती से सामूहीकरण और अत्यधिक दमन जैसी पुरानी बातों की अब जरूरत नहीं है। प्रत्येक देश को हक है कि वह अपने यहां के लिए जिस प्रकार की चाहे आर्थिक और राजनैतिक पद्धति पसन्द करे। हमें भी चाहिए कि हमारे पूर्वज हमारे लिए जो महान सांस्कृतिक विरासत छोड़ गये हैं उसकी महत्ता समझें, दूसरों को भी समझावें और उसके अनुसार अपना सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक जीवन बनायें। भारतीय संस्कृति का यदि हम गहराई से अध्ययन करेंगे तो ज्ञात होगा कि साम्यवादी विचार-दर्शन हमारे राष्ट्र की प्रकृति

और परम्परा के एकदम विपरीत है। अहिंसक समाजवाद या सर्वोदय या पचपरमेश्वर की कल्पना भारतीय संस्कृति का प्राण रही है।[1]

१६

आर्थिक सयोजन और शिक्षा

जैसा कि पहले कहा जा चुका है आज देश में हम एक बड़ी अजीब समस्या का सामना करना पड़ रहा है। एक तरफ हजारों शिक्षित नवयुवक काम की तलाश में मारे-मारे घूम रहे हैं और दूसरी तरफ बहुत-सी जगहें इसलिए खाली पड़ी हैं कि आवश्यक प्रशिक्षण पाये हुए आदमी उपलब्ध नहीं हैं। उदाहरण के लिए पचवर्षीय योजना में कितनी ही योजनाओं का महज इसी कारण बरसों तक हाथ में नहीं लिया जा सका और उनके लिए जिस प्रकार का विशेष प्रशिक्षण पाये हुए युवकों की जरूरत थी वे आज भी नहीं मिलते हैं। इस समय हमें आर्थिक सर्वेक्षण करनेवालों ओवरसीयरों, डॉक्टरी सहायता पहुंचानेवालों—खासकर गांवों में—नर्सों स्टेनोग्राफरों और अन्य कितने ही प्रकार के कुशल और साधारण जानकारों की भी अत्यन्त आवश्यकता है। कितने ही राज्यों की सरकारें उनके लिए केन्द्रीय शासन द्वारा मंजूर रकमों का स्थानीय योजनाओं सिंचाई योजनाओं और सड़कें आदि बनाने में केवल इसी कारण उपयोग नहीं कर पाई हैं कि उन्हें इनके लिए योग्य आदमी नहीं मिल रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि हमारी शिक्षा-संस्थाओं और विकास-योजनाओं में परस्पर सहयोग नहीं है। ऐसे सहयोग और एकीकरण के बगैर शिक्षितों की बेकारी और प्रशिक्षित आदमियों की कमी को कदापि दूर नहीं किया जा सकेगा। फिर शिक्षा में विविधता की और अनेक तरह के उद्योगों और कलाओं के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था करने की बड़ी जरूरत है। अब सरकारों को और जनता को भी कोरा साहित्यिक ज्ञान देनेवाली शिक्षा को प्रोत्साहन देना बन्द कर देना चाहिए। सच तो यह है कि आज के ढंग के स्कूल-कालिजों का बढ़ाना एक-दम बन्द हो जाना चाहिए।

भारत सरकार ने बुनियादी शिक्षा को भावी शिक्षा-पद्धति के नमूने के

[1] 'गांधी और मार्क्स' (मशरूवाला) की प्रस्तावना से

रूप में स्वीकार कर लिया है। इसके प्रवर्तक महात्मा गांधी हैं। इस पद्धति का मुख्य सिद्धान्त यही है, जो संसार के सभी शिक्षा-शास्त्रियों को मान्य है अर्थात्—काम करते-करते सीखना—उत्पादक काम करते-करते विविध विषयों का ज्ञान प्राप्त करना। बुनियादी शिक्षा का अर्थ शिक्षण + काम नहीं बल्कि काम के द्वारा शिक्षण है। मतलब यह कि भाषा, गणित, भौतिक विज्ञान, समाज-विज्ञान, इतिहास, भूगोल आदि विषयों का ज्ञान कताई, बुनाई, बढ़ईगीरी, लोहारी आदि दस्तकारियों के माध्यम से दिया जाय। शिक्षा के साथ हमारी विविध विकास-योजनाओं को जोड़ने की मौलिक समस्या का व्यावहारिक हल निःसन्देह इस बुनियादी शिक्षा-पद्धति में है। बुनियादी शालाएं शहरों और गांवों में भी हमारे बच्चों को इन योजनाओं से सम्बन्धित विविध कामों के लिए तैयार करने में बहुत मददगार होंगी। वर्तमान शिक्षा-संस्थाओं की भांति बच्चों को निरे बाबू बना-बनाकर निकालने के बदले ये शालाएं हमारे बच्चों-बच्चियों को ऐसे सक्षम और उत्साही युवक और युवतियां तैयार करके देंगी जो नवीन भारत के निर्माण में जी-जान से जुट जायेंगे। इनको काम की तलाश में अर्जियां ले-लेकर दर-दर मारे-मारे नहीं घूमना होगा। कड़े परिश्रम, उपयोगी काम और स्वावलम्बन की हिम्मत उनमें होगी और वे अपने भाग्य के निर्माता स्वयं होंगे।

प्रत्येक राज्य में केवल प्रयोग के रूप में कुछ शालाएं खोल देने से अब काम नहीं चलेगा। प्रयोगों की अवस्था को हम कभी के पार कर चुके हैं। अब तो तमाम प्राथमिक और माध्यमिक शालाओं को क्रमिक बुनियादी पद्धति की शालाओं में योजनापूर्वक बदल देना जरूरी है। विश्वविद्यालयों की शिक्षा के स्वरूप में भी आमूल परिवर्तन करने की जरूरत है। जो हो, बुनियादी शालाओं से निकलनेवाले जो विद्यार्थी कालेजों या विश्वविद्यालयों में शिक्षा लेना चाहें उन्हें किसी प्रकार असुविधा नहीं अनुभव होनी चाहिए। इसके विपरीत उन्हें प्रोत्साहन और हर प्रकार की सुविधा ही दी जानी चाहिए।

शालाओं के पाठ्यक्रम में अंग्रेजी की पढ़ाई की व्यवस्था इस प्रकार कर दी जाय कि बुनियादी शिक्षा पानेवाला विद्यार्थी अल्पकाल में अंग्रेजी

के ज्ञान की कमी के कारण किसी प्रकार की असुविधा अनुभव न करें। भाषा के रूप में अंग्रेजी के हम विरोधी नहीं हैं। वह यदि सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं तो संसार की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाषाओं में से एक अवश्य ही है। परन्तु केवल इस कारण वह हमारे राष्ट्रीय जीवन में देशी भाषाओं का स्थान नहीं ले सकती और खासकर शिक्षा के क्षेत्र में तो हरगिज नहीं। हिन्दी और अन्य भाषाओं को न केवल शालाओं और कालेजों में शिक्षा का माध्यम बना दिया जाना चाहिए, बल्कि अखिल भारतीय सेवाओं के लिए भी परीक्षा का माध्यम वे ही हों। हमारे युवक अपनी शिक्षा में एक विषय के रूप में अंग्रेजी अथवा अन्य किसी विदेशी भाषा का भी अध्ययन अवश्य कर सकते हैं परन्तु हमारे सामाजिक और शैक्षणिक जीवन में अंग्रेजी को आज जो अस्वाभाविक स्थान दिया जा रहा है, वह तो एकदम अनुचित है।

कुछ लोगों का यह ख्याल है कि बुनियादी शिक्षा में चूंकि उद्योगों की शिक्षा का प्रबन्ध करना पड़ता है इसलिए वह वर्तमान शिक्षा से महंगी पड़ेगी। आचार्य विनोबा भावे ने एक बार इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा था कि उद्योगों की शिक्षा के लिए शालाओं में अलग से विशेष खर्च की कोई जरूरत नहीं होनी चाहिए। उनकी यह निश्चित राय है कि आज शहरों में और गांवों में जो दस्तकारियां जारी हैं उनका उपयोग अनुबन्ध के तौर पर बच्चों को सिखाने में हो सकता है। इस प्रकार बच्चों की शिक्षा के आधार के लिए बहुत-सी दस्तकारियां उपलब्ध हो सकेंगी और किसी भी शाला के साथ अलग से कोई उद्योगशाला नहीं जोड़नी होगी। यदि इस सिद्धान्त पर सही-सही तौर पर और सूझ-बूझ के साथ अमल किया गया तो बगैर किसी अतिरिक्त खर्च के सारे देश में बुनियादी शिक्षा का प्रचार हो सकेगा। इसके अलावा यह भी याद रहे कि बुनियादी शिक्षा केवल गांवों के लिए ही नहीं है, वह तो एक नई प्रकार की और सम्पूर्ण स्वतन्त्र शिक्षा-पद्धति है। इसलिए उसका प्रसार शहरों और गांवों दोनों जगह एक साथ होना चाहिए। बेशक शहरों की आधारभूत दस्तकारियां गांवों की दस्तकारियों से अलग प्रकार की होंगी। यदि दस्तकारियों का प्रारम्भ केवल गांवों में ही किया जाता है तो लोग समझते हैं कि गांवों का महत्त्व कुछ कम है। वे शहर के लोगों की नीयत में शक भी करने लगते हैं। मद्रास राज्य

में इस प्रकार की भूल हो गई थी। ऐसी भूल दूसरी जगह नहीं होनी चाहिए।

कुछ प्रमुख शिक्षा-शास्त्रियों का सुझाव है कि भारत में कोई भी विद्यार्थी उपाधि प्राप्त करने के लिए तभी योग्य माना जाय जब वह कुछ महीने अनिवार्य रूप से समाज की सेवा कर ले। यह शरीर-श्रम और समाज-सेवा का कार्य युवकों को विकास-योजनाओं में काम दिलाने में भी निश्चय ही काफी मददगार होगा। समाज के अन्दर से इस प्रकार नवयुवकों की अनिवार्य भरती करने का समय आ गया है। इसलिए उसपर तुरन्त अमल करने योग्य एक व्यवस्थित और व्यावहारिक योजना अवश्य तैयार कर लेनी चाहिए। इस प्रकार यदि हम शिक्षा-पद्धति में समयानुकूल सुधार कर लें और तमाम शिक्षा-संस्थाओं में किसी-न-किसी प्रकार का समाजोपयोगी शरीर-श्रम अनिवार्य कर दें तो हम इस प्राचीन भूमि की काया बदल देने में अवश्य ही सफल हो सकेंगे। राष्ट्र के सच्चे और सफल संगठन के लिए उपयुक्त शिक्षा-पद्धति का होना बहुत जरूरी है। इसलिए इस काम में हम जितनी भी जल्दी सम्भव हो नया कार्य और सारी शिक्षा-पद्धति को नया रूप दे दें।

२
शिक्षा और लोकतन्त्र

संविधान की ४५वीं धारा में लिखा है, "राज्य दस वर्ष के अन्दर ऐसा यत्न करे कि चौदह वर्ष के अन्दरवाले सब बच्चों—लड़कों और लड़कियों—को भी शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य रूप से मिलने लग जाय" परन्तु यह देखकर दुःख होता है कि यह लक्ष्य अभी तक पूरा नहीं हो सका है, और न इसके लिए कोई निश्चित योजना ही है।

हमारा ख्याल है कि इसमें मुख्य कठिनाई धन की इतनी नहीं है, जितनी इस निर्णय की कि राष्ट्रीय संयोजन में हम शिक्षण को कितनी प्राथमिकता देते हैं। इस दृष्टि से जब हमने दूसरी पंचवर्षीय योजना के अंकों का अध्ययन किया तो हमें यह देखकर दुःख हुआ कि पहली पंचवर्षीय योजना की अपेक्षा दूसरी पंचवर्षीय योजना में शिक्षा के लिए रखी गई रकम का प्रतिशत बहुत कम है।

असल बात यह है कि हम तो चाहते हैं कि प्राथमिक शिक्षा सात से चौदह वर्ष के अन्दर के सभी बालकों को अवसर मिले और बच्चों की इस आयु-मर्यादा में हम जरा भी कमी नहीं करना चाहते क्योंकि लोकतन्त्र व्यापक आधार पर काम करे, इसके लिए यह जरूरी है कि इस योजना में और अगली योजना में भी हम शिक्षा को बहुत अधिक प्राथमिकता दें। प्रधान मन्त्री ने कहा था कि टोकियो की नगरपालिका सड़कों की बत्तियों और सामान्य प्रबन्ध पर बहुत कम खर्च करती है और शिक्षा आरोग्य जैसे समाज-सेवा के कार्यों पर बहुत अधिक। यह उचित ही है। इसलिए हम भी बहुत जोर देकर कहना चाहते हैं कि हमें भी शिक्षा पर और खास तौर पर प्राथमिक शिक्षा पर काफी अधिक खर्च करना चाहिए। इसके अलावा भिन्न-भिन्न प्रकार के विकास-कामों का यदि समन्वय किया जाय तो इस कार्य के लिए और भी रकम उपलब्ध हो सकती है। उदाहरण के लिए खादी और ग्रामोद्योगों पर खर्च की जानेवाली रकम का काफी बड़ा अंश बुनियादी शालाओं में उत्पादक दस्तकारियों के लिए दिया जा सकता है। इसी प्रकार का समन्वय सामुदायिक विकास-योजनाओं और राष्ट्रीय विकास-खण्डों की प्राथमिक शिक्षा और समाज-शिक्षा की प्रवृत्तियों में किया जा सकता है। प्रधान मन्त्री ने कई बार कहा है कि शालाओं के लिए मकान बनाने के खर्च में काफी कमी की जानी चाहिए। पेड़ों के नीचे भी वर्ग लेकर हमें सन्तोष मान लेना चाहिए और इसके लिए आज कल की भांति लम्बी छुट्टियां गर्मी में देने के बजाय वर्षा में दी जायं। मकान की जरूरत हो भी तो बहुत अधिक लागत का मकान बनाने की अपेक्षा कम लागत का मकान स्थानीय सामग्री काम में लेकर बनाया जाय। शाला भवनों के लिए जनकार्य-विभाग की वर्तमान दरें और नक्शे बहुत खर्चीले हैं। उनमें आमूल परिवर्तन करने की जरूरत है। मकानों पर इतना अधिक खर्च करने की अपेक्षा अच्छे शिक्षकों पर यह रकम खर्च करना अधिक उपयुक्त होगा। शिक्षकों के वेतन का एक अंश पहले की भांति पंचायतों से अनाज के रूप में फसलों पर भी लिया जा सकता है।

मतलब यह कि प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य, नि:शुल्क और सार्वत्रिक करने के प्रश्न को हम तभी हल कर सकेंगे जब पुरानी लकीरों को पीटना

छोड़कर हम नये साधन ढूंढने की कोशिश करेंगे। प्राथमिक शिक्षा के प्रचार में विश्वविद्यालयों के स्नातकों की सेवाओं का उपयोग भी किया जा सकता है। पदवी देने से पहले उनके लिए इस सेवाकार्य में कुछ समय देना अनिवार्य किया जा सकता है। यह सुझाव नया नहीं है। राष्ट्र की एक महान और जरूरी आवश्यकता के रूप में यदि इस प्रश्न को हाथ में लिया जाय और प्राथमिक शिक्षा के प्रचार का एक व्यवस्थित अभियान शुरू किया जाय तो हम विश्वास है कि लोग काफी संख्या में अपनी सेवाएं इस काम को सफल करने के लिए प्रसन्नतापूर्वक अर्पित करेंगे। क्रान्तियां और सामूहिक आन्दोलन केवल पैसे के बल पर नहीं चलाये जा सकते। राज्यों को चाहिए कि इस काम के लिए जनता के सहयोग और सहायता की मांग करें। इस प्रकार राष्ट्र के बच्चों की शिक्षा के प्रश्न को हल करने के लिए पैसे की उतनी जरूरत नहीं है, जितनी देशव्यापी उत्साह निर्माण करने और उसे संगठित करने की है।

फिर हमें इस बात का भी ध्यान रखना है कि इस प्राथमिक शिक्षा में बच्चों को क्या पढ़ाया जायगा।

राष्ट्र के भावी नागरिक—पुरुष और स्त्रियां भी—चरित्रवान और सेवा-शील बनें इसलिए यह जरूरी है कि इस शिक्षा में नैतिक गुणों पर ही जोर दिया जाय जिससे राष्ट्र महान् बनते हैं। पढ़ने-लिखने और हिसाब-किताब की मामूली शिक्षा के अतिरिक्त बच्चों को अपने अधिकार और कर्तव्य बताये जायं। उन्हें यह भी सिखाया जाय कि समाज के प्रति उनके क्या कर्तव्य हैं। सदाचार, सामाजिक व्यवहार, आरोग्य और स्वच्छता के सिद्धान्त भी उन्हें बताये जायं। फिर राष्ट्र के प्रति उनके दिलों में निष्ठा उत्पन्न करने के लिए हमारी महान् सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परम्पराओं से भी उन्हें परिचित करा दिया जाय। प्राथमिक शालाओं के इन बालकों को अपने हाथ से स्वयं सब काम करना भी सिखाया जाय। कलात्मक किन्तु उपयोगी चीजें बनाना भी उन्हें सिखाया जायं। हमारा देश गरीब और खेती-प्रधान है। हमें अपने बच्चों को ऐसी शिक्षा नहीं देनी है कि जिससे वे अपने घर और गांव को छोड़कर शहरों में चले जायं और दूसरों के परिश्रम पर जीना सीखें। इसी दृष्टि से बुनियादी शिक्षा हमारे

देश के लिए सबसे अधिक मौजूं है और इसमें यदि यह भी ध्यान रक्खा जाय कि विद्यालयों में जो दस्तकारियां सिखाई जायं उनकी मदद से उप योगी चीजें भी बनें तो राष्ट्र पर शिक्षा का अधिक बोझ भी कुछ तो कम हो ही सकता है।

२१

शिक्षा में सम्प्रदायवाद

शिक्षा का एक और पहलू विचारणीय है। अनेक शहरों में किसी खास सम्प्रदाय धर्म या जाति के नाम पर शिक्षा-संस्थाएं स्थापित हैं। एक धर्म निरपेक्ष राज्य में इस प्रकार की शिक्षा-संस्थाएं मेल नहीं खातीं। इनमें से फूट की प्रवृत्तियां जोर पकड़ती रहती हैं और इसका परिणाम शिक्षकों और विद्यार्थियों पर भी पड़ता रहता है। यह सच है कि इन संस्थाओं में दूसरे समाजों के विद्यार्थियों को भी प्रवेश दे दिया जाता है परन्तु यह तो लोक-मत के दबाव से होता है और यह बताने के लिए कि वे असाम्प्रदायिक और राष्ट्रीय हैं परन्तु इससे उनका जातीयता या साम्प्रदायिकता कम नहीं हो जाती। वह शिक्षकों और कम उम्र के विद्यार्थियों पर अपना अनिष्ट प्रभाव डालता ही रहता है। राष्ट्र में लोकतन्त्र की जड़ों को मजबूत करने के लिए हमें जातिवाद और सम्प्रदायवाद को लोगों के दिमों से निर्मूल करना ही चाहिए। यदि कोमल उम्र के बच्चों और बच्चियों के दिल धाराओं में जातिवाद और सम्प्रदायवाद से विषाक्त होते रहे तो हमारे देश में लोक-तन्त्र की स्वस्थ परम्पराओं के विकास की आशा करना व्यर्थ ही होगा।

इस विषय में कहा जाता है—और वह गलत नहीं है—कि भारत सरकार भी तो वाराणसी में हिन्दू-विश्वविद्यालय और अलीगढ़ में मुस्लिम विश्वविद्यालय चला रही है। इन विश्वविद्यालयों में भी यद्यपि सभी जातियों और समाजों के विद्यार्थियों को लिया जाता है, फिर भी इनके नाम मात्र के कारण भी कुछ भेद का संकेत हो ही जाता है और लोकतन्त्री समाजवादी धर्म-निरपेक्ष राज्य को शोभा नहीं देता। इन उच्च विद्यालयों के वातावरण में भी साम्प्रदायिकता है ही। हम समझ नहीं पा रहे हैं कि अभी तक हमारी केन्द्रीय सरकार ने इनके नामों के साथ जुड़े

हुए सम्प्रदाय-सूचक शब्दों को क्यों नहीं हटा दिया और इसके अन्दर राष्ट्रीय वातावरण क्यों नहीं निर्माण कर दिया। हमें यह प्रयत्न तो करते ही रहना चाहिए, जिससे ये प्रतिगामी विचार हमारी आनेवाली पुश्तों के दिमागों को अब आगे दूषित न करने पावें और केन्द्रीय शासन इस दिशा में कोई साहसपूर्ण कदम उठायेगा तभी राज्यों की सरकारों को भी प्रदेशों में इस प्रकार के कदम उठाने की हिम्मत होगी।

आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी हुई जातियों को आर्थिक सहायता और छात्रवृत्तियाँ देने की हमारी नीति में जातिवाद और सम्प्रदायवाद का अर्थशास्त्र और भी प्रबल हो जाता है। आज लोगों में अपनेको इन पिछड़े वर्गों में गिनाने की होड़ लगी हुई है। भारत जैसे गरीब देश में स्वभावतः बहुत-से लोग पिछड़े हुए हैं, परन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं कि पिछड़े हुए गिने गये वर्ग के सब-के-सब आदमी इतने गरीब हैं कि उनको सरकारी खजाने से आर्थिक सहायता दी जाय। इसलिए उचित यह है कि शासन के आर्थिक सहायता उन्हींको दी जाय जो सचमुच गरीब हों न कि उनको जो महज किसी खास जाति या वर्ग के हैं। जातियों के नाम पर यदि आर्थिक सहायताएँ दी जाती हैं तो स्वभावतः जाति प्रथा को उभाड़ने की वृत्ति समाज में बनी रहती है। अनुसूचित जातियों और वन-जातियों को एक निश्चित अवधि के लिए एक स्वतन्त्र वर्ग में रख दिया गया है। तबतक उनको राज्य से अवश्य ही विशेष रियायतें मिलती रहें परन्तु उनमें भी इतना आर्थिक और सामाजिक सुधार करना चाहिए ताकि अन्त में हम ऐसी स्थिति निर्माण कर सकें जब जातिगत भेद भावों को हम पूरी तरह से मिटा सकें।

आज भारत के सार्वजनिक जीवन में दो खतरनाक चीजें हैं। पहली चीज है साम्यवाद और उसकी हिंसा और वर्ग-संघर्ष की नीति। साम्यवाद का वर्गविहीन समाजवाला लक्ष्य निःसन्देह अच्छा है। परन्तु इसकी प्राप्ति के लिए जिन उपायों का अवलम्बन किया जाता है वे गलत हैं। वे स्वयं लक्ष्य को भी अशुद्ध बना देते हैं। दूसरी खतरनाक चीज है जातिवाद और सम्प्रदायवाद। यह तो सारा-का-सारा नीचे से ऊपर तक अशुद्ध और [illegible] से भरा हुआ है और राष्ट्रीय एकता की नींव को ही कमजोर

और बराब करता है।

२२
कम विकसित देश में विरोधी दल

श्री जयप्रकाशनारायण ने अपने एक भाषण में कहा था "अच्छा हो या बुरा भारत ने संसदीय लोकतन्त्र का मार्ग पसन्द किया है। लोकतन्त्र की यह पद्धति सर्वोत्तम है, ऐसा हम नहीं कह सकते। फिर भी हर देश के कुछ नियम होते हैं। तदनुसार संसदीय लोकतन्त्र का यह एक बुनियादी नियम है कि इसमें तबतक अच्छी तरह से काम नहीं हो सकता जबतक सामने कोई शक्तिशाली विरोधी दल नहीं होगा। यह विरोधी दल सदा आंखों में तेल डालकर शासकीय दल के हर काम को देखता रहता है जिसके कारण शासकीय दल को सदा सही मार्ग पर चलना पड़ता है।

दूसरी तरफ आचार्य विनोबा भावे कहते हैं कि सब दल मिलकर एक सामान्य राष्ट्रीय कार्यक्रम बनावें और उसके आधार पर देश का शासन प्रबन्ध हो। वह कहते हैं कि चूंकि देश में विचार भेद रहेंगे इसलिए राज नैतिक दल भी रहेंगे ही। परन्तु वह चाहते हैं कि विचार भेद के ये संघर्ष विश्वविद्यालयों महाविद्यालयों और विद्वानों तक ही सीमित रहें। इनको जनसमाज में लाकर उसमें बुद्धि-भेद नहीं फैलाना चाहिए। इससे असली सामाजिक और आर्थिक जरूरतों की बातें अलग रक्खी रह जाती हैं और हम बुद्धिवादों में लोग उलझ जाते हैं। आचार्य विनोबा की यह दृढ़ राय है कि पश्चिम में जिस प्रकार का संसदीय लोकतन्त्र चल रहा है वह भारत के लिए बहुत उपयोगी नहीं है। भारत जैसे कम विकसित देश में यह जरूरी है कि तमाम भले आदमियों की शक्तियां समाज की आर्थिक हालत सुधारने में लग जानी चाहिए। इसलिए वह चाहते हैं कि राजनैतिक सत्ता विकेन्द्रित कर दी जाय ताकि पंचायतें अपने अपने गांव की सेवा में लग जायं और ग्रामीण समाज की सामाजिक आर्थिक दशा-सुधार की योजनाएं बनाकर उनके अमल में वे लग जायं। ऐसी स्वाधीन लोकतन्त्री संस्थाओं में विरोधी दलों के लिए बहुत अधिक स्थान नहीं होता। पुराने जमाने की पंचायतें आजकल के संसदीय लोकतन्त्र की पद्धति की संस्थाएं नहीं थीं। वे सारे

हुए सम्प्रदाय-सूचक शब्दों को क्यों नहीं हटा दिया और इनके अन्दर राष्ट्रीय वातावरण क्यों नहीं निर्माण कर दिया। हमें यह प्रयत्न तो करते ही रहना चाहिए जिससे ये प्रतिगामी विचार हमारी मानवतावादी पुत्रों के दिलों को अब आगे दूषित न करने पावें और केन्द्रीय शासन इस दिशा में कोई साहसभरा कदम उठायेगा तभी राज्यों की सरकारों का भी प्रदेशों में इस प्रकार के कदम उठाने की हिम्मत होगी।

आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी हुई जातियों को आर्थिक सहायता और छात्रवृत्तियां देने की हमारी नीति में जातिवाद और सम्प्रदायवाद का पर्याप्त रूप भी प्रकट हो जाता है। आज लोगों में अपनेको इन पिछड़े वर्गों में गिनाने की होड़ लगी हुई है। भारत जैसे गरीब देश में स्वभावतः बहुत-से लोग पिछड़े हुए हैं, परन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं कि पिछड़े हुए गिने गये वर्ग के सब-के-सब आदमी इतने गरीब हैं कि उनको सरकारी खजाने से आर्थिक सहायता दी जाय। इसलिए उचित यह है कि शासन से आर्थिक सहायता उन्हींको दी जाय जो सचमुच गरीब हों न कि उनको जो महज किसी खास जाति या वर्ग के हैं। जातियों के नाम पर यदि आर्थिक सहायताएं दी जाती हैं तो स्वभावतः जाति प्रथा को उस बढ़ाने की वृत्ति समाज में बनी रहती है। अनुसूचित जातियां और वन-जातियों को एक निश्चित अवधि के लिए एक स्वतन्त्र वर्ग में रख दिया गया है। तबतक उनको राज्य से अवश्य ही विशेष रियायतें मिलती रहें परन्तु उनमें भी इनको आर्थिक और सामाजिक सुधार करना चाहिए, ताकि अन्त में हम ऐसी स्थिति निर्माण कर सकें जब जातिगत भेद-भावों को हम पूरी तरह से मिटा सकें।

आज भारत के सार्वजनिक जीवन में दो खतरनाक चीजें हैं। पहली चीज है साम्यवाद और उसकी हिंसा और वर्ग-संघर्ष की नीति। साम्यवाद का वर्गविहीन समाजवाला लक्ष्य निःसन्देह अच्छा है। परन्तु इसकी प्राप्ति के लिए जिन उपायों का अवलम्बन किया जाता है वे गलत हैं। वे स्वयं लक्ष्य को भी अशुद्ध बना देते हैं। दूसरी खतरनाक चीज है जातिवाद और सम्प्रदायवाद। यह तो सारा-का-सारा नीचे से ऊपर तक अशुद्ध और अनाड़ीपन से भरा हुआ है और राष्ट्रीय एकता की नींव को ही कमजोर

और खराब करता है।

२२

कम विकसित देश में विरोधी दल

श्री जयप्रकाशनारायण ने अपने एक भाषण में कहा था "अच्छा हो या बुरा भारत ने संसदीय लोकतन्त्र का मार्ग पसन्द किया है। लोकतन्त्र की यह पद्धति सर्वोत्तम है, ऐसा हम नहीं कह सकते। फिर भी हर देश के कुछ नियम होते हैं। तदनुसार संसदीय लोकतन्त्र का यह एक बुनियादी नियम है कि इसमें तबतक अच्छी तरह से काम नहीं हो सकता जबतक सामने कोई शक्तिशाली विरोधी दल नहीं होगा। यह विरोधी दल सदा आंखों में तेल डालकर शासकीय दल के हर काम को देखता रहता है जिसके कारण शासकीय दल को सदा सही मार्ग पर चलना पड़ता है।"

दूसरी तरफ आचार्य विनोबा भावे कहते हैं कि सब दल मिलकर एक सामान्य राष्ट्रीय कार्यक्रम बनायें और उसके आधार पर देश का शासन प्रबन्ध हो। वह कहते हैं कि चूंकि देश में विचार-भेद रहेंगे इसलिए राजनैतिक दल भी रहेंगे ही। परन्तु वह चाहते हैं कि विचार-भेद के ये संघर्ष विश्वविद्यालयों महाविद्यालयों और विद्वानों तक ही सीमित रहें। इनको जनसमाज में लाकर उसमें बुद्धि-भेद नहीं फैलाना चाहिए। इससे असली सामाजिक और आर्थिक जरूरतों की बातें धरी रखी रह जाती हैं और इन बुद्धिवादों में लोग उलझ जाते हैं। आचार्य विनोबा की यह दृढ़ राय है कि पश्चिम में जिस प्रकार का संसदीय लोकतन्त्र चल रहा है वह भारत के लिए बहुत उपयोगी नहीं है। भारत जैसे कम विकसित देश में यह जरूरी है कि तमाम भले आदमियों की शक्तियां समाज की भावी हालत सुधारने में लग जानी चाहिए। इसलिए वह चाहते हैं कि राजनैतिक सत्ता विकेन्द्रित कर दी जाय ताकि पंचायतें अपने-अपने गांव की सेवा में लग जायं और ग्रामीण समाज की सामाजिक आर्थिक दशा-सुधार की योजनाएं बनाकर उनके अमल में वे लग जायं। ऐसी स्थानीय लोकतन्त्री संस्थाओं में विरोधी दलों के लिए बहुत अधिक स्थान नहीं होता। पुराने जमाने की पंचायतें आजकल के संसदीय लोकतन्त्र की पद्धति की संस्थाएं नहीं थीं। वे सारे

समाज को एक मानकर चलती और पंचायत के सारे सदस्य मिलकर एक दिल से उसकी सेवा करते। महात्मा गांधी भी भारत में इसी नमूने का लोकतन्त्र चाहते थे। उन्होंने एक सामान्य केन्द्र की कल्पना की थी। यह केन्द्र गांव था। उसके बाद जिला प्रान्त और सारे देश के एक-से-एक बड़े एसे प्रत्येक वर्तुल हों परन्तु सबका केन्द्र-बिन्दु गांव ही होगा।

सच तो यह है कि पश्चिम के देशों में भी संसदीय लोकतन्त्र सब प्रकार से निर्दोष शासन-पद्धति सिद्ध नहीं हुई है। अनेक बार शासकदल सम्पन्नता के साथ लोकमत की उपेक्षा कर देता है और विरोधी दल निष्फल और बेकार बन जाता है। श्रीलंका के प्रधान मन्त्री ने एक बार कहा था कि आजकल कम विकसित देशों में हमें दूसरे प्रकार की शासन-पद्धति का विकास करना होगा जिसके अन्दर सारे राजनैतिक दलों का प्रतिनिधित्व हो और वे सब मिलकर राष्ट्र की विकास-योजनाओं को सफल बनावें। भारत की पंचायतों में इसी समन्वय की पद्धति से काम होता था। उसमें विरोधी दल नाम का कोई अलग दल नहीं होता था। हमारे जैसे आर्थिक दृष्टि से कम विकसित देश में विरोधी दल की पद्धति महंगी पड़ती। यह कहा नहीं जा सकता। यहां केवल विरोध के लिए विरोध की गुंजाइश नहीं है।

हमारे देश में ऐसे बहुत-से लोग और समूह हैं, जो प्रगति के और सामाजिक तथा आर्थिक विकास के मार्ग में सदा रोड़े अटकाने का काम करते रहते हैं ऐसे प्रतिक्रियावादी और समाज-विरोधी तत्त्वों से हमें हमेशा लड़ना पड़ता है और जब विरोधी दल अपने नजदीक के स्वार्थों को पूरा करने के लिए इन प्रगति-विरोधी तत्त्वों को बढ़ावा देने का यत्न करते हैं तब इन गलत प्रवृत्तियों को रोकने में हमें अपनी शक्तियां लगानी पड़ती हैं। इसका नतीजा यह होता है कि विकास की बहुत-सी योजनाओं पर बुरा असर पड़ता है और प्रगति की रफ्तार अकारण धीमी पड़ जाती है। यह कोई अच्छी बात नहीं कही जा सकती जबकि होना तो यह चाहिए कि देश में जितने भी धन-जन के साधन हैं, वे सब जनता की हालत सुधारने के काम में लग जाने चाहिए।

२१

मनुष्य और यन्त्र

आज भारत में मनुष्यों और यन्त्रों के बीच होड़-सी लगी हुई है। एक तरफ लाखों-करोड़ों लोग काम की और रोजी की मांग कर रहे हैं और दूसरी तरफ यहां के उद्योगपति और यन्त्रशास्त्री ऐसे यन्त्र लाने या बनाने की फिराक में हैं कि उन्हें मजदूरों पर अधिक निर्भर न रहना पड़े। यह सब विज्ञान और यन्त्र-शास्त्र की प्रगति के नाम पर हो रहा है। बहुद्देशी नदी घाटी योजनाओं के सिलसिले में देश में अनेक बांध बांधे जा रहे हैं। ईंट पत्थर के स्थान पर हम सीमेन्ट और कंकरीट का उपयोग कर रहे हैं। मनुष्यों की बेकारी और रोजी की दृष्टि से इन दो पद्धतियों में कितना फर्क पड़ जाता है, इसका हमारे इंजीनियर और यन्त्रशास्त्री शायद ही कभी ख्याल करते हैं। अगर चूने-पत्थर से काम लिया जाय तो योजनाओं में बहुत-से आदमियों को रोजी मिल सकती है। सीमेन्ट, कंकरीट की पद्धति में काम अवश्य जल्दी होता है, परन्तु भारत जैसे देश में जहां इतने सारे आदमियों को रोजी देने की समस्या है, यह पद्धति लाभदायक नहीं है। देश के विभिन्न भागों में हजारों नल-कूप (टयूब वैल) खोदे जा रहे हैं परन्तु इसके लिए मनुष्यों द्वारा चलाये जानेवाले यन्त्रों से काम लेने के बजाय अमरीका से अधिक चालित कीमती यन्त्र मंगाये जाते हैं। इनकी मदद से काम अवश्य जल्दी हो जाता है, परन्तु ये हजारों-लाखों लोगों को रोजी देकर इस महान् राष्ट्रीय प्रयास में भाग लेने का अवसर नहीं प्रदान कर सकते। गांवों के कारीगर अपने हाथ-करघे घानी ढेंकी कोल्हू और कपड़े की छपाई का काम आदि करके किसी प्रकार अपना पेट भरने का प्रयास करते रहते हैं परन्तु उद्योगपतियों से मानो यह देखा नहीं जाता। वे इन कामों के कार-खाने और मिलें खोलने के लिए नये-से-नये नमूने के यन्त्र मंगाते ही जा रहे हैं, जो इन गांवों के कारीगरों की रोजी छीनते जा रहे हैं। हमें बीड़ी के उद्योग से कोई प्रेम नहीं परन्तु यह आज लाख आदमियों को रोजी दे रहा है। अब बीड़ियां बनाने के लिए भी देश में ही नये यन्त्र तैयार होने लग गये हैं जिनको यदि पूरा मौका दिया गया तो गृहोद्योग में काम करनेवाले पांच

लाख आदमियों की रोजी पर वे पानी फेर देंगे।

मुख्य मुद्दे को साफ करने के लिए य तो केवल कुछ उदाहरण दिखाये हैं। यह समझना भूल है कि यन्त्र स्वयं कोई भली या बुरी चीज है। वह तो उसका सही या गलत उपयोग उसे ऐसा बना देता है। उदाहरण के लिए बटन बनानेवाले यन्त्रों को शायद कोई बुरा नहीं कहेगा। रेलें, मोटरें हवाई जहाज जैसे आवागमन के साधनों को हम सब अच्छा ही मानते हैं। परन्तु युद्धों में प्रहार के साधन हैं। मनुष्यों की हत्या के लिए इनका उपयोग करने की कोई सलाह नहीं देगा। परन्तु मुख्य बात तो है उत्पादन के साधनों की। ये दो प्रकार के होते हैं—मजदूरों की बचत करनेवाले और मजदूरों को काम देनेवाले। मजदूरों की बचत करनेवाले यन्त्र उन देशों के लिए अच्छे माने जाते हैं, जहां काम करनेवाले आदमियों की कमी है। परन्तु जहां लोग काम के अभाव में मजदूरी की हालत में महीनों बेकार रहते हैं वहां तो ऐसे यन्त्र संकट-स्वरूप ही होंगे। एक यन्त्र जो अमुक राज्य अमरीका में वरदान के समान माना जा सकता है वही भारत जैसे अविकसित देश में जहां पूंजी कम और मजदूर बहुत हैं, अभिशाप बन जायगा। हमारा अन्तिम साध्य तो मनुष्य का कल्याण है। जो यन्त्र मनुष्य को बगैर बेकार किये उसकी उत्पादन-क्षमता बढ़ा सकता है, वह अवश्य ही स्वागत योग्य होगा। परन्तु जो यन्त्र मनुष्यों को बेकार कर देते हैं अथवा उन्हें अपना गुलाम या जड़ पुर्जा बना देते हैं, वे कभी मनुष्य-समाज के लिए लाभदायक नहीं माने जा सकते। इसलिए हमें याद रखना चाहिए कि हमारी तमाम आर्थिक और औद्योगिक विकास की योजनाओं में मनुष्य का स्थान सर्वोपरि रहे।

आज भारत के सामने पूरी और आंशिक बेकारी की कठिन समस्या है। भारत के और बाहर के भी विशेषज्ञ इसके कई उपाय सुझाते हैं। परन्तु दिन-ब-दिन यह अधिकाधिक स्पष्टता के साथ अनुभव किया जा रहा है कि जबतक उत्पादन को विकेन्द्रित करके हम उसे गृहोद्योग ग्रामोद्योग और छोटे उद्योगों के स्तर पर नहीं ले जायंगे तबतक करोड़ों लोगों को हम अधिक काम नहीं दे सकेंगे। प्रसन्नता की बात है कि शासन ने ग्रामोद्योगों को अपनी आर्थिक नीति के एक आवश्यक अंग के रूप में मान लिया है। बड़े

पैमाने पर उत्पादन करनेवाले तमाम कारखानों में जिनमें कोई पन्द्रह करोड़ रुपयों की पूंजी लगी हुई है कुल मिलाकर तीस लाख आदमी काम कर रहे हैं। फिर भी जो लोग बड़े कारखाने खोलकर भारत की बेकारी की समस्या को हल करने के सपने देख रहे हैं—हम क्षणभर मान लें कि इसके लिए कहीं से पूंजी भी मिल जायगी—वे यह नहीं समझ पाते कि इन कारखानों में पैदा किये गए माल को खपाने के लिए हम बाजार कहां से लायेंगे ? बड़े कारखानों में तीसरी पाली खोलने की बात करना भी वृथा है, क्योंकि वह तो छोटे उद्योगों में भी किया जा सकता है। इस प्रकार केवल अर्थशास्त्र की दृष्टि से भी यह अत्यन्त आवश्यक है कि अपने देश के नागरिकों के लिए जीविका का साधन निर्माण करने के लिए शासन छोटे छोटे उद्योगों और ग्रामोद्योगों का अधिक-से-अधिक विस्तार करे। खादी का अर्थशास्त्र केवल कुछ गांधीवादियों की सनक नहीं है बल्कि हमारे संविधान के मार्ग-दर्शक सिद्धान्तों के अमल के लिए वह अनिवार्यतः आवश्यक है। तभी इस देश में शांति और लोकतन्त्र की रक्षा हो सकेगी। पूंजी के अभाव और इस भारी आबादी को लेकर यदि हम रूस और अमरीका जैसे अत्यन्त समृद्ध और अति विकसित देशों की नकल करने की कोशिश करेंगे तो वह हमारे लिए आत्मनाश का मार्ग होगा। हमारी समस्याएं चीन और जापान से अधिक मिलती-जुलती हैं जो छोटे और गृहद्योगों के घर हैं। गृहोद्योगों और ग्रामोद्योगों को केवल बातों से काम नहीं चलेगा। विकेन्द्रीकरण या मौत ये दो ही विकल्प हमारे सामने हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि ग्रामोद्योग तो घड़ी के कांटों को उलटे घुमाकर हमें पीछे को ले जायगे और आर्थिक विकास के मार्ग पर जा रहे प्रगति के पहियों का मुंह पलट देंगे। यह भी कहा जाता है कि विकेन्द्रित पद्धति से उत्पादन की मात्रा घट जायगी तथा हमारी सभ्यता का स्तर गिर जायगा। परन्तु ये सारी कल्पनाएं गलत हैं। यह सच है कि प्रारम्भ में कुछ समय हमें शायद कुछ मोटी मोटी चीजों से काम चलाना पड़े परन्तु इस युग में यान्त्रिक प्रगति इतनी तेजी से हो रही है कि विकेन्द्रित पद्धति के यन्त्र बहुत जल्दी उत्पादन कौशल और सुन्दरता में केन्द्रित पद्धति के यन्त्रों को पीछे डाल देंगे। औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ पत्थर के कोयले के उपयोग के

भाव हुआ। कोयले के कारण स्वभावतः इस औद्योगिक युग में कुछ केन्द्रीकरण अनिवार्य था परन्तु बिजली की शक्ति उपलब्ध हो जाने के कारण अब उद्योगों का विकेन्द्रीकरण करके उन्हें गांवों में ले जाया जा सकता है। अब शांति के लिए ऐटम की शक्ति उपयोग करने के प्रयोग शुरू हो गये हैं और हम आशा कर सकते हैं कि दस-बीस वर्षों में फिर औद्योगिक यन्त्रों की बनावट में एक जबरदस्त क्रान्ति आयेगी। हमें विश्वास है कि यह ऐटम की शक्ति उद्योगों को पूरी तरह से विकेन्द्रित कर देगी। सच तो यह है कि आधुनिक विज्ञान और यन्त्र-शास्त्र धीरे-धीरे केन्द्रित उद्योगों को अवैज्ञानिक बनाता जा रहा है और अब आनेवाले युग में विकेन्द्रित उत्पादन ही औद्योगिक विकास का वैज्ञानिक तरीका बन जायगा। यन्त्रों में आवश्यक सुधार हो जाने पर गृहोद्योगों और छोटे उद्योगों में तैयार होनेवाला माल भी बने माल बड़े उद्योगों में बने माल की अपेक्षा सस्ता पड़ेगा। अमरीका जैसे अत्यन्त उद्योग-प्रधान देश में भी अब उद्योगों को विकेन्द्रित करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। ऐटम के इस युग में अब राष्ट्र की रक्षा की दृष्टि से भी उद्योगों का विकेन्द्रीकरण जरूरी हो गया है। ऐटम के युद्धों में बड़े कारखानों पर बड़ी आसानी से बम डाले जा सकते हैं। मजदूरों और पूंजीपतियों के बीच के झगड़े भी विकेन्द्रीकरण में बड़े मजेदार हो सकते हैं, क्योंकि छोटे उद्योगों और गृहोद्योगों में यन्त्रों के मालिक और काम करनेवाले अलग अलग नहीं होते। कारीगर स्वयं यन्त्रों के मालिक होंगे। औद्योगिक सहकारी समितियां न केवल उत्पादन की दृष्टि से अधिक लाभदायक रहेंगी, अपितु समाज-कल्याण की दृष्टि से भी वे बहुत अच्छी रहेंगी।

तो अब निर्णय करने का समय आ गया है। अब इस बात को कल पर नहीं टालना चाहिए। अब गांधीजी के विचार की अर्थ-रचना को अपनाने के सिवा कोई चारा नहीं दिखाई देता। बेकारी, दरिद्रता और भूख हमारे सच्चे दुश्मन हैं। जबतक हम सारे देश में गृहोद्योगों, ग्रामोद्योगों और छोटे-छोटे उद्योगों का जाल नहीं बिछा देंगे इनसे छुटकारा नहीं होगा। स्थापित स्वार्थवाले उद्योगपति निश्चय ही इसका विरोध करेंगे क्योंकि तब शोषण के और मुनाफा कमाने के सारे रास्ते उनके लिए बन्द हो जायंगे, परन्तु यदि इस प्राचीन भूमि में लोकतन्त्र और शांति की रक्षा करनी है तो

उनकी बात मानने से हमें साफ इन्कार कर देना चाहिए। राजनीति में 'धीरे-धीरे' के लिए गुंजाइश नहीं होगी। संसार बड़ी तेजी से आगे बढ़ रहा है और हम निश्चिंत नहीं बैठ सकते। हमें बहुत जल्दी करनी चाहिए। प्रगति और स्वतन्त्रता का मूल है निरन्तर सावधानी। कल्याण राज्य का ध्येय है कि पहले अपने नागरिकों की भलाई का ध्यान करे। यन्त्रों को मनुष्यों का मालिक नहीं सेवक समझा जाना चाहिए। मनुष्यों की अपेक्षा यन्त्रों को यदि अधिक महत्व दिया गया तो उसका परिणाम होगा बरबादी और संकट।

२४

हमारी उद्योग-नीति

आज से कुछ साल पहले प्रधान मन्त्री ने भारत सरकार का उद्योग-नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव संसद में पढ़कर सुनाया था। यह प्रस्ताव अप्रैल सन् १९४८ में स्वीकृत किये गए प्रस्ताव से कहीं अधिक अच्छा था यद्यपि इसके भी आधारभूत सिद्धान्त तो वे ही थे। इस सम्बन्ध में यह याद रखना जरूरी है कि सन् १९४८ वाला प्रस्ताव देश के विभाजन के तुरन्त बाद और भारतीय संविधान के तथा पहली पंचवर्षीय योजना के बनने से पहले स्वीकृत किया गया था। पिछले कुछ वर्षों में देश के अन्दर बहुत-से महत्वपूर्ण परिवर्तन और घटनाएं हो चुकी हैं। भारत ने अपने राष्ट्र के सामाजिक और आर्थिक लक्ष्य के रूप में समाजवादी समाज-रचना को स्वीकार कर लिया है। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि उद्योग-नीति सम्बन्धी हमारे बाद के प्रस्ताव में सार्वजनिक क्षेत्र और सहकारी-समितियों पर अधिक जोर दिया जाए। सरकार के उद्योग-नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव के अनुसार उद्योगों को तीन वर्गों में बांट दिया गया है। पहले वर्ग में वे उद्योग आते हैं जिनके विकास की सम्पूर्ण जिम्मेवारी राज्य की होगी। दूसरे वर्ग में ऐसे उद्योग होंगे जिन्हें राज्य आगे चलकर आहिस्ता-आहिस्ता अपने हाथों में लेगा। इस क्षेत्र में नये-नये कारखानों की स्थापना करने का काम राज्य करेगा। परन्तु इसमें निजी उद्योगपति भी सरकार के प्रयत्नों में सहयोग देंगे। तीसरे वर्ग में शेष सारे उद्योग होंगे। इनके विकास की जिम्मेवारी और

भार पूर्णतः निजी उद्योगपतियों की बुद्धि और शक्ति पर छोड़ दिया जायगा। प्रस्ताव में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि यह वर्गीकरण बहुत सख्त न मान लिया जाय। एक वर्ग के उद्योग दूसरे वर्ग में शामिल किए जा सकेंगे। ऐसे भी कई उद्योग हैं जो दोनों वर्गों में गिने जा सकते हैं बल्कि उन्हें इस प्रकार सार्वजनिक और निजी दोनों क्षेत्रों में रखना ठीक भी होगा।

भारत सरकार ने अपने प्रस्ताव में गृहोद्योगों ग्रामोद्योगों और छोटे छोटे उद्योगों पर बड़ा जोर देते हुए कहा है कि राष्ट्र के साम्पत्तिक विकास में इनका हिस्सा महत्त्वपूर्ण होगा। इन उद्योगों में बहुत अधिक लोगों को तुरन्त काम दिया जा सकता है। इनकी मदद से राष्ट्रीय आय का निश्चित रूप से अधिक न्यायोचित वितरण भी हो सकता है और जो श्रम और पूंजी बेकार पड़े रहते उनका उपयोग हो जाता है। प्रस्ताव में यह भी साफ कर दिया गया है कि यद्यपि सरकार इन उद्योगों को आर्थिक सहायता करती रहेगी तथापि "राज्य की नीति यही होगी कि ये उद्योग इस प्रकार विकेन्द्रित कर दिये जायं कि वे स्वावलम्बी हो जायं और बड़े पैमाने के उत्पादनवाले उद्योगों के साथ इनका उचित सामंजस्य स्थापित हो जाय। इसके लिए यह जरूरी है कि उत्पादन के साधनों और प्रक्रिया में यथाधार सुधार करके उसे आधुनिक बना दिया जाय। फिर यह परिवर्तन भी इस प्रकार हो कि जिससे समाज में बेकारी बढ़ने नहीं पाये। छोटे-छोटे उद्योगों और ग्रामोद्योगों के विकास में भी सहकारी पद्धति बहुत बड़ी मदद कर सकती है। प्रस्ताव में यह भी बतलाया गया है कि जो अंग उद्योगों में पिछड़े हुए हैं अथवा जहां बेकारी अधिक है उनकी तरफ खास तौर पर अधिक ध्यान दिया जायगा।

इस प्रकार उद्योगों के सम्बन्ध में शासन की नीति को इस प्रस्ताव ने बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है। उससे बहुत-से लोगों की शंकाएं और गलतफहमियां दूर होगई होंगी और देश समाजवादी समाज की स्थापना की दिशा में अवश्य ही कुछ कदम आगे बढ़ा होगा। देश के आर्थिक संयोजन में बुनियादी भारी छोटे-छोटे तथा ग्रामों और घरों में चलाने लायक उद्योगों का स्थान कहां-कहां है, इसका सम्पूर्ण चित्र इस प्रस्ताव में दे दिया गया है। फिर सार्वजनिक अर्थात् सरकारी और निजी क्षेत्रों

न किन-किन उद्योगों का समावेश हो सकता है, यह भी इसमें बता दिया गया है। निजी क्षेत्र में सहकारी औद्योगिक संगठनों पर जो जोर दिया गया है वह भी स्वागत योग्य ही है।

परन्तु कुछ मुद्दे ऐसे हैं जिनकी तरफ सरकार का ध्यान खास तौर पर दिया जाना उचित होगा। सबसे पहले यह साफ कर देना जरूरी है कि हमारा बुनियादी उद्देश्य है अधिकाधिक उत्पादन के साथ-साथ बेकारी को पूरी तरह मिटाना और सम्पत्ति का न्यायोचित वितरण। इसलिए बुनियादी उद्योगों छोटे उद्योगों ग्रामोद्योगों और गृहोद्योगों के लिए तफसील वार कार्यक्रम बनाते समय अपनी नीति के तीनों मुद्दों को हम कहीं भुला न दें।

बुनियादी उद्योग हमारी आजादी की रक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक अतः अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इसमें दो मत नहीं हो सकते। परन्तु जहांतक उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन का सम्बन्ध है यह साफ है कि विकेन्द्रित पद्धति के उद्योगों को ही हमें प्रधानता देनी होगी। इनमें सूती और पशम कपड़े का उद्योग चावल के कारखाने तथा तेल और चीनी आदि के छोटे उद्योग होंगे। इन उद्योगों में न केवल ऊपरी खर्च की बचत होती है, अपितु इनसे देश के बेकार मनुष्यों की शक्ति का उपयोग हो जाता है और परिवहन के साधनों का बोझ भी हल्का हो जाता है। वे समाज के आत्म विश्वास और स्वावलम्बन को बढ़ाते हैं तथा उपभोग्य वस्तुओं का वितरण जल्दी-जल्दी करने में मददगार होते हैं। फिर गृहोद्योगों ग्रामोद्योगों और छोटे-छोटे उद्योगों के उपकरणों में भी सुधार तो करना ही होगा। इनमें आधुनिक खोजों का और शक्ति—ऐटम शक्ति का भी उपयोग हम अवश्य करना पसन्द करेंगे परन्तु एक शर्त पर। इन सुधारों से बेकारी नहीं होनी चाहिए। इस दिशा में अम्बर चरखा हमारा मार्ग-दर्शन कर रहा है। उसमें और भी प्रतिदिन नये-नये सुधार हो रहे हैं और हम आशा कर सकते हैं कि दूसरे छोटे छोटे और ग्रामीण उद्योगों में भी इस प्रकार के सुधार करने की प्रेरणा हमें उससे मिलेगी। सूती कपड़े के उद्योगपतियों ने अम्बर चरखे की आलोचना करते हुए कहा है कि यह तो राष्ट्रीय सम्पत्ति का एक प्रकार से

[मिलादी समस्याओं

और सिद्धान्तों के बारे में उनका अज्ञान प्रकट करती है। हमारी बुनियादी समस्याओं को हल करने का तरीका यह नहीं है। हमें हमें सद्भावपूर्वक और एक-दूसरे के दृष्टिकोण को ठीक तरह से समझकर हल करना चाहिए। श्री एकाम्बरनाथ द्वारा आविष्कृत सूत कातने के एक खास यन्त्र से अर्थात् अम्बर चरखे से हमारा कोई वास्ता लेना-देना नहीं है। उसके बदले किसी दूसरे यन्त्र को भी हम अपना सकते हैं, जो हमारी जरूरतों को और शर्तों को पूरी कर दे परन्तु मुद्दे की बात तो यह है कि हमारे राष्ट्रीय संयोजन में इस प्रकार के छोटे छोटे परन्तु अच्छा काम देनेवाले यन्त्रों का होना बड़ा जरूरी है, इतना तो स्वीकार कर लिया जाय।

दूसरी बात यह है कि अगले पाँच या दस वर्षों में देश से बेकारी को पूरी तरह से मिटाने की एक तफ्सीलवार योजना बना ली जाय। बड़े पैमाने पर केन्द्रित उत्पादन करनेवाले उद्योग और छोटे उद्योग इनमें से अधिक महत्व का किनको माना जाय इस विवाद को छेड़ना बेकार है। कभी-कभी पुराने विचार और संकीर्ण भावुकता की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार किया जाता है, परन्तु उससे कोई काम नहीं हो सकता उलटे उससे हमारे कार्य को हानि ही पहुंचने की सम्भावना है। हमारा मुख्य जोर तो है देती और उद्योगों की उपज बढ़ाने पर और सब लोगों को काम देने पर। अगर हमारे देश के उद्योगपति कोई ऐसी विस्तृत योजना बना सकते हैं कि जिसके द्वारा देश से बेकारी मिट जाय और साथ ही बाहर के बाजारों पर कब्जा करने के लिए दूसरे राष्ट्रों के साथ अनुचित होड़ भी न करनी पड़े तो उनकी योजना को हम मान लेंगे और छोटे उद्योगों तथा ग्रामोद्योगों पर इतना जोर नहीं देंगे। आचार्य विनोबा भावे ने तो यहांतक कह दिया है कि यदि केन्द्रित उत्पादन करनेवाले बड़े-बड़े कारखानों और उद्योगों के मालिक देश से बेकारी मिटा सकते हैं तो वे चरखे को जला देने के लिए तैयार हैं। इसका अर्थ यही है कि देश में छोटे-छोटे उद्योगों और ग्रामोद्योगों पर जो इतना जोर दिया जा रहा है उसकी जड़ में कट्टर-पन्थी मनोभाव नहीं है। असली और बुनियादी समस्या है जनता अर्थात् जन लोगों को पेट भर रोटी देने की जो अपना पसीना बहाकर काम करने के लिए तैयार हैं।

हमारे आर्थिक और औद्योगिक संयोजन का एक और महत्वपूर्ण पहलू

है, जिसकी हमें चिन्ता करनी चाहिए। वह है प्रशिक्षित आदमियों का। खुशी की बात है कि उद्योग-नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव में इसपर भी विचार किया गया है। उसमें कहा गया है कि उद्योगों के सार्वजनिक (शासकीय) क्षेत्र की जरूरतें बढ़ती जा रही हैं। इसी प्रकार छोटे-छोटे उद्योगों और ग्रामोद्योगों का भी विकास हो रहा है और इनके लिए शासन-व्यवस्था पदों और प्रशिक्षित कारीगर निर्माण कर ही रहा है। इसी प्रकार निरीक्षकों की भी जरूरत लगातार बढ़ती जायगी। सार्वजनिक क्षेत्रों तथा निजी उद्योगों का काम सीखने की इच्छा रखनेवालों के प्रशिक्षण की भी बहुत बड़े पैमाने पर व्यवस्था करने की जरूरत है। विश्वविद्यालयों तथा अन्य संस्थाओं में व्यापार-संचालन-सम्बन्धी प्रशिक्षण की भी व्यवस्था करनी होगी। इसके लिए आवश्यक कदम उठाये जा रहे हैं। हम आशा करें कि औद्योगिक विकास और शिक्षा में आवश्यक सुधार एवं इन दोनों में सामंजस्य स्थापित करने की ओर भी सरकार अधिक ध्यान देगी। कैसी अजीब बात है कि एक ओर तो शिक्षितों में बेकारी बढ़ रही है और दूसरी तरफ हमारी अनेक विकास-योजनाओं के लिए प्रशिक्षित आदमी नहीं मिल रहे हैं।

समाजवादी समाज के निर्माण की आप कोई भी योजना लीजिये उसमें निश्चय ही नौकरशाही के हाथों में संचालन-सत्ता चले जाने का बहुत बड़ा खतरा होता है। यद्यपि राष्ट्रीयकरण की कल्पना में एक हद तक सत्ता का केन्द्रीकरण होता ही है। फिर भी यह अत्यन्त आवश्यक है कि आर्थिक और राजनैतिक सत्ता को विकेन्द्रित करने की हर प्रकार से सावधानी रखी जानी चाहिए। अत्यधिक केन्द्रीकरण से लोकतात्रिक शक्तियां पनप नहीं पातीं और नौकरशाही जोरदार बन जाती है। इसलिए हमारे संयोजन को इन दो खतरों से बचा लेना बहुत जरूरी है। खुशी की बात है कि शासन के ध्यान में यह बात है, क्योंकि १९५६ के उद्योग-नीतिवाले प्रस्ताव में सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर भी खास तौर पर जोर दिया गया है। कहा गया है कि सार्वजनिक कामों में 'अधिक-से-अधिक आजादी' हो। परन्तु इतना ही काफी नहीं है। अपनी बुनियादी आर्थिक जरूरतें पूरी करने में हमारे गांव स्वावलम्बी रहें इसके लिए यह जरूरी है कि अपनी योजनाएं वे खुद ही बनावें

और शासन इसमें उन्हें हर तरह का प्रोत्साहन दे और मार्ग बताए। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, उद्योगों के अत्यधिक केन्द्रीकरण से न केवल व्यक्ति और समाज की बुद्धि और शक्ति का विकास रुक जाता है, बल्कि राष्ट्र की परिवहन-प्रणाली का बोझ भी बहुत अधिक बढ़ जाता है। इसलिए हमारी उद्योग-नीति के प्रयत्न में विकेन्द्रीकरणवाली बात कभी आंखों से ओझल न होने दी जाय और इस काम में ग्राम-पंचायतें तथा सहकारी उद्योग-समितियां निश्चय ही बहुत बड़ा काम कर सकती हैं।

२४
छोटे उद्योगों का अर्थशास्त्र

हाल ही में कुछ दिन हुए तब भारत में इंटरनेशनल प्लानिंग टीम—अन्तर्राष्ट्रीय संयोजन दल—आया था। उसने भारत के छोटे उद्योगों की जांच की। इसके प्रतिवेदन ने देश में फैली हुई पूरी और आंशिक बेकारी की समस्या को हल करने के उपाय के रूप में शासन और उद्योगपतियों का ध्यान एक बार फिर छोटे और गृहोद्योगों पर केन्द्रित कर दिया। प्रतिवेदन का यह कथन सही है कि भारत में अपने उद्योगों के लिए घर में ही काफी अच्छा बाजार है और यह "संसार के उत्तम बाजारों में से एक है।" इन विदेशी विशेषज्ञों ने साफ कहा है कि छोटे उद्योगों का विकास बहुत-बहुत कल्पनातीत धीमा है। इस अध्ययन-मनन पर मुख्यतः यह असर पड़ा है कि छोटे उद्योगों के विकास के धीमेपन का बुनियादी कारण प्रबन्ध का दोष है। इस कारण एक तो उनमें इस युग के अनुकूल उत्पादन-क्षमता नहीं आ पाई है और दूसरे उत्पादन के उपकरणों में या तो यहां के लोग सुधार करना नहीं चाहते या कर ही नहीं सकते। इस संयोजन दल का सुझाव है कि विविध छोटे उद्योगों के प्रशिक्षण के लिए शिक्षालय खोले जाने चाहिए।

विदेशी विशेषज्ञों ने छोटे उद्योगों में सुधार के सम्बन्ध में जो सिफारिशें की हैं उनका जरा बारीकी से परीक्षण करना उचित होगा। प्रतिवेदन में कहा गया है कि जबतक छोटे उद्योगों के उपकरणों में यथेष्ट सुधार नहीं किया जायगा इस यांत्रिक युग की प्रतिस्पर्धा में इसमें काम करनेवाले कारी-

गरों और कलाकारों के प्रयास बेकार जायेंगे। जबतक इन कारीगरों को अधिक चीजें और अधिक सम्पत्ति पैदा करने के साधन उपलब्ध न कर दिये जायेंगे तबतक न तो इनकी मजदूरी बढ़ सकती है और न इनकी रहन-सहन का स्तर ही ऊंचा हो सकता है। आप जिसको पैदा ही नहीं करते उसका विभाजन-वितरण कैसे करेंगे? विशेषज्ञों ने कहा है "सुधार को आप रोकेंगे और समय के साथ चलने से इन्कार करेंगे तो यह गलत होगा। इससे छोटे उद्योगों की सारी प्रगति रुक जायगी। वे पिछड़ जायेंगे। उनकी यह भी राय है कि आधुनिक सुधारों से कारीगर बेकार नहीं होंगे बल्कि उनके लिए काम के नये-नये क्षेत्र खुलेंगे। यंत्रों और उपकरणों में सुधार करने से चीजें अच्छी और अधिक तादाद में बनने लगेंगी। उनकी कीमतें घटेंगी तब माल की खपत बढ़ेगी और इससे अधिकाधिक कारीगरों की मांग होगी। फोर्ड फाउण्डेशन टीम के इन विचारों का जरा गहराई से परीक्षण करने की जरूरत है। हमें पता नहीं कि ये लोग अखिल भारत ग्रामोद्योग संघ के प्रधान केन्द्र पर गये थे या नहीं और इन्होंने गांधीजी के विचारों को समझने का यत्न भी किया था या नहीं। जहांतक हमें पता चला है, ऐसा कोई प्रयत्न इन्होंने नहीं किया है। यह दुर्भाग्य की बात है। विदेशी विशेषज्ञों के ज्ञान से लाभ उठाकर उत्पादन की प्रक्रियाओं में हम सुधार करना जरूर चाहते हैं, परन्तु यदि ये विशेषज्ञ यहां यह ख्याल लेकर आते हों कि गांधी जी अथवा उनके साथियों ने इस विषय में पिछले वर्षों में कुछ भी नहीं सोचा है तो वे बड़ी भूल करते हैं।

हम पहले ही बता चुके हैं कि स्वयं गांधीजी यन्त्रों के विरोधी नहीं ।वह चरखे में सुधार करना चाहते थे और इसके लिए उन्होंने अच्छे-अच्छे ाम भी घोषित किये थे। भारत के ग्रामोद्योगों में क्या-क्या सुधार हो कते हैं इसके लगातार प्रयोग वह वर्षों में करते रहते थे। इससे सिद्ध है कि ह यन्त्र-कला अथवा इसमें अच्छे-से-अच्छे आधुनिक सुधारों के विरुद्ध नहीं ।। वह विरुद्ध थे यन्त्रों के पागलपन के और मजदूरों की बचत करने के, ासकर भारत जैसे देश में जहां पूंजी तो है कम और मजदूर हैं बहुत। वह से यन्त्रों का स्वागत करते थे जो गांवों में—झोंपड़ों में रहनेवाले करोड़ों ोगों के श्रम को हलका कर सकें। बिजली के उपभोग के भी विरुद्ध वह नहीं

थे। उन्होंने कहा था "अगर हमें गावों के हर घर में बिजली मिल सकती है और ग्रामीण अपने घरों में बैठकर बिजली से अपने औजार चला सकें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी।" इन सारी बातों में सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है मनुष्य। वह बेकार न रहे। यह सच है कि हमें देश का कुल उत्पादन बढ़ाना है तो निश्चय ही उत्पादन के तरीकों में सुधार तो करना ही होगा। परन्तु केवल उत्पादन बढ़े और लोगों की आय अर्थात् रोजी और खरीदने की शक्ति न बढ़े तो इससे हमारी मूल समस्या हल नहीं होगी। इसलिए हमारा उद्देश्य है सबको काम देना अर्थात् बेकारी का निर्मूलन और अधिकतम उत्पादन। फिर यह भी हमें याद रखना चाहिए कि अपने माल को खपाने के लिए हम बाहर के बाजारों पर बहुत अधिक निर्भर नहीं रह सकते। यह तो तभी सम्भव होगा जब हमारे उत्पादनों के साधनों में अधिक पूंजी की अपेक्षा अधिक मजदूरों को काम दिया जा सके।

इसलिए यान्त्रिक सुधार और आधुनिकीकरण के हम विरुद्ध नहीं हैं। मुद्दे की बात यह है कि छोटे उद्योगों और गृहोद्योग में उत्पादन के साधनों के सुधारों की धुन में हम कहीं अपनी मर्यादाओं को न भूल जायं नहीं तो हम नई समस्याएं खड़ी कर लेंगे। इसलिए यान्त्रिक सुधार भी किस प्रकार का और किस हद तक हो, यह देश-देश में और एक ही देश के विभिन्न प्रदेशों में वहां की परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग यह देखना होगा। अमरीका और रूस में मनुष्य कम हैं। भारत में मनुष्य अधिक हैं। अतः उत्पादन के साधनों में वहां जो सुधार होंगे उनका हेतु होगा मनुष्य की बचत करना किन्तु हमारे यहां वे ही यान्त्रिक सुधार उपयोगी और लाभदायक होंगे जो श्रम बचाकर अधिक मनुष्यों को काम दे सकें। स्वयं भारत में भी जो अम्बर राजस्थान के लिए उपयोगी होगा वह बाबचकोर-कोचीन में काम नहीं देगा क्योंकि राजस्थान में आबादी विरल है और बाबचकोर कोचीन में घनी। इसलिए आधुनिक यान्त्रिक सुधारों के उपयोग में बड़ी सावधानी सम्यक्त्व और सशोधन की जरूरत है। उसमें वैज्ञानिक प्रगति और बेकारी का अनुपात का ध्यान रखना पड़ता है।

अतः सरकार को अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग बोर्ड की प्रवृत्तियों और प्रयोग तथा लघु छोटे उद्योगों के बोर्ड की प्रवृत्तियों में साम

मेल और सहयोग स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए, अन्यथा या तो प्रत्येक जगह वही काम होगा या संघर्ष पैदा होगा। यह काम हमें अपने दिल और दिमाग को खुला रखकर करना होगा। किसी भी बात को कट्टरता के साथ पकड़कर बैठने से काम नहीं चलेगा। हमारी दृष्टि वैज्ञानिक और युक्तिसंगत हो। साथ ही वास्तविकता को भी न भूलें। न तो पुरानी बात का आग्रह रखें न नवीनता की जिद करें। यह आत्मघातक होगा।

२६

मिलें हाथकरघे और खादी

कपड़ा उद्योग जांच-समिति (टेक्सटाइल इन्क्वायरी कमेटी) के प्रतिवेदन का सार यह है कि अब मिलों में बुनाई के क्षेत्र का अधिक विस्तार नहीं किया जाना चाहिए। अनुमान है कि सन् १९६ के करीब फी आदमी १८ गज की वार्षिक मांग के हिसाब से देश में कुल ७२ करोड़ गज कपड़े की जरूरत होगी। इसके अतिरिक्त १ करोड़ गज कपड़ा निर्यात के लिए और हमारी अपनी जरूरतों के लिए यदि १६ करोड़ गज कपड़ा हम और मिल लेते हैं तो समिति का सुझाव है कि बेकारों को काम देने के लिए तथा पूंजी की बचत के लिए भी इसके अतिरिक्त कपड़े की पूर्ति हमें कपड़े के विकेन्द्रित उद्योग के द्वारा कर लेनी चाहिए। हाथकरघों को अधिक कार्यक्षम बनाने के लिए समिति की राय है कि उन्हें 'शक्ति' द्वारा चलाने की व्यवस्था कर लेनी चाहिए। अन्तिम कल्पना यह है कि पन्द्रह-बीस वर्ष के बाद लगभग सारे हाथ-करघे सुधरे हुए करघों में अर्थात् शक्ति-चालित विकेन्द्रित करघा-उद्योग में बदल जायंगे। बहुत अच्छे और सुन्दर कलामय नमूनों के कपड़े बनाने के लिए कोई १ करघे हाथ से ही चलते रहेंगे। इस सम्बन्ध में इस समिति का अनुमान है कि शक्ति के उपयोग के कारण लगभग २ कारीगर हर वर्ष बेकार होंगे। ऊपर जो १६ करोड़ गज के अतिरिक्त कपड़े का जिक्र आया है, उसके लिए अधिक सूत की भी जरूरत होगी। यह सूत पैदा करने के लिए १७.१ लाख अतिरिक्त तकुए (मिल के) लगाने होंगे जिनकी पूर्ति २ तकुएवाली बन सूत मिलें खड़ी करके या १ तकुएवाली १ सूत-मिलें खड़ी करके की

जा सकेगी। यह भी सुझाया गया है कि गृह-उद्योग में स्थापित सहकारी पद्धतिवाली कुछ मिलें बनाने से भी इस जरूरत की पूर्ति की जा सकती है। समिति की निश्चित राय है कि रंगीन साड़ियाँ बनाने का काम पूरी तरह से हाथकरघा उद्योग के लिए ही सुरक्षित रहे। केवल बनावट की सुविधा के ख्याल से ही नहीं बल्कि "कमजोर विभाग को जीवित रखने के ख्याल से भी यह अत्यन्त जरूरी है। हाथकरघों पर बने कपड़े की कीमतों को मिलों में बने कपड़े की कीमतों के बराबर लाने के लिए एक सुझाव यह था कि मिलों पर अतिरिक्त या उत्पादन कर लगा दिया जाय परन्तु समिति ने इसे 'व्यावहारिक' नहीं बताया। फिर भी समिति इस नतीजे पर पहुँची है कि "हाथकरघे और शक्ति चालित करघों को इस समय जो कर लाभ दिया गया है, वह अभी अवश्य जारी रहे। यह भी कहा गया है कि "हाथकरघों द्वारा मलमल वायलों आदि की बुनाई पर रोक नहीं लगाई जाय।

कपड़े के मिल-उद्योग के बारे में समिति की राय यह है कि "हर साल ५ सादे करघे हटाकर उनके स्थान पर नये अपने-आप चलनेवाले (आटोमेटिक) करघे लगाने की इजाजत दी जाय। इस गति से बीस वर्ष में वर्तमान करघों की संख्या में से आधे करघे नये हो जायेंगे। समिति ने हिसाब लगाया है कि इस सुधार के फलस्वरूप प्रतिवर्ष ४ बुनकर बेकार होंगे—यदि मान लें कि एक कारीगर साधारणतः ११ नये करघों को चला सकता है। समिति की सिफारिश यह भी है कि "मिलों में कपड़े का उत्पादन ५ करोड़ गज के करीब सीमित कर दिया जाय और यह कि योजना-काल की अवधि में मिलों में सादे अथवा सुधरे हुए नये करघे कहीं नहीं बढ़ाये जायँ। समिति ने आगे कहा है कि सूत की मिलों का सम्बन्ध सीधे हाथकरघों से कर दिया जाय।

समिति का प्रतिवेदन पढ़कर सन्तोष भी होता है और निराशा भी। सन्तोष इस बात पर कि समिति मिलों में करघे बढ़ाने की सलाह नहीं देती। यह भी सन्तोष की बात है कि हाथकरघों के लिए जो क्षेत्र सुरक्षित कर दिया गया है उसे भी यह मंजूर कर लेता है और भी मानती है कि गज के हिसाब से जितने भी अधिक कपड़े की जरूरत हो वह सब विकेन्द्रित

प्रकृति से ही बने। मिलों और हाथकरघों के सुधार के कार्यक्रम को समिति ने पन्द्रह से बीस वर्ष की अवधि में फैला दिया है। हेतु यह है कि "लोगों को रोजी मिलती रहे और सामाजिक तथा आर्थिक उथल-पुथल एकाएक न हो। परन्तु निराशा इस बात पर हो रही है कि उसने समस्या को सही तौर पर समझकर साहस के साथ उसे सुलझाने की हिम्मत नहीं दिखाई। पंचवर्षीय योजनाओं की प्रगति के बारे में जो ताजे-से-ताजे समाचार आये हैं, उनसे ज्ञात होता है कि देश में बेकारी अधिकाधिक गम्भीर रूप धारण करती जा रही है। अतः आज सबसे जरूरी प्रश्न यही है कि इन लोगों को काम क्या दें? सूती कपड़े का उद्योग हमारे बड़े सुसंगठित उद्योगों में से एक है। यह एक ऐसी चीज पैदा करता है जिसकी मांग सर्वत्र है। अतः हमें आशा तो यह थी कि यह कमेटी ऐसी कोई योजना सुझायेगी जिसके द्वारा खादी और हाथकरघों का व्यापक विस्तार करके देश के अधिकाधिक बेकारों को रोजी दी जा सकेगी। इसके विपरीत यह तो उलटे २४ और अधिक कारीगरों को बेकार करने की योजना सामने रख रही है और वो भी क. वर्षों में ५ करोड़ रुपये हमारी देश से निकालकर। समिति का अनुमान है कि देश में कुल १२ लाख हाथकरघे काम कर रहे हैं। हमें यह संख्या सही नहीं लगती। समिति की राय है कि अब हाथकरघों की संख्या को बढ़ाना उचित नहीं होगा। इसलिए कपड़े की बढ़ी हुई मांग को पूरी करने के लिए इन्हें शक्तिचालित करघों में बदल देना चाहिए। हमने आशा की थी कि प्रतिवेदन में शहरों और गांवों में फैली हुई बेकारी पर खास तौर पर विचार किया जायगा और उसे दूर करने के उपाय के रूप में हाथ कताई और खादी के पहलू पर विशेष जोर दिया जायगा। परन्तु यह कुछ नहीं हुआ। साइक्लोस्टाइल पर छपे बासीस पृष्ठ की छोटी-सी रिपोर्ट तैयार करने में समिति ने बाईस महीने लगा दिये और अब वह सिफारिश करती है कि 'कुछ दरिद्र लोगों को रोजी मिलती रहे इस हेतु से कुछ समय तक हाथकताई जारी रखनी ही पड़ेगी।' इसलिए खादी के प्रश्न पर विचार करने के लिए अलग समिति की नियुक्ति करना उचित होगा। यह तो जले पर नमक छिड़कनेवाली बात है।

याद रहे कि हमारे सामने आज मुख्य समस्या है मानवता की। देश

के अन्दर काम करने लायक जितने भी मनुष्य हैं, उन्हें उपयोगी काम मिलना ही चाहिए। यह उनका हक है। हमारे संविधान ने भी इस मौलिक अधिकार को माना है। पूर्व और पश्चिम के तमाम प्रगतिशील देशों ने माना है कि अपने नागरिकों को रोजी कमाने का साधन उपलब्ध कर देना उनका कर्तव्य है और यदि वे यह नहीं कर सकते तो जो बेकार हैं, उन्हें बेकारी का पर्याप्त मासिक भत्ता दें। परन्तु ऐसे निर्वाह-व्यय देने की अपेक्षा कहीं अच्छा मार्ग है उन्हें उपयुक्त काम देना। जो मनुष्य बगैर परिश्रम के खाता है उसकी नैतिक हानि तो होती ही है, परन्तु शारीरिक और मानसिक हानि भी होती है। आधुनिक आर्थिक संयोजन का बुनियादी उद्देश्य है बेकारी मिटाना। इसलिए हमारे संयोजकों को चाहिए कि वे ऐसी आर्थिक और औद्योगिक योजनाएं बना लें कि जिससे बड़े छोटे ग्रामोद्योगों और गृहोद्योगों में उत्तरोत्तर अधिकाधिक आदमियों को काम दिया जा सके। यन्त्रों में सुधार करने के विरुद्ध हम नहीं हैं। परन्तु सारे सुधारों की बुनियाद में इतनी तो बुद्धि हो कि वे उस देश की परिस्थितियों के अनुकूल हों। इस दृष्टि से देखें तो कहना होगा कि कपड़ा-उद्योग जांच-समिति इस विशाल देश में फैली व्यापक बेकारी को दूर करने के हेतु से सारी समस्या को नहीं देख सकी है।

२७
यान्त्रिक सुधारों का अर्थशास्त्र

पहले महायुद्ध के बाद जर्मनी को अपने सब उद्योग जो नष्ट हो गये थे फिर से खड़े करने पड़े। इस बार उसने बड़ी सावधानी से काम लिया और अमल तथा माल की बरबादी बगैरा के जो-जो दोष पहले थे सबको दूर किया। इस प्रक्रिया का नाम है रैशनलाइजेशन। युद्ध के बाद के काल में यह सुधार एक नया शास्त्र ही बन गया। वर्तमान अर्थशास्त्र की भाषा में रैशनलाइजेशन का अर्थ होता है नये-नये आविष्कारों का उपयोग व्यवस्था में वैज्ञानिक सुधार और प्रक्रियाओं का समन्वय। इस शब्द का संकुचित अर्थ करके इसे आम तौर पर बुरा करार देना अनुचित होगा। औद्योगिक प्रश्नों को हर आदमी बुद्धि की कसौटी पर कसने का यत्न रैशन

लाइजेशन करता है। इसलिए इसको एकदम बुरा कहना भूल होगी परन्तु हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इस क्रिया—रैशनलाइजेशन—का हम अच्छा और गलत उपयोग तो नहीं कर रहे हैं ? इसका अर्थ केवल इतना है कि हम अपने आर्थिक और औद्योगिक प्रश्नों को जिनका रूप हर देश और प्रदेश में बदलता रहता है वैज्ञानिक की दृष्टि से हल करने का यत्न करें। रैशनलाइजेशन का अर्थ अमरीका जैसे एक देश में जहां विपुल धन है और मजदूरों की कमी है एक हो सकता है और दूसरे भारत जैसे देश में जहां पूंजी कम और मजदूर खूब हैं बिल्कुल दूसरा हो सकता है। इसलिए अमरीका के ढंग का रैशनलाइजेशन भारत में करने की बात करना बिल्कुल बुद्धिहीनता की बात होगी।

भारत में आर्थिक संयोजन करनेवालों के सामने सबसे बड़ी और बुनियादी समस्या है। शहरों और गांवों की बेकारी—पूरी और आंशिक भी। सच तो यह है कि यह जन-शक्ति ही हमारे राष्ट्र की पूंजी है, जिसका उपयोग हमें राष्ट्रीय सम्पत्ति बढ़ाने में अधिक-से-अधिक कर लेना चाहिए। इसलिए *गांधीजी प्रत्यक्ष यन्त्रों के नहीं यन्त्रों के अविचारपूर्वक उपयोग के* विरुद्ध थे। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन के डाइरेक्टर श्री डेविड मोर्स ने सन् १९५१ के अपने प्रतिवेदन (रिपोर्ट) में लिखा है 'संयुक्त राज्य अमरीका और कैनेडा जैसे देशों में जिस प्रकार के कीमती और मजदूरों की बचत करनेवाले यन्त्रों का उपयोग किया जाता है, उनका उपयोग करने का प्रयत्न ऐसे देशों में करना अनुचित होगा जहां मजदूर बहुत हैं किन्तु पूंजी की कमी है। इसलिए भारत जैसे देश में औद्योगिक पुनः संगठन के लिए उपयुक्त नीति तो सबको पूरा काम देकर अधिक-से-अधिक उत्पादन लेने की ही होगी। अधिक लोगों को काम देकर फी मजदूर उत्पादन बढ़ाने का ध्यान न रखना हानिकारक है। कम विकसित देशों के लिए यह मूल धात्मनाश का कारण होगी। इसी प्रकार अपने देश के बेकारों और आंशिक बेकारों को काम देने का ध्यान न रखकर केवल औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने का ही ख्याल करना भी राष्ट्र के प्रति सबसे बड़ा अपराध होगा। इसलिए हमारी आर्थिक बीमारी का सही उपाय तो यही होगा कि हम अपने सब आदमियों को पूरी रोजी दें और उनसे पूरा-पूरा उत्पादन भी लें।

यह ख्याल करना गलत है कि फी आदमी अधिक उत्पादन केवल बड़े बड़े कारखानों में ही सम्भव है। वास्तव में आज विज्ञान और यन्त्रों ने इतनी प्रगति हो गई है कि आज तो केन्द्रीकरण अत्यन्त अवैज्ञानिक माना जाता है। औद्योगिक क्रान्ति के युग में बड़े-बड़े कारखाने इसलिए बनाये गये कि तब शक्ति के लिए कोयले पर निर्भर रहना पड़ता था। अब तो बिजली की शक्ति हमें मिल गई है। अतः विकेन्द्रीकरण न केवल सम्भव अपितु उचित और आवश्यक भी हो गया है। और यदि आनेवाले दस-बीस वर्षों मे उद्योगों और नागरिकों की सेवा के कामों के लिए ऐटम की शक्ति मिलने लग गई तब तो उद्योगों का विकेन्द्रीकरण अनिवार्य हो जायगा। आणविक शक्ति के युग मे बड़े-बड़े यन्त्रों से काम लेना विज्ञान का अपमान और मूर्खता होगी। हम तो एक कदम और भी आगे जायगे। विज्ञान के इस युग मे भी केवल उत्पादन बढ़ाने के लिए मजदूरों की किफायत करनेवाले यन्त्रों का अत्यधिक उपयोग करना भी अत्यधिक मूर्खतापूर्ण बल्कि मनुष्य हीनता की बात है। कितनी चकित कर देनेवाली बात है कि औद्योगिक उत्पादन में इतनी अधिक सफलता प्राप्त कर लेने पर भी आज अमरीका मे पैंतीस लाख आदमियों को काम के अभाव में घरबैठे बेकारी का भत्ता लेना पड़ रहा है। भिक्षा पर निर्भर इन गरीबों की हालत बड़ी दयनीय है। इसमें उनके शरीर और मन की हानि तो है ही परन्तु चरित्र और आत्मा की भी इससे हानि है। इसलिए भारत में कुछ लोगों को भिक्षा या भत्ता देने की अपेक्षा अर्थ-व्यवस्था और उद्योगों को विकेन्द्रित करके उन्हें सम्मानयुक्त रोजी देना बहुत अच्छा होगा। हम यान्त्रिक प्रगति और कार्यक्षमता को बढ़ाने के विरुद्ध नहीं हैं, यदि वे मनुष्य की प्रगति और सेवा में सहायक होती है। केवल यन्त्रो की सहायता से होनेवाले उत्पादन की कीमत का हिसाब करते समय उसके कारण समाज में फैलनेवाली बेकारी से मनुष्यों को जो कष्ट और उनका पतन होता है, उसको नहीं भुला चाहिए। यह समाज की बहुत बड़ी हानि है। यान्त्रिक प्रगति से धन भले ही बढ़ता हो परन्तु मनुष्य की हानि और पतन भी तो होता है। उसका हिसाब लगाना नहीं भूलना चाहिए।

आजकल पूंजी बढ़ाने के बारे में बड़ी चर्चा सुनाई देती है। अर्थशास्त्र

के विशारद कहते हैं कि पिछड़े हुए समाज का आर्थिक विकास पूंजी के बगैर सम्भव नहीं जिसकी उद्योगों के लिए बड़ी जरूरत होती है। बेशक यह एक बहुत बड़ी हद तक सही है परन्तु इसे अर्थशास्त्र की स्थ सिद्धान्त नहीं बना लिया जाना चाहिए। मैं तो मानता हूं कि पूंजी बढ़ाने की अपेक्षा भारत के बेकार पड़े मनुष्य-बल का विकास-कार्यों में उपयोग करने के लिए एक संगठन बना देना कहीं अधिक आवश्यक है। जाहिर है कि इस बेकार पड़े मनुष्य-बल का उपयोग करने के लिए भी कुछ पूंजी की जरूरत तो होगी ही। फिर भी इसमें कोई शक नहीं कि इस देश में हमारी असली पूंजी तो यह मनुष्य-बल ही है जिसका नये भारत के निर्माण में बहुत अच्छी तरह से उपयोग किया जा सकता है। इसलिए पूंजी बढ़ाने की बातें करने की अपेक्षा श्रम-शक्ति का संगठन और उपयोग करने की चिन्ता करना कहीं अधिक लाभदायक होगा। हमारे उद्योगपतियों और अर्थशास्त्र-विशारदों ने पूंजी के प्रश्न को नाहक हौवा बना रक्खा है। स्पष्ट चिन्तन और विचार-प्रचार द्वारा इस हौवे को जितनी जल्दी भगा दिया जाय उतना ही भला है।

कहा जाता है कि हमारी अर्थ-रचना मिश्रित है और इसमें निजी क्षेत्र को अपने विकास के लिए खूब मौका दिया जाना चाहिए। यह भी कहा जाता है कि ऐसी मिश्रित अर्थ-रचना में रैशनलाइजेशन अनिवार्य है। सच पूछिये तो यह मिश्रित अर्थ-रचनावाला प्रयोग ही हमें तो नहीं जंचता। इसमें अनिश्चय और स्पष्ट चिन्तन का अभाव प्रकट होता है। हम जिस मार्ग पर चलना चाहते हैं, उसके लिए सही शब्द तो होगा सन्तुलित अर्थ-व्यवस्था या मध्यम मार्ग। हम दोनों छोरों को अर्थात् पूंजीवाद और अधिनायकवाद (टोटैलिटेरियनिज्म) को छोड़कर मध्यम मार्ग ग्रहण करना चाहते हैं अर्थात् उपभोग्य वस्तुओं के लिए विकेन्द्रित उद्योग और बुनियादी अथवा बापू-उद्योगों का राष्ट्रीयकरण। हमें रत्ती भर भी शंका नहीं है कि वर्तमान स्थिति में भारत के लिए यह सन्तुलित उद्योग-पद्धति ही सबसे अच्छी व्यवस्था रहेगी। परन्तु जिद्दी आलोचक जरूर कहेगा "गृहोद्योगों को बढ़ावा देकर आप तो दरिद्रता का बंटवारा करना चाहते हैं। और उद्योगपतियों ने तो गृहोद्योगों की निन्दा करने के लिए इस शब्द प्रयोग को अपना नारा ही बना

किया है। परन्तु इस अनुचित और अन्यायपूर्ण आरोप का हम बहुत जोर के साथ प्रतिवाद करेंगे। यन्त्र-शास्त्र में की गई प्रगति का लाभ यदि गृह-धन्धों और ग्रामोद्योगों को दिया जाय तो निश्चित ही उनकी कार्य-क्षमता और उत्पादन-क्षमता काफी अधिक बढ़ाई जा सकती है। हेनरी फोर्ड के समान संसार प्रसिद्ध उद्योगपति ने भी स्वीकार किया है कि "बड़े कारखाने आम तौर पर आवश्यक नहीं होते।" इसलिए "केवल वस्तुओं की कीमतें घटाने के लिए ही नहीं बल्कि उत्पादन में बचनेवाला धन गांवों में उत्पादकों को बांटने के लिए भी बड़े-बड़े उद्योगों को तोड़कर गांवों में ले जाना चाहिए।" जो हो आज हमारे देश में कॉकटेल पार्टियों स्वागत समारोहों और महलों के समान आलीशान इमारतों के रूप में धन का जो मूर्खतापूर्ण प्रदर्शन किया जा रहा है, उसे एकदम बन्द करने के लिए हम तो बहुत आग्रहपूर्वक कहेंगे कि गरीबी का भी बराबर बंटवारा हो। जबकि हम गांधीजी के सपने का नया भारत बनाने जा रहे हैं, गरीबों और अमीरों के बीच इस चौड़ी खाई को हम कदापि बरदाश्त नहीं कर सकते।

२

हमारी श्रम-नीति

केन्द्रीय श्रम-मन्त्री श्री गुलजारीलालजी नन्दा ने कुछ दिन पहले संसद में कहा था कि सरकार कोई समिति बनाना चाहती है जो इस बात का पता लगाती रहेगी कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में काम करनेवाले मजदूरों के सम्बन्ध में जो कानून बनाये जाते हैं उनका पालन कैसे हो रहा है। उन्होंने यह भी बताया कि झगड़े निपटाने और समझौता कराने के काम को अधिक शक्ति देने के लिए उनका मन्त्रालय इस बात के प्रयत्न को बढ़ा रहा है और श्रमिकों की मजदूरी सामाजिक सुरक्षा और आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए उनका मन्त्रालय बहुत कुछ करना चाहता है। परन्तु आर्थिक कठिनाइयां उनके कदमों को रोकती रहती हैं। श्री सन् १९ के बाद मजदूरों के वेतन ... प्रतिशत की वृद्धि हो गई है परन्तु यदि १९३९ से लिये गए वेतन ... तक का उनकी वृद्धि केवल तीन प्रतिशत ही हुई है।

... में बताया ... वर्तमान आवश्यकताओं के श्रम पर भी उत्पादन

ो बढ़ाया जा सकता है और यदि ऐसा हो सका तो आज देश को जिन
ठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, वे नहीं रहेंगी। उन्होंने यह भी
हा कि जब मजदूर उत्पादन बढ़ा देंगे और साथ ही अनुशासन की रक्षा
ी करेंगे तब वे समाज से वाजिब पारिश्रमिक की माग भी कर सकेंगे।
मजदूरों की आकांक्षाओं को पूरी करने में लोकमत का भी प्रभाव तो पड़ेगा
ही। इसलिए मजदूरों के संगठनों को लोकमत को अपने विपक्ष में नहीं जाने
देना चाहिए। उन्हें जनता की नजर में यह ला देना चाहिए कि वे उसके
लिए क्या कर रहे हैं।

सारी बात का सार यह है कि अपने अधिकारों के साथ-साथ मजदूरों
को अपने कर्तव्यों का भी ध्यान रखना चाहिए। दुर्भाग्य की बात है कि
अधिकांश मजदूर-संगठन केवल अधिकारों पर ही अधिक जोर देते हैं और
उत्पादन बढ़ाने की परम आवश्यकता का ख्याल नहीं करते। जबतक वेतनों
का सम्बन्ध आवश्यक रूप से उत्पादन के साथ नहीं जोड़ दिया जाता तब
तक सर्वसाधारण जनता की सहानुभूति और सहयोग मजदूरों के साथ नहीं
हो सकती। और वही तो उपभोक्ता है। हमारा सुझाव है कि मजदूरों के
नेताओं और शासन को मिलकर उद्योगों में वेतन का आधार समय के बदले
काम को अधिक बना देना चाहिए। बहुत-से देशों में यह पद्धति प्रचलित है
भी। इससे कुशल और समझदार मजदूर अधिक काम कर सकेंगे और देश
की समृद्धि को बढ़ा सकेंगे। भारत-जैसे कम विकसित देश में यह और भी
जरूरी है कि उद्योगों में तथा खेती में भी वेतन काम के ऊपर आधारित
कर दिया जाय। हम आशा करते हैं कि श्रम-मन्त्रालय मजदूरों से सम्बन्ध
रखनेवाले कानूनों पर इस दृष्टि से फिर विचार करके उनमें ऐसे उचित
संशोधन कर देगा। मजदूरों की आर्थिक स्थिति हम सभी सुधारना चाहते
हैं। वास्तव में हम तो मानते हैं कि सम्मिलित सहराज्य अर्थात् कोऑपरे
टिव कॉमनवेल्थ में उत्पादन के सारे साधनों पर मजदूरों का ही स्वामित्व
हो परन्तु यह तभी सम्भव होगा जब मजदूर अपने अधिकारों के समान
ही अपने कर्तव्यों का भी ख्याल करेंगे।

२६

हमारी तात्कालिक आवश्यकताएं

जमीन-सम्बन्धी सुधार, खाद्य-नियन्त्रण और उद्योगों में सुधार के प्रश्न बड़े कठिन और मुश्किल हैं। इन्हें बड़ी सावधानी, दूरदर्शिता और योजनापूर्वक सुलझाने की जरूरत है। परन्तु अपने-आप में मुश्किल होने पर भी ये आसान बन जाते हैं, यदि हमारे सामने अपने उद्देश्य साफ हों। ऐसे कठिन प्रश्न जब कभी हमारे सामने उपस्थित हों तो उनको हल करने का एक बड़ा सुन्दर नुस्खा हमें महात्मा गांधी ने बता दिया है। उन्होंने कहा है "जब कभी तुम्हें आगे का मार्ग सूझ न पड़े या तुमपर स्वार्थ अथवा मोह सवारी गांठ ले तब इस कसौटी से काम लो। उस गरीब-से-गरीब और कमजोर-से-कमजोर आदमी की सूरत को याद करो जिसे तुमने कभी देखा हो और फिर अपने-आपसे पूछो कि तुम जो कदम उठाना चाहते हो उससे इस गरीब को किसी प्रकार भी लाभ हो सकता है। उसे इसका कोई उपयोग होगा? दूसरे शब्दों में जो पेट में अन्न के अभाव में और आत्मा में ज्ञान के अभाव में भूखों मर रहे हैं, उनके लिए तुम्हारा यह कदम स्वराज्य को नजदीक लानेवाला है? यदि इस तरह पूछोगे तो तुम्हारा सारा सन्देह और मोह भाग जायगा।" राष्ट्र की महत्वपूर्ण समस्याओं पर विचार करते समय राष्ट्रपिता का यह नुस्खा सदा हमारे ध्यान में रहना चाहिए, क्योंकि लोकतांत्रिक राज्य का मुख्य उद्देश्य तो आखिर यही है न कि जो हमारे पैरों तले कुचले जा रहे हैं उन्हें ऊपर उठाया जाय और अभी तक जिनके हाथों में सत्ता और सम्पत्ति केन्द्रित रही है उन्हें शान्तिपूर्वक कुछ नीचे लाया जाय। जबतक सम्पत्ति का अथवा गरीबी का भी पुन-वितरण हम वर्तमान समाज में नहीं करते तबतक नवीन और समृद्धिशाली भारत का निर्माण हम नहीं कर सकेंगे। सामाजिक और आर्थिक समानता के बगैर केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता का बहुत अधिक मूल्य नहीं होगा।

उदाहरणार्थ जमीन-सम्बन्धी सुधारों में हमारा मुख्य काम उन लोगों की रक्षा का होगा जो जमीन को खुद जोतते हैं। अबतक तमाम राज्यों में जमीन पर से हमने जमींदारों को हटा ही दिया है परन्तु जोतनेवाले अभी

पूरी तरह सुरक्षित नहीं हो पाये हैं। अब तो जिन्होंने एक अमुक समय तक जमीन का लगान नहीं दिया है उनको छोड़कर शेष सब जोतनेवालों को कानून द्वारा या जहां जरूरत हो प्रशासकीय आज्ञा द्वारा बेदखली से बचाया जाना चाहिए। सबसे अधिक जरूरी बात यह है कि जो करोड़ों लोग पचासों वर्षों से जमीन पर मजदूरी करके किसी तरह अपना पेट भरते आये हैं उन्हें रोजी का कोई निश्चित साधन देकर हम निश्चिन्त कर दें। जहांतक धन्धों के सुधार का प्रश्न है उसमें भी बुनियादी सवाल तो हमारे सामने यही है कि पहले हम अपने उन करोड़ों देश-भाइयों को पेट भरने का अच्छा-सा साधन दे दें जो काम करने की इच्छा और शक्ति होने पर भी बेकार बैठे हैं। लोकतन्त्र के विधान में हमने आश्वासन दिया है कि जिनका भी शरीर काम करने लायक है उन सब भारत-वासियों को काम दिया जायगा। अत इस बुनियादी राष्ट्रीय नीति के विरुद्ध जो भी कदम जाता हो उसपर अमल करने से पहले हमें सौ बार विचार कर लेना चाहिए। कारखानों में सुधरे हुए यन्त्र लगाने पर बेकार होनेवाले आदमियों को हम काम देने की कोशिश करेंगे केवल इतने से काम नहीं चलेगा। हमारी उद्योग-नीति के मुख्य सिद्धान्त ये तीन सूत्र हैं सबको पेट भर खाना मिले उत्पादन अधिक-से-अधिक हो और सामाजिक तथा आर्थिक न्याय हो। जबतक जीवन के तमाम क्षेत्रों में बेकारी के प्रश्न को हल करने का हम निश्चय नहीं करेंगे तबतक इस देश में सच्चे लोकतन्त्र की नींव मजबूत होना बहुत कठिन है। जमीन के समान उद्योगों और कारखानों में भी छोटे-से-छोटे मजदूर के हितों की रक्षा करने की हमारी सर्वोपरि नीति हो। बाढ़ों के नियन्त्रण के प्रश्न पर विचार करते समय भी यह सच है कि हमें प्रश्न के सब तात्कालिक और स्थायी महत्व के पहलुओं पर विचार करना होगा। परन्तु इसमें भी सबसे पहले हमें उन गरीब देहातियों की समस्या पर ही विचार करना चाहिए, जिनका इन बाढ़ों में सबकुछ—जीविका का साधन भी—नष्ट हो गया है। गरीब-से-गरीब आदमी भी भिक्षा पर जीवित नहीं रहना चाहता। वह चाहता है कि अपने पसीने की रोटी खाय। इसलिए उसे काम देना हमारा कर्तव्य है। नदियों के प्रवाहों के लिए निश्चित मार्ग बना

देने जैसे स्थायी महत्व का सच्चा उपाय लेनेवाले उपाय तो बाद में हमें सूझेंगे।

इसी प्रकार और भी कई ऐसे उदाहरण गिनाये जा सकते हैं, जहां हम उन लोगों की मदद करने का यत्न नहीं करते जिन्हें इसकी सबसे पहले जरूरत होती है। हम देखते हैं कि शहरों की सड़कों को चौड़ा किया जा रहा है उनपर डामर भी फैला दिया जाता है जबकि हजारों गांवों में कच्ची सड़कें भी नहीं हैं। हम शहरों और कस्बों में पानी के नल लगाने की चिन्ता करते हैं जबकि हमारे गांवों में लाखों-करोड़ों को पीने का पानी लाने के लिए भी मीलों चलकर जाना पड़ता है। बड़ी-बड़ी नदियों पर बांध बनाकर हम किसानों के लिए सिंचाई की सुविधा कर रहे हैं, परन्तु उन देहाती मजदूरों के लिए हम क्या कर रहे हैं जिनके पास जमीन नाम मात्र को भी नहीं है।

कारखानों को बिजली देने के लिए राज्य सरकारें इंधन से चलनेवाले या जलशक्ति से चलनेवाले बड़े-बड़े बिजलीघर बना रही हैं परन्तु गांवों के कारीगरों को रोटी देने की भी हमें चिन्ता है? प्रकाश के लिए भी हम कभी गांवों को पहले बिजली देने का ख्याल करते हैं? सामुदायिक विकास योजनाओं में और राष्ट्रीय विकास खण्डों में भी हमारी अधिकांश योजनाओं में उन्हीं लोगों की सहायता करने की नीति है, जिनके पास जमीनें या जायदादें हैं। हेतु यह होता है कि सरकार की रकम डूब न जाय परन्तु जिनके पास जमीन या रोजी का अन्य कोई साधन नहीं है उनका क्या होगा? उनके लिए भी कोई ग्रामोद्योग या गृहोद्योग वह कारिता के आधार पर खोलने का हम यत्न करते हैं? योजनाएं तो पड़ी हैं, परन्तु उनपर अमल करने की जल्दी हमें नहीं है। गांवों में सबसे अधिक दुःखमिश्रित विषय ही हरिजनों को है। अधिकांश राज्यों में उन्हें अपनी जमीनों पर से हटा दिया गया है परन्तु उन्हें अभी तक नई जमीनें नहीं दी गई हैं यद्यपि इसकी योजनाएं हैं। गांवों के कूपों से अभी तक उन्हें सम्मान-पूर्वक पानी नहीं लेने दिया जाता। हरिजन विद्यार्थियों को कुछ छात्र वृत्तियां और युवकों को सरकारी दफ्तरों में या अन्य संस्थाओं में कुछ जगहें दे देने से क्या होता है? देश के कोने-कोने में उनकी सामाजिक और

मानिक प्रतिष्ठा बढ़ाने का पूरा यत्न हमें करना है। शहरों में नित्य नई-नई और आलीशान इमारतें तेजी से बन रही हैं, परन्तु दिल्ली जैसे शहरों में भी गरीबों के झोंपड़े वैसे ही पड़े हैं और गांधी की इस भूमि में हम कल्याण राज्य या सर्वोदयी राज्य लाने की बातें करते हैं बड़े-बड़े कारखानों के अन्दर नये-से-नये यन्त्र लाने की हम चिन्ता करते हैं परन्तु क्या अपने झोंपड़ों में बैठकर मर-मर काम करने-वाले कारीगरों की समस्याओं को समझने और सुलझाने की हमें चिन्ता है ?

जो लोग कुछ करना चाहते हैं जनता की सेवा की जिन्हें चिन्ता है और उसकी रहन-सहन के स्तर को जो उठाना चाहते हैं उनके बारे में ये कुछ बातें गिनाई गई हैं। हमारा मतलब यह हरगिज नहीं है कि कल्याण राज्य की योजनाओं के बारे में हमारे अन्दर चिन्ता की कमी है परन्तु हमें अपने अन्दर एक वृत्ति निर्माण करनी है जिससे जरूरी कामों को पहले हाथ में लेने की बात हमें सूझे और बड़ी-बड़ी इमारतें खड़ी करने की बातें करने से पहले खड्डों और खाइयों को भरकर पहले जमीन को समतल बना लें। यदि हम मकान बनवाना चाहते हैं तो वहां की जमीन हमें पहले तैयार करनी होगी। वहां की गन्दगी को हटाना होगा और खड्डों को तो भरना ही होगा। इसी प्रकार हमें नवीन भारत का निर्माण मजबूत नींव पर करना है तो पहले असमानताओं और विषमताओं को हटाना होगा और समाज में जो सबसे बुरी हालत में हैं उनकी तरफ पहले ध्यान देना होगा। जो आदमी कतार के अन्त में खड़ा है उसका ख्याल पहले करना होगा। गांधी-जी की कल्पना का स्वराज्य लाने का मार्ग यही है।

३
सबसे बड़ा शत्रु—बेकारी

राज्य के हर नागरिक का यह जन्म-सिद्ध अधिकार है कि उसे काम और रोजी मिलनी चाहिए। उपयोगी काम के बगैर लोगों को खिलाना देने की पद्धति बुरी है। उससे मनुष्य के शरीर, मन बुद्धि और चरित्र—सब की हानि होती है। वास्तव में मनुष्य की प्रतिष्ठा इसीमें है कि वह अपने पसीने की रोटी खाय। इसके लिए वह अपने शरीर, मन और बुद्धि का

उपयोग करे। भारत में जीवन के तत्व ज्ञान का सार यही माना गया है कि जो बगैर परिश्रम की रोटी खाता है वह चोर है। इसलिए यदि आधुनिक आर्थिक संयोजन मानता है कि काम करने लायक शरीरवाले हर मनुष्य को काम देना उसका पहला कर्तव्य है तो कहना होगा कि जबतक हम भारत में हर सक्षम मनुष्य को पूरा काम देने का प्रबन्ध नहीं कर देते तबतक हमारी सारी योजनाएं वृथा और बेकार हैं। सच तो यह है कि जबतक प्रत्येक नागरिक को पूरा काम देने का प्रबन्ध नहीं हो जाता लोकतंत्री शासन स्थायी हो ही नहीं सकता। लोगों को पूरा काम दिये बगैर अधिक उत्पादन की योजनाएं बनाना राष्ट्र की इमारत बालू पर खड़ी करने की बातें करने के समान है।

पिछली मनुष्य-गणना के अनुसार भारत की जन-संख्या ३५.६ करोड़ थी। इसमें २५ करोड़ मनुष्य खेती में लगे हुए थे। १०.७ करोड़ दूसरे पेशे कर रहे थे। सब जानते हैं कि भारत का किसान वर्ष में कई महीने बेकार रहता है या उसे पूरा काम नहीं रहता। इसलिए अपनी थोड़ी आय में पूर्ति करने के लिए उसे किसी सहायक धन्धे की बड़ी जरूरत रहती है। फिर इस समय बहुत अधिक लोग दूसरे किसी काम के अभाव में खेती में मजदूरी करने लग गये हैं। इन सबको दूसरा काम देने की जरूरत है ताकि खेती वैज्ञानिक ढंग से की जा सके और उसे लाभदायक भी बनाया जा सके। खेती के अलावा जो लोग दूसरा काम करते हैं उनमें से १.५१ करोड़ लोग उद्योगों में काम करते हैं। इनमें से बड़े उद्योगों में काम करनेवालों की संख्या केवल २ लाख है। शेष सब खानगी तौर पर काम कर रहे हैं या दस्तकारियों में लगे हुए हैं। गांवों में रहनेवाले गरीब कारीगरों की स्त्रियों को भी पूरा काम नहीं मिलता। अतः वे अपना पेट नहीं भर पाते। १९५१ की जनगणना से ज्ञात होता है कि अन्य व्यापार-व्यवसाय में २.२१ करोड़ परिवहन में ५६ लाख और खानगी—घरेलू नौकरियों में ४.१ करोड़ लोग लगे हुए हैं। व्यापार-व्यवसाय में लगे हुए लोगों में से अधिकांश छोटे छोटे दूकानदार आढ़तिये तथा दलाल हैं। यदि किसान अपनी सहकारी समितियां बना लें तो बड़ी आसानी से इनकी भी रोजी छिन जायगी। अन्य नौकरियों में जो लोग लगे हैं उनके पास भी पूरे समय का काम नहीं

है और वे ऐसी हैं कि उनका कोई नाम भी नहीं बताया जा सकता। हमारी जनसंख्या के इस पेशेवार विभाजन से प्रकट है कि पूरी और आंशिक बेकारी की समस्या हमारे देश में कितनी गंभीर है।

शिक्षित युवकों को काम देने का प्रश्न भी देश में बड़ा भयानक रूप धारण करता जा रहा है। एक तरफ तो केन्द्र तथा राज्यों की सरकारें शहरों तथा गांवों में भी शिक्षा की सुविधाएं बढ़ाती जा रही हैं, परन्तु वर्तमान पद्धति के स्कूल और कालिज देश में शिक्षित बेकारों की संख्या लगातार बढ़ाते जा रहे हैं। ये शिक्षित बेकार हमारे लोकतन्त्र के लिए बड़ा भारी खतरा हैं। ये देश में जबरदस्त सामाजिक और आर्थिक अशान्ति पैदा कर सकते हैं और इसका परिणाम राजनैतिक अशान्ति और अस्थिरता तो होगा ही। इस प्रकार शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में फैली हुई यह बेकारी हिंसक उथल-पुथल पैदा करके हमारी नई आजादी के लिए खतरा पैदा कर सकती है। हमारा सच्चा दुश्मन साम्यवाद नहीं है। वह तो भूख और दरिद्रता की भयानक बीमारी का केवल बाहरी चिह्न है। हमारा सबसे बड़ा दुश्मन तो यह पूरी तथा आंशिक बेकारी का राक्षस है जो हमें निगलना चाहता है।

बेकारी की पहेली का एक स्थायी हल यह है कि हम अपने आर्थिक और औद्योगिक ढांचे में आमूल परिवर्तन कर दें और जमीन का नये सिरे से बड़े पैमाने पर बंटवारा किया जाय और इसके लिए एक क्रान्तिकारी कानून बनाया जाय। आचार्य विनोबा भावे चाहते हैं कि पांच करोड़ एकड़ जमीन बेजमीन गरीबों में बांट दी जाय। इससे एक करोड़ परिवारों को काम प्रार रोजी मिल जायगी। स्वयं योजना-आयोग की भी सिफारिश है कि जितनी जल्दी सम्भव हो जोत की सीमा मुकर्रर कर दी जाय। और केवल जो स्वयं जोतें उन्हींके पास जमीन रहे और वे ही उसके स्वामी हों। दूसरे, उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन का विकेन्द्रीकरण करने की दृष्टि से हमारी उद्योग-रचना में भी साहस के साथ आमूल परिवर्तन कर देना चाहिए। जबतक गृहोद्योगों ग्रामोद्योगों और छोटे उद्योगों को पुनर्जीवित करने का काम हिम्मत के साथ हम हाथ में नहीं लेंगे तबतक करोड़ों गरीब बेकारों को हम रोजी नहीं दे सकेंगे। वह केवल सपना ही बना रहेगा। बड़े उद्योगों

के विस्तार का बखेड़ा छेड़ उनके वर्तमान विस्तार को बगैर जान-बूझकर जबरदस्ती से लादी गई बेकारी की समस्या का हल करने की आशा करना इस प्रश्न से खिलवाड़ करने के समान है। हमारे वर्तमान ग्रामोद्योगों और छोटे उद्योगों को अधिक सक्षम बनाने के लिए हम विज्ञान की प्रगति से भी जरूर लाभ उठायें परन्तु गृहोद्योगों और छोटे उद्योगों को पुनरुज्जीवित करने का जबतक हम दृढ़ निश्चय नहीं कर सके सारा शोरगुल और लिखा-लिखाई निकम्मी ही है।

तीसरी बात हमारी शिक्षा-पद्धति को भी जड़-मूल से बदल देने की जरूरत है। हमारे नौजवानों और युवतियों को पढ़ते-पढ़ते कमाना भी सीखना चाहिए। अभी तो वे पढ़ते समय केवल बाद में कमाने के सपने देखते रहते हैं। ऐसा न हो। इसके लिए गांधीजी की बताई बुनियादी शिक्षा-पद्धति को सारी पढ़ाई की बुनियाद बना दिया जाना चाहिए। हमारे बच्चों को स्कूल-कालिजों में न केवल इतिहास, भूगोल, विज्ञान, नागरिक-शास्त्र जैसे किताबी विषय पढ़ाये जायं, बल्कि इनके साथ किसी ऐसे पेशे या दस्तकारी की भी शिक्षा दी जाय, जो आगे चलकर जीविका कमाने में उनकी मदद कर सके और अन्त में हमें अपने पड़ोसियों द्वारा बनाई हुई स्वदेशी चीजों से भी प्रेम करना सीखना चाहिए। हमें शिकायत नहीं करनी चाहिए कि इनकी कीमतें अधिक हैं, बल्कि अपने देश के प्रेम की खातिर और अपने भाइयों को रोजी देने के लिए हमें ये चीजें खरीदनी चाहिए।

अपने सबसे बड़े दुश्मन—बेकारी को हम तुच्छ समझकर उसकी उपेक्षा न करें। लोकतन्त्र और समाज को शान्ति के साथ नया रूप देने के काम में यह सबसे बड़ा विघ्न और चुनौती है। हम कहीं भ्रमजाल में न रहें। बेकारी, दरिद्रता और भूख के प्रश्न को हल करने में जरा भी ढिलाई नहीं करनी चाहिए। देरी में सत्यनाश और संकट निहित है। बेकारी के विरुद्ध हमें धर्म-युद्ध ही छेड़ देना है—करेंगे या मरेंगे इस दृढ़ निश्चय के साथ।

११
भूमि-सुधार

दूसरी तमाम बातों से पहले आज जमीन के पुनर्वितरण का प्रश्न तुरन्त और गम्भीरता-पूर्वक हाथ में लेना जरूरी है। आचार्य विनोबा भावे भी अपने भूदान-यज्ञ-आन्दोलन के द्वारा भारत के नेताओं का ध्यान इस प्रश्न पर केन्द्रित कर रहे हैं। अपने इस महत्वपूर्ण आन्दोलन में उन्हें सफलता भी अच्छी मिली है। देश के विभिन्न भागों में कुल मिलाकर उन्हें लगभग पैंतालीस लाख एकड़ जमीन भूदान में मिल चुकी है। यद्यपि इस जमीन के वितरण का काम इतनी तेजी से नहीं हो रहा है फिर भी इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि अहिंसा की पद्धति से आर्थिक सुधार लाने का यह प्रयोग अत्यन्त क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ है। इसने जमीन-सम्बन्धी प्रगतिशील और मौलिक सुधारों का वातावरण बहुत स्वस्थ और अनुकूल बना दिया है। अब विभिन्न राज्यों में जमीन-सम्बन्धी आवश्यक सुधार कानून बनाने में हमें इस वातावरण का पूरा-पूरा लाभ उठा लेना चाहिए। हमें स्वीकार करना होगा कि जमीन-सम्बन्धी सुधारों का काम हमें जितनी तेजी से करना चाहिए था हम नहीं कर पाये हैं।

हमें अब अच्छी तरह से जान लेना चाहिए कि अपनी आबादी को पूरा काम देने के लिए तथा खाद्य पदार्थों का उत्पादन बढ़ाने के लिए भी यदि जमीन-सम्बन्धी सुधारों के काम को हम तुरन्त हाथ में नहीं लेंगे तो हम जनता में आवश्यक उत्साह नहीं पैदा कर सकेंगे। जमीन प्रकृति की अपनी बुनियादी देन है। मनुष्य उसमें घटा-बढ़ी नहीं कर सकता। इसलिए जमीन सम्बन्धी सुधारों को दूसरे आर्थिक सुधारों के समान नहीं समझना चाहिए। उन्हें स्वतन्त्र समझकर जल्दी-से-जल्दी हाथों में ले लिया जाना चाहिए। कभी-कभी कहा जाता है कि शासन को पहले शहरी या उद्योगों के क्षेत्र में आर्थिक सुधार करने चाहिए, तब जमीनों के सुधार को हाथ लगाना चाहिए। यद्यपि इस दलील में कुछ बल है, फिर भी जमीन को दूसरे प्रकार की सम्पत्ति के समान नहीं समझा जा सकता जो मनुष्य के द्वारा कच्चे माल से बनाई जाती है। फिर जिनके पास जमीन है, उन्हें अपनी आय

बढ़ाने के लिए दूसरे कदम करने से नहीं रोका जा सकता। उदाहरण के लिए अधिकतम जमीन की सीमा निश्चित करके बे-जमीन गरीबों में जमीन पुनर्वितरण कर देने के बाद सहकारी पद्धति पर छोटे उद्योगों और गृहोद्योगों को ग्रामीण क्षेत्रों में फैलाने का काम शुरू किया जा सकता है। चीन और जापान जैसे देशों ने अपनी बढ़ी हुई आबादी के प्रश्न को इसी प्रकार हल करने का प्रयत्न किया है।

दूसरी पंचवर्षीय योजना में किए गए भूमि सम्बन्धी सुधारों में एक यह भी था कि मध्यजनों को एकदम हटा दिया जाय। यद्यपि अधिकांश राज्यों में यह किया जा चुका है फिर भी कहीं-कहीं ऐसे भाग रह गये हैं, जहां यह अभी होना बाकी है। इसी प्रकार मुआवजे की अदायी चुका दिये जाने चाहिए, खास तौर पर विधवाओं नाबालिगों और छोटे-छोटे मध्यजनों को। मध्यजनों को हटाते समय यह भी ध्यान रखना जरूरी है कि सम्बन्धित लोगों को अकारण कष्ट न हो या उन्हें तंग न किया जाय।

काश्तकारों को अपनी जमीनों और खातों के बारे में असुरक्षा न मालूम हो इस हेतु से उनके अधिकारों में सुधार-सम्बन्धी रहे-सहे कानून भी जल्दी बन जाने चाहिए और साथ उन्हें जो प्रत्येक प्रकार से और बहानों से बेदखल किया जा रहा है वह तुरन्त बन्द कर देना चाहिए। अनेक राज्यों में काश्तकार तथा शिकमी काश्तकार माननेवाले सुधारों के जब से कारण बड़ी तकलीफों में आ गये हैं। सुधार-सम्बन्धी कानूनों के बनने में जो देर हो रही है उसके कारण बेदखलियां बहुत बढ़ गई हैं अतः इन्हें रोकने के लिए तुरन्त हुक्म जारी हो जाने चाहिए। पहले ही बहुत अधिक नुकसान हो चुका है और गरीब काश्तकारों की रक्षा करना हमारा कर्तव्य है। इसमें जरा भी देरी नहीं होनी चाहिए।

जहांतक खुदकाश्त के पुन: जारी करने का सम्बन्ध है खुदकाश्त का अर्थ बिल्कुल साफ कर दिया जाना चाहिए। जो खुदकाश्त पर जमीन रखना चाहे उन्हें अमुक मात्रा में जमीन पर खुद मेहनत करनी ही चाहिए, इस प्रकार की कोई शर्त उसमें हो। केवल पैसे लगाकर जमीन की देखभाल करते रहना काफी नहीं समझा जाय। कुछ राज्यों में साझीदारी की प्रथा है। इसमें साझीदार को वह सब करना पड़ता है जो स्वयं काश्तकार को

करना पड़ता है। परन्तु फिर भी उन्हें काश्तकार नहीं माना जाता और उन्हें वे अधिकार नहीं है, जो काश्तकार को होते हैं। यह दोष भी जितनी जल्दी सम्भव हो दूर कर देना चाहिए।

जमीन के किराये की पद्धति भी व्यवस्थित हो जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में सर्व-सामान्य कानून के अलावा किराये की अधिकतम सीमा भी मुकर्रर कर दी जानी चाहिए, जो जमीन के मामूली लगान के अमुक गुने से अधिक हर्गिज न हो।

परन्तु सबसे अधिक जरूरी तो सारे राज्यों में जमीन की अधिकतम सीमा का निश्चय करना है। पहली पंचवर्षीय योजना में सुझाया गया है कि एक आदमी के पास अमुक सीमा से अधिक जमीन न हो। दूसरी पंचवर्षीय योजना में यह अधिकतम सीमा क्या हो इस सम्बन्ध में कुछ खास सुझाव भी दे दिये गए हैं। कुछ मामलों में छूट देने की भी सिफारिश है। उसमें काफी उदारता से काम लिया गया है। इसलिए इस भय के लिए कोई कारण नहीं है कि यह सीमा निश्चित कर दी गई तो उसका असर उपज पर पड़ेगा। अनेक देशों का अनुभव यही है कि केवल खाते बड़े होने से उपज की औसत नहीं बढ़ती है। बड़े खातों पर यन्त्रों की मदद लेने पर भी फी एकड़ उपज बढ़ नहीं पाती। फी आदमी के हिसाब से यदि उपज का हिसाब जोड़े तो जरूर उपज बढ़ी हुई मालूम होती है। इसलिए यह सोचना गलत है कि दूसरी पंचवर्षीय योजना के अनुसार यदि जमीन की अधिकतम सीमा का निश्चय कर दिया जायगा तो उपज कम होगी। इसके विपरीत जमीन का पुनर्वितरण कर देने के बाद यदि जमीन पर बराबर मेहनत की जायगी और पावपाशी की सुविधाएं भी होंगी तो उपज घटने के बजाय उलटी बढ़ जायगी। इसलिए तमाम राज्यों में जितनी भी जल्दी सम्भव हो आवश्यक कानून बन जाय।

परन्तु जमीन-सम्बन्धी सुधारों के कानूनों का बन जाना ही काफी नहीं है। हमारा अनुभव यह है कि कानून बन जाने पर भी उनका अमल ठीक से कराने का प्रबन्ध यदि शासन से नहीं होता है तो जिनके लाभ के लिए यह सब किया जाता है, उन्हें लाभ नहीं मिलता उलटे उन्हें तंग किया जाता है और उनकी परेशानियां बढ़ जाती हैं। कुछ राज्यों में जमीनों के सुधार

सम्बन्धी कई आवश्यक कानून बन गये हैं। परन्तु उनके अमल का ठीक प्रबन्ध नहीं हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों पक्ष नाराज थे— जिनकी जमीन कम हुई थे और जिन्हें जमीन मिली नहीं थे भी। इससे हमें सबक लेना चाहिए। जमीन-सम्बन्धी कानूनों का ठीक से अमल करने के लिए सबसे जरूरी चीज है कागजात का सही और अद्यतन होना। अनेक राज्यों में कागजात की हालत अत्यन्त असन्तोषजनक है। इसके परिणामस्वरूप सुधारों पर अमल करने में कदम-कदम पर रुकावटें खड़ी होती हैं। फिर शासन प्रबंध में भी सचाई तथा ईमानदारी का होना बड़ा जरूरी है। ग्रामीणों को भ्रष्टाचार, ढिलाई और बेईमानी का मुकाबला प्रतिदिन करना पड़ता है जो अच्छे-से-अच्छे सुधारों को बेकार कर देते हैं।

हम आशा करें कि तमाम राज्यों की सरकारें राष्ट्र के प्रति अपने इस कर्त्तव्य को समझकर अपने प्रदेशों में जमीन-सम्बन्धी सुधारों को सर्वाधिक प्राथमिकता देंगी। जमीन के प्रश्न को अहिंसा के द्वारा सुलझाने का मार्ग आचार्य विनोबा ने हमको दिखा ही दिया है। देश में इन सुधारों का नक्शा क्या होगा यह दूसरी पंचवर्षीय योजना ने साफ तौर पर बता दिया है। इस प्रकार भूदान-यज्ञ और शासकीय कानून दोनों मिलकर हमारे देश में जमीन के प्रश्न को जल्दी हल कर सकेंगे। यदि सरकारी तथा गैर-सरकारी सभी व्यक्ति आर्थिक विकास के इस प्रश्न को सुलझाने में लग जायंगी तो इस पवनारी संत की आशाओं को पूरा करने में हम अवश्य सफल हो सकते हैं।

१२

भूमि की उच्चतम सीमा

पंचवर्षीय योजना में साफ तौर पर बता दिया गया है कि जमीन सम्बन्धी भारत की नीति का एक बुनियादी सिद्धान्त यह भी होगा कि 'एक आदमी के पास अधिक-से-अधिक कितनी जमीन रहे इसकी भी एक सीमा निश्चित कर दी जाय।'[1]

प्रत्येक राज्य अपने यहां की परिस्थिति और खेती-सम्बन्धी परम्परा

[1] इस सम्बन्ध में [illegible]

को ख्याल में रखते हुए इस सीमा का निश्चय करेगा।

मुझे निश्चय है कि भारत सरकार और राज्य सरकार जमीन के बारे में बहुत दूरगामी सुधार जारी करने के प्रश्न को खासकर बेजमीन किसानों को जमीन दिलाने के प्रश्न को सबसे अधिक प्राथमिकता देंगी। प्रकट है कि जबतक ऐसी कोई उच्चतम सीमा निश्चित नहीं कर दी जायगी बे-जमीनों को बांटने के लिए पर्याप्त जमीन हमारे पास नहीं होगी। केवल इतना काफी नहीं होगा कि अब आगे कोई अधिक जमीन न ले। जबतक इन वर्तमान बड़े-बड़े खातों को जो सकड़ों और कभी-कभी तो हजारों एकड़ के भी हैं, हाथ नहीं लगायंगे तबतक भविष्य के सीमा-निर्धारण का कोई अर्थ नहीं होगा।

इसका मतलब यह नहीं कि सारे राज्यों में और सब प्रकार की जमीनों की अधिकतम सीमा सर्वत्र वही हो। निश्चय ही जमीन की किस्म के अनुसार प्रत्येक भाग में यह सीमा अलग-अलग होगी। फिर हमारा यह भी आग्रह नहीं है कि प्रारम्भ में ही यह सीमा बहुत कम हो। जबतक हमारे राष्ट्रीय जीवन के अन्य क्षेत्रों में बड़ी-बड़ी सामाजिक और आर्थिक विषमताएं मौजूद हैं केवल जमीनों के बारे में ही बहुत अधिक सख्ती बरतना उचित नहीं होगा। प्रारम्भ में उच्चतम सीमा का निश्चय करने में कुछ उदारता से भी काम लिया जाय तो इसे अनुचित नहीं कहा जायगा। परन्तु इस प्रकार की मर्यादा को टालना अत्यन्त अनुचित होगा। हमारे देश में आज ४५ लाख बेजमीन मजदूर हैं। तब इन जमींदारों को क्या हक है कि वे अपने पास सैकड़ों-हजारों एकड़ जमीनें रक्खें ? जमीन प्रकृति की देन है। मनुष्य न तो उसे घटा सकता है और न बढ़ा सकता है। इसलिए आर्थिक विषमता के प्रश्न को सुलझाने का प्रारम्भ जमीन के प्रश्न से ही करना उचित होगा। दूसरे क्षेत्रों की विषमताएं भी फिर नहीं रहेंगी। सम्पत्ति और जायदाद के क्षेत्र में उनको भी अवश्य हाथ में लिया जायगा। (एस्टेट ड्यूटी) जायदाद-कर-सम्बन्धी कानून जिसका अमल १५ अक्तूबर, १९५३ से शुरू हो गया है इस दिशा में सबसे पहला कदम है। साधन-सम्पन्नों और निराधारों के बीच की बड़ी दीवार को गिराकर इनमें समानता लाने के लिए अवश्य ही इसके बाद दूसरे कदम भी अवश्य ही उठाये जाने चाहिए।

जोतों की उच्चतम सीमा मुकर्रर करते समय कुछ बातें ध्यान में रखने योग्य हैं। जिन जमीनों की खेती सहकारी पद्धति पर हो रही उनको खास रियायत दी जाय। सम्मिलित कुटुम्ब-प्रथा को टूटने से बचाने के लिए यह उचित होगा कि ऐसे परिवारों के पास जो जमीन हो उसकी सीमा तिगुनी मानी जाय। सीमा निर्धारित करने के बाद सरकार के अधिकार में ली जानेवाली जमीनों का मुआवजा भूमि-आयोग द्वारा पच्चीस या तीस वर्ष की अवधि में पूरा किया जाय। इसके अलावा सीमा से अधिक जमीन पर केवल अधिकार कर लिया जाय मुआवजे का प्रश्न न उठाया जाय। जैसा कि योजना आयोग ने सुझाया है वे जमीनें किसानों से इकरारनामा करके उन्हें जोतने के लिए दे दी जायें और वे जमीन के मालकों को वार्षिक किराया चुका दिया करें। इस प्रकार बगैर मुआवजा दिये लाखों एकड़ जमीन ग्रामीण मजदूरों को दी जा सकेगी।

देश में जमीनों के सुधार-सम्बन्धी उपयुक्त कानून बनाने के लिए आचार्य विनोबा भावे के भूदान-यज्ञ-आन्दोलन ने बहुत अच्छा वातावरण तैयार कर दिया है। सच तो यह है कि अब तो न केवल उच्चतम सीमा के लिए बल्कि निम्नतम आवश्यक सीमा के लिए भी लोगों का मानस तैयार हो गया है। विनोबा की राय है कि केवल उच्चतम सीमा निर्धारित करने से बे-जमीनों में बांटने के लिए पर्याप्त भूमि हमें नहीं मिल सकेगी। उनकी राय है कि अब राज्य को जोतों की निम्नतम सीमा भी मुकर्रर कर देनी चाहिए। उदाहरण के लिए जो परिवार स्वयं खेती करना चाहे उसे राज्य पांच एकड़ जमीन दे। उच्चतम सीमावाली बात पर तब विचार किया जाय जब इस प्रकार खुदकाश्त करनेवाले सब किसानों को बांट देने पर जमीनें बचें। इस सबका मतलब यही है कि अब देश जमीन-सम्बन्धी दूरगामी सुधारों के लिए तैयार है और अब ऐसे कानून के बनाने में देरी करना सामाजिक और आर्थिक प्रगति में बहुत बाधक होगा।

हम सबको याद रखना चाहिए कि जब समाज में एक खास सीमा तक सामाजिक और आर्थिक स्वतंत्रता नहीं होगी हमारी राजनैतिक स्वतंत्रता का कोई खास मूल्य नहीं होगा। समाज में आज गरीबों और धनीरों के बीच जो चौड़ी खाई पड़ी हुई है, उसे और आधुनिक समाज में जो अन्य

विषमताएं हैं उन्हें हम नहीं मिटा देंगे तबतक देश में आर्थिक स्वतंत्रता नहीं आ सकेगी। इसके अलावा आज जिन करोड़ों के हाथों में रोजी के पर्याप्त साधन नहीं हैं उन्हें ये साधन भी देने होंगे। इसके लिए जमीन और राष्ट्रीय सम्पत्ति के वितरण-सम्बन्धी बड़े-बड़े सुधार करना अत्यन्त आवश्यक है।

३१
हमारी खेती की समस्या

भारत किसानों का देश रहा है और आज भी है। इस देश की सत्तर प्रतिशत आबादी की जीविका का आधार खेती है और उनके परिश्रम और कुशलता पर देश की समृद्धि निर्भर करती है। आर्थिक संयोजन की हमारी सारी योजनाएं तभी सफल हो सकेंगी जब किसान हमारे खाने के लिए अनाज और हमारे कारखानों के लिए कच्चा माल पैदा करता रहेगा। सच तो यह है कि खाद्यान्न और कारखानों के लिए लगनेवाले कच्चे माल के बारे में स्वावलम्बन हमारी योजना की जान मानी जानी चाहिए। जिस राष्ट्र को अन्न जैसी अपनी सबसे पहली और बुनियादी जरूरत के लिए भी दूसरों का मुंह देखना पड़ता है, वह राजनैतिक दृष्टि से भी स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता।

देश में जमीन-सम्बन्धी सुधारों पर हम हमेशा जोर देते रहे हैं ताकि जमीन पर परिश्रम करनेवाला उसका असली मालिक हो। इस बारे में पहली और दूसरी पचवर्षीय योजना में एक मोटी-सी नीति बना ली गई है परन्तु दुर्भाग्य की बात है कि जमीन-सम्बन्धी सुधारों में हमारी प्रगति बहुत धीमी और रुक-रुककर हो रही है। जमीन-सम्बन्धी सुधारों से न केवल किसानों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति अच्छी होगी बल्कि उससे खेती की उपज भी बढ़ेगी। कहना न होगा कि इस दृष्टि से सुधार तेजी से जारी करना कितना जरूरी है। जो आदमी खुद जमीन पर काम करता है, जमीन उसीके पास रहेगी यह विश्वास उसे हो जाना चाहिए और सब प्रकार की बेदखलियां या जोतनेवालों का भगाया जाना बन्द हो जाना चाहिए। जमीन के जोतनेवाले भूमिपुत्र ही उसके मालिक हों।

भारत के किसानों की माली हालत तभी सुधरेगी जब हम ग्रामोद्योगों

गृहोद्योगों द्वारा अपनी माय बढ़ाने का मौका भी उन्हें देवे। माज शहरी मौर देहाती लोगों के रहन-सहन में जो मन्तर है वह धीरे-धीरे हट जाना चाहिए। कारखानों उद्योगधन्धाओं मौर काम करने की दुकानों का एक जाल ग्रामीण क्षेत्रों में फैल जाना चाहिए, जिससे सबको पूरा काम मिल जाय मौर किसानों का जीवन परिपूर्ण मौर समृद्ध हो सके। जबतक हम ऐसा नहीं करते भारत की मर्थ-व्यवस्था की नींव मजबूत नहीं होगी। हमें न केवल अपनी खेती का मौर उद्योगों का उत्पादन बढ़ाना है, बल्कि करोड़ों बेकारों को सम्मान-युक्त रोजी भी देना है जो बुरी हालत में माज पड़े हैं।

भारत ने लोकतन्त्री पद्धति से संयोजन करने का प्रयोग शुरू किया है। यह प्रयोग तभी सफल होगा जब हम मार्थिक मौर राजनैतिक सत्ता का व्यापक रूप से विकेन्द्रीकरण कर देंगे। इसके लिए हमें गांव-गांव में नये-नये खेत करने होंगे जो अपने गांवों के भाग्य-विधाता होंगे। प्रत्येक ग्राम-सभा राष्ट्रीय संयोजन की बुनियादी इकाई होगी। इस दृष्टि से आचार्य विनोबा का ग्रामदान-मान्दोलन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विनोबा चाहते हैं कि राष्ट्रीय संयोजन के मार्ग-दर्शन में प्रत्येक गांव अपनी-अपनी योजना बनायें। अपने परिश्रम के बल पर स्वावलम्बी बनना ग्रामदान का पहला सिद्धान्त है। स्वावलम्बन के इस सिद्धान्त के बगैर राष्ट्रीय-संयोजन को हम कभी सफल नहीं कर सकेंगे। इसलिए संयोजन में हमें अपना सारा ध्यान ग्राम-पंचायतों मौर सरकारी समितियों पर केन्द्रित कर देना चाहिए। प्रसन्नता की बात है कि भारत सरकार मौर योजना-मायोग ने राज्य की सरकारों का ध्यान शासन के विकेन्द्रीकरण के इस जरूरी सिद्धान्त की तरफ दिला दिया है। अब जरूरत इस बात की है कि विकेन्द्रीकरण का यह काम व्यवस्थित रीति से मौर पूरी तरह से हो।

भारत में मन्नोत्पादन को बढ़ाने का सवाल वास्तव में भारतीय मन्न को खासतौर पर उसके नीचे के स्तरों को, सुधारने का प्रश्न है। किसान को अच्छा बीज अच्छी खाद मौर सिंचाई की अधिक सुविधा की जरूरत है परन्तु इससे भी बड़ी जरूरत ऐसे शासन-यन्त्र की है, जो उसकी कठिनाइयों की तरफ तुरन्त ध्यान देकर उनको दूर कर सके। यदि किसान सिंचाई के वर्तमान साधनों का भी पूरा-पूरा उपयोग करता रहे, अपने पास

खाद का वैज्ञानिक रीति से उपयोग करें, उसे सुधरे हुए बीज मिल जायं खेती के काम-काज सब सहयोगपूर्वक करें और सुधरे हुए औजारों से काम लें तो वह अपनी उपज काफी बढ़ा सकता है। यह ख्याल गलत है कि यन्त्रों से खेती करने से खेती की फी एकड़ उपज बढ़ जाती है। वास्तव में भारत को चीन और जापान की भांति गहरी (इन्टेन्सिव) खेती करनी चाहिए। फिर बुवाई, सिंचाई और कटाई आदि की क्रियाओं में सहकारिता से काफी काम लिया जा सकता है। खेतों की मेड़ों को हटाकर बहुत-से खेतों की सामूहिक खेती का प्रयोग ग्रामदानी गांवों या नई आबादी की बस्तियों में किये जा सकते हैं परन्तु इस प्रकार की खेती में दो बातों का ध्यान रखना चाहिए। सहकारी खेती में जबरदस्ती न हो और दूसरे ऐसे खेत बहुत बड़े-बड़े न हों। सहकारी खेतों में किसानों के बीच व्यक्तिगत और निकट का सम्पर्क होना बड़ा जरूरी है। यदि यह नहीं हुआ तो वह खेती सहकारी खेती नहीं खेती का कारखाना बन जायगी और उसमें वे सारी बुराइयां घुस जायंगी जो कारखानों में होती हैं।

परन्तु सबसे बड़ी बात तो यह है कि खेती का नये रूप से संगठन तभी हो सकेगा जब हमारी शिक्षा-पद्धति बदलेगी और विकास-योजनाओं में सहायक बन जायगी। आज तो शिक्षा-सम्बन्धी सारी सुविधाएं शहरों में केन्द्रित कर दी गई हैं। इस कारण लोग गांवों को छोड़-छोड़कर शहरों में आ रहे हैं और आज उजड़ रहे हैं। अब यह प्रक्रिया उलट दी जानी चाहिए और माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा की सुविधाएं गांवों में भी हो जानी चाहिए। अब खेती और ग्रामोद्योग सारी शिक्षा के आधार बना दिये जाने चाहिए, खासतौर पर ग्रामीण क्षेत्रों में। अभी जो मामूली परम्परागत प्राथमिक शालाओं का विस्तार ग्रामीण क्षेत्रों में किया जा रहा है वह बेकार है। गांधीजी बुनियादी शिक्षा के प्रचार पर इतना अधिक जोर इसीलिए देते थे कि उसमें सारे विषयों की पढ़ाई उत्पादक और शिक्षाप्रद काम के द्वारा की जाती है। इसलिए आर्थिक संयोजन को सफल करने की दृष्टि से भी बुनियादी शिक्षा का प्रचार अधिकाधिक होना बहुत जरूरी है।

१४

उत्पादन का अभियान

प्रसन्नता की बात है कि केन्द्र के उद्योग और व्यापार-मन्त्रालय ने उद्योगों में तथा अन्य क्षेत्रों मे उत्पादन बढ़ाने के लिए एक राष्ट्रीय उत्पादन मण्डल कायम कर लिया है। इस सम्बन्ध मे आयोजित एक विचार-परिषद (सेमिनार) का समारम्भ करते हुए केन्द्रीय उद्योग-मन्त्री ने कारखानों के मालिकों तथा मजदूरों को भी सम्बोधन करते हुए देश की सम्पत्ति बढ़ाने के लिए उत्पादन मे परस्पर सहयोग करने की अपील की। उत्पादन-मण्डल मे शासन कारखानेदारों मजदूरों अन्य-व्यक्तियों विज्ञानवेत्ताओं, संयोजकों और विविध धन्धों के सलाहकारों के प्रतिनिधि होंगे। भिन्न-भिन्न प्रदेशों में खास-खास उद्योग केन्द्रित हैं उनमें स्थानीय उत्पादन-मण्डल स्थापित करने में भी यह मडल मदद करेगा। प्रारम्भ में यह उत्पादन-मण्डल मान्त्रिक उद्योगों के क्षेत्र में उत्पादन बढ़ाने के उपायों और साधनों की ओर ध्यान देगा। उसके बाद वह परिवहन तथा खेती की ओर भी ध्यान देगा।

ग्रेट ब्रिटेन फ्रान्स पश्चिम जर्मनी आस्ट्रिया बल्जियम और हालैण्ड जैसे देशों ने भी जो उद्योगो में बहुत आगे बढ़े हुए हैं अपना उत्पादन बढ़ाने के लिए बड़े प्रयत्न किये हैं और लगातार करते रहते हैं और इसके लिए धन्धों में सुधार करते हैं। अपने साधनों का अधिक-से-अधिक अच्छा उपयोग किस प्रकार हो कि लोग अधिक सुखी हों इसका प्रयत्न करते रहते हैं। भारत जैसे कम विकसित देश मे तो ऐसे उत्पादन बढ़ानेवाले अभियानों की और भी जरूरत है। यह भी जाहिर है कि देश अधिक विकसित हो या कम ऐसे अभियान तभी सफल होंगे जब मालिकों और मजदूरों के बीच पूरा पूरा सहयोग होगा। इस सहयोग में देश की सारी जनता का लाभ है। कुशल उद्योगपतियों का सदा यह प्रयत्न रहता है कि धन्धों में ऐसे सुधार किये जाय जिनसे उत्पादन का व्यय घटे और वह अपना माल दूसरे उत्पादकों के मुकाबले व दाम-विशेष मे सस्ते मूल्य में बेचकर अधिक लाभ उठा सकें। सुधरे हुए धन्धों पर काम करनेवाले मजदूरों की मजदूरी भी

अधिक दी जाती है। ग्राहकों को अधिक अच्छी और सुन्दर चीजें सस्ते मूल्य में मिलने लग जाती हैं। इस प्रकार उत्पादन-सम्पत्ति को बढ़ाने की ओर अधिक ध्यान देने से सारे राष्ट्र को लाभ होता है।

इसलिए यह जरूरी है कि यह उत्पादन-अभियान केवल उद्योगों तक ही सीमित न रहे। यह सारे अर्थ-क्षेत्र में काम करे। वास्तव में हमारे देश में अन्नोत्पादन के बढ़ाने पर आर्थिक संयोजन में सबसे अधिक और पहले ध्यान देना जरूरी है। हम आशा करते हैं कि कृषि और खाद्य-मन्त्रालय भी इसपर विचार करेगा। व्यापार-उद्योग-मंत्रालय के साथ मिलकर अन्य क्षेत्रों में इसी प्रकार उत्पादन बढ़ाने की भी कोई सम्मिलित योजना बनाएगा। अभी तो आनेवाले कई वर्षों तक भारत मुख्यतः कृषि-प्रधान देश ही रहने-वाला है परन्तु जनता को रोजी देकर उसके रहन-सहन को ऊपर उठाने के लिए हमें ग्रामीण क्षेत्रों में छोटे-छोटे और ग्रामोद्योगों तथा गृहोद्योगों का जाल फैला देना होगा। इस दृष्टि से खेती और उद्योग के क्षेत्र को हमें भारत में खूब मजबूत बना देना चाहिए। इसलिए हमें खेती के उत्पादन पर भी ध्यान देना है और सारे देश में घरों पर और दुकानों पर काम करने वाले छोटे-छोटे कारखाने भी फैला देने हैं ताकि लोगों को रोजी मिले और औद्योगिक उत्पादन भी बढ़े। इस प्रकार खेती और उद्योगों की बुनियाद को हमें खूब मजबूत करना है। इसलिए इनको सम्मिलित और समन्वित रूप से अर्थात् सहयोग के साथ आगे बढ़ना चाहिए। योजना आयोग को संयोजन की सफलता की दृष्टि से इसपर विचार करना चाहिए।

एक बात और है जिसपर इस विषय में सावधानी के साथ विचार होना चाहिए। खेती और उद्योगों का उत्पादन बढ़ाने के प्रति उत्साह में हम कहीं इस प्रश्न के मानवी पहलू को न भुला दें। हमारे संयोजन के रथ के दो पहिये हैं—उत्पादन और सब मनुष्यों को पूरा श्रम देना। यदि इन दो में से एक भी पहिया कमजोर रहा तो अपनी आर्थिक योजनाओं में ठीक प्रगति नहीं कर सकेंगे। यह सच है कि इस युग में यन्त्र-शास्त्र और विज्ञान के आविष्कारों का पूरा-पूरा लाभ उठाकर हमें उत्पादन में उनका उपयोग करना चाहिए, परन्तु हमें सदा याद रखना चाहिए कि श्रम को

पूर्ण बनाने की धुन में हम कहीं मनुष्य को पंगु अथवा बेकार न कर दें। मनुष्य का सबसे अधिक ध्यान रखें। राष्ट्रीय उत्पादन-वृद्धि-आन्दोलन का समारम्भ करते हुए केन्द्रीय उद्योग-मन्त्री ने कहा था कि उत्पादन-वृद्धि के इस अभियान में इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा जायगा कि यान्त्रिक सुधार के कारण कहीं बेकारी न बढ़ने पावे। परन्तु इतना ही काफी नहीं है। लक्ष्य अधिकाधिक लोगों को काम देने का रहे। इसलिए कोई ऐसा भी संगठन या तन्त्र निर्माण किया जाना चाहिए, जो उत्पादन-वृद्धि के साथ अधिकाधिक लोगों को काम दिला सके। स्थानीय उत्पादन-मण्डल इस बात का पूरा ध्यान रक्खें और समय-समय पर आवश्यक उपाय-योजना भी करते रहें।

हमारा सुझाव है कि ये उत्पादन-मण्डल उद्योगों में सुधरे हुए यन्त्रों को लगाने से पहले यह देख लें कि नये यन्त्र लगाने से कहीं आदमी बेकार तो नहीं होंगे। यदि ऐसा हो तो पहले उनको दूसरा काम देने का प्रबन्ध कर दें।

जमाना तेजी से आगे बढ़ रहा है। इसमें उत्पादन के पुराने साधनों को लेकर हम खड़ा नहीं बैठे रह सकते परन्तु नये यन्त्रों के लगाने से बेकारी आती है। इसलिए संयोजकों का पहला और पवित्र कर्तव्य यह है कि समाज में बेकारी न बढ़े इसका वे ध्यान रखें। बेकारी से दुःख बढ़ता है। प्रत्येक लोकतन्त्री राज्य में राष्ट्र के हर नागरिक को—जिसका शरीर काम करने लायक है—*काम मिलना ही चाहिए, जिससे वह सम्मान* के साथ अपने पैरों पर खड़ा रह सके। यह उसका जन्म-सिद्ध अधिकार है और राष्ट्र के संयोजकों का यह कर्तव्य है कि वे इसका प्रबन्ध करें। आर्थिक संयोजन के इस मानवी पहलू का ध्यान रखना भारत जैसे कम विकसित देश में और भी जरूरी है। यदि मनुष्य-शक्ति का इस प्रकार उपयोग करने का ध्यान नहीं रखा गया और केवल उत्पादन ही बढ़ाते गये तो उससे बेकारी बढ़ेगी और बेकारी का अर्थ है मनुष्य का पतन और बहुत खारी दुःख।

चावल की मिलों का उदाहरण लीजिये। कुछ वर्ष पहले भारत में खाये जानेवाले चावलों का ८० प्रतिशत हाथ-कुटाई से तैयार किया जाता

था परन्तु पिछले कुछ वर्षों में चावल की मिलें इतनी बढ़ गई हैं कि अब यह प्रतिशत बहुत गिर गया है और देहात में बेकारी बहुत ही बढ़ गई है। इसी प्रकार तेल की मिलों ने देहात की हजारों घानियों को बेकार कर दिया है। हम नहीं चाहते कि चावल के छिलके निकालने या तेल निकालने के वे ही पुराने तरीके सदा काम में लाये जायं। उनमें सुधार करना अत्यन्त आवश्यक है ताकि वे जल्दी और अधिक अच्छा काम कर सकें परन्तु हमें यन्त्रों के और मनुष्यों के उपयोग में पूरे विवेक और सन्तुलन से काम लेना चाहिए। योजना-आयोग का यह मुख्य काम है। उसका यह कर्तव्य है कि अधिक-से-अधिक उत्पादन के साथ-साथ अधिक-से-अधिक मनुष्यों को काम किस प्रकार दिया जाय ऐसा आर्थिक संयोजन करें। जो संयोजन-तन्त्र इस संतुलन को नहीं साध सकता है उसके हाथों में इस देश में या अन्य किसी देश में करोड़ों के भाग्य की बागडोर नहीं सौंपी जा सकती।

दूसरी पंचवर्षीय योजना में करीब एक करोड़ नये आदमियों को विभिन्न क्षेत्रों में रोजी मिलने का प्रबन्ध किया गया है। हम नहीं जानते कि इसकी देखभाल करने के लिए योजना-आयोग ने कोई समिति नियुक्त की है या नहीं और कि सारे देश में और उत्पादन के अलग-अलग क्षेत्रों में सदा इस बारे में किस प्रकार प्रगति हो रही है। गुजरे हुए सालों के अनुभव से यह सम्भव है कि अगले कुछ वर्षों में उत्पादन काफी बढ़ जाय। सचमुच यह अच्छी बात है क्योंकि जबतक देश की सम्पत्ति नहीं बढ़ेगी हमारा जीवन-स्तर ऊंचा नहीं उठेगा। परन्तु खेती और उद्योगों का उत्पादन बढ़ाने की चिन्ता में यदि संयोजन में लोगों को रोजी देने के पहलू पर भी हम आवश्यक ध्यान नहीं देंगे तो अपने बुनियादी कर्तव्य के पालन में हम बुरी तरह असफल सिद्ध होंगे। इसलिए हमारे संयोजन के द्वारा अधिकाधिक आदमियों को काम मिलता जाता है और मिलता जायगा या नहीं इसका सदा ध्यान रखनेवाला कोई तन्त्र रखना अत्यन्त आवश्यक है।

अधिक उत्पादन और साथ ही अधिकाधिक लोगों को काम भी मिलता रहे इसके लिए आर्थिक विकास की योजनाओं के अमल को विकेन्द्रित करना बहुत आवश्यक है। केन्द्रित संयोजन में कड़े अनुशासन का दोष आ जाता है, जिसके कारण स्थानीय जरूरतों की तरफ ध्यान नहीं जा

पाता। इसलिए बहुत अच्छा हो यदि हम अपने संयोजन को जिलों के स्तर तक विकेन्द्रित कर दें। जिला-विकास-परिषदें अपने-अपने क्षेत्र की उत्पादन उपयोग और काम देने-सम्बन्धी जरूरतों को मालूम करके उनका उचित प्रबन्ध बहुत अच्छी तरह कर सकेंगी। दूसरी पंचवर्षीय योजना में ऐसी विकास-परिषदों की नियुक्ति पर काफी जोर दिया गया है। परन्तु जरूरत है विकेन्द्रित उत्पादन की योजना पर देश में सबसे अधिक जोर देने की। सच तो यह है कि हम अपने आर्थिक जीवन की ठेठ जड़ में—अर्थात् ग्राम तक—पहुंचना चाहिए। परन्तु वर्तमान परिस्थितियों में यह न इष्ट है और न सम्भव ही। परन्तु हम अपने आर्थिक जीवन का संयोजन ऐसा अवश्य कर सकते हैं कि हमारे सामाजिक जीवन की जितनी भी इकाइयां अपने सर्वांगीण विकास की जिम्मेवारी समझ सकें और उसपर अमल कर सकें अवश्य कर लें। लोकतन्त्र की पद्धति में जनता का सहयोग प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि स्थानीय नेतृत्व को प्रोत्साहन दिया जाय। इसके लिए व्यापक विकेन्द्रीकरण आवश्यक है, क्योंकि उसके बगैर लोगों में भीतर से उत्साह पैदा ही नहीं होगा।

हम आशा करते हैं कि योजना-आयोग और भारत-सरकार के विविध मन्त्रालय इनसब प्रश्नों पर समन्वित रूप से विचार करेंगे ताकि भारत अपने आर्थिक संयोजन और उसपर अमल करने का कोई ऐसा नमूना तैयार कर सके जो उसकी समस्याओं को हल कर सके और अन्य देशों का भी मार्ग-दर्शक बन जाय। दूसरे देशों की विधि और पद्धतियों की केवल नकल करने से हमारा काम नहीं चलेगा। भारत की अपनी प्रकृति अलग है। हमें अपने आर्थिक विकास की योजना उसके अनुरूप ही बनानी चाहिए। गांधीजी ने राजनैतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति का मार्ग हमको बताया था। विनोबा आर्थिक क्षेत्र में यही काम कर रहे हैं। हमें गांधीजी और विनोबा के अनुभव और मार्ग-दर्शन का पूरा लाभ उठाकर भारत के आर्थिक संयोजन का उपयुक्त और समुचित तरीका ढूंढ लेना चाहिए।

१५

भूदान-यज्ञ का अर्थशास्त्र

सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार भारत की कुल आबादी ३५.६८ करोड़ थी। इनमें से ४.४८ करोड़ बेतिहर मजदूर हैं जिनके पास जमीन नहीं परन्तु दूसरे की जमीन पर काम करते हैं और ५१ लाख मनुष्य ऐसे हैं, जिनकी जमीन होने पर भी वे उसपर काम नहीं करते। वे केवल जमीन का मुनाफा भरते हैं। देश में कुल खेती योग्य जमीन कोई तीस करोड़ एकड़ है। इसमें परती की और खेती योग्य बंजर जमीन भी मिल ली गई है। जैसा कि हम सब अच्छी तरह जानते हैं हमारे यहां औसत जोत का आकार दूसरे अनेक देशों की तुलना में बहुत छोटा है। उत्तर प्रदेश में औसत खाता ६ एकड़ का है वहां मद्रास में ४.५ एकड़ का बंगाल में ४.४ एकड़ का पंजाब में दस एकड़ का बिहार में ४.५ एकड़ का और मध्य प्रदेश में ८.१ एकड़ का है। यदि पच्चीस एकड़ को अधिकतम सीमा मान लिया जाय तो प्रत्येक राज्य में इससे अधिक जमीनें कितने आदमियों के पास हैं इसके सही-सही आंकड़े प्राप्य उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि पच्चीस एकड़ से ऊपरवाले खातों की जमीन कुल मिलाकर काफी हो सकती है। यह जमीन बेजमीन मजदूरों को बांटी जा सकती है और ग्रामीण क्षेत्रों के लोगों में जमीन की जो स्वाभाविक भूख है उसको कुछ संतुष्ट किया जा सकता है। आचार्य विनोबा भावे के भूदान-यज्ञ-आन्दोलन की बुनियाद में यही सबसे पहला सिद्धान्त है। गावों में रहनेवाले लोगों के दिलों में जल और वायु के समान जमीन की भूख का होना बिल्कुल स्वाभाविक और उचित है। माता प्रकृति की देन के रूप में जमीन पाने का भी उन्हें हर प्रकार से हक है।

इसलिए किसी भी परिवार के पास केवल उतनी ही जमीन हो जितनी उसके लिए आवश्यक अन्न पैदा करने के लिए जरूरी हो। इससे अधिक जमीन रखने का किसीको अधिकार नहीं। इस नैतिक सिद्धान्त के पालन के लिए तथा संविधान में लिखित राज्य के मार्गदर्शक सिद्धान्तों के पालन के लिए भी राज्य को चाहिए कि वह जितनी भी जल्दी सम्भव हो, बेतिहर

मजदूरों में व्यापक रूप से जमीन बांट दे। भारत में एक आमदायक खाते का आकार पांच से लेकर दस एकड़ तक माना गया है। इस हिसाब से खाते की अधिकतम सीमा पच्चीस एकड़ अनुचित नहीं कही जा सकती।

तो इस जमीन का वितरण किस प्रकार हो ? साम्यवादी देशों में जमींदारों से जमीनें छीन ली गई हैं और उन्हें कोई मुआवजा नहीं दिया गया है। परन्तु भारत के संविधान में मौलिक अधिकारोंवाली धारा के अनुसार तो राज्य को भी जमीनें लेने पर उनका मुआवजा देने के लिए बाध्य किया गया है। परंतु सभी जानते हैं कि मुआवजे की दरें चाहे कितनी ही कम मुकर्रर की जायें इसकी कुल रकम मिलकर इतनी बड़ी—करोड़ों-अरबों की—हो सकती है कि भारत जैसा गरीब देश वह नहीं चुका सकता। तो फिर उपाय क्या हो? आचार्य विनोबा साम्यवाद की इस चुनौती का जवाब देने की कोशिश कर रहे हैं। वह इस प्रकार कि अहिंसा के मार्ग से जमींदारों को राजी किया जा सकता है कि वे अपने पास की अतिरिक्त जमीनें बगैर कोई मुआवजा लिये बेजमीन मजदूरों को दे दें। जैसा कि रॉबर्ट ट्रम्बल ने 'न्यूयॉर्क टाइम्स' पत्र में लिखा है "विनोबा गांव-गांव घूमकर लोगों को समझा रहे हैं कि जिनके पास बहुत अधिक जमीन है, वे अपना कुछ हिस्सा उन लोगों को दें जिनके पास कुछ भी नहीं है। विनोबा की इस अनोखी हलचल ने लाखों-करोड़ों गरीबों और अमीरों को भी आकर्षित और प्रभावित किया है, और वे 'भूमि के दाता भगवान' माने जाने लगे हैं। यह सच है कि जमीन की यह समस्या बहुत बड़ी है और यह अकेले विनोबा से हल नहीं होगी परन्तु उनकी यह हलचल जमीन-सम्बन्धी सुधार के कानून के लिए वातावरण बनाने का बहुत महत्वपूर्ण काम कर रही है। इसके अलावा विनोबा का भूदान-यज्ञ-आन्दोलन भारत में साम्यवादी हलचलों का करारा जवाब भी है।

कुछ लोग पूछते हैं इस प्रकार आचार्य विनोबा को जो जमीनें दी जाती हैं उनका बटवारा किस प्रकार होगा ? आचार्य विनोबा का विचार है कि प्रारम्भ में बेजमीन मजदूरों को जमीन की किस्म के अनुसार पांच-पांच दस-दस एकड़ के टुकड़े और साथ में खेती करने के कुछ साधन भी दिये

जाय। फिर सारी जमीन को एकत्र करने के बजाय सहकारिता का तत्व खेती के कामों में—हलने निराई-कटाई आदि में—लागू किया जाय। इसी प्रकार खेती की उपज बेचना बीज यंत्र और खाद खरीदना आदि के लिए भी सहकारी-समितियां बना ली जायं। इस पद्धति से एक तो लोगों की जमीन-सम्बन्धी भूख शान्त होगी और दूसरे, हर परिवार अलग-अलग मन लगाकर काम करेगा तो काम भी अधिक होगा और उपज भी अधिक आवेगी। कुछ लोग कहते हैं कि पारिवारिक पद्धति से खेती करने की अपेक्षा बड़े-बड़े खेतों की खेती अच्छी और अधिक लाभदायक होती है, परन्तु यह ठीक नहीं। विनोबा की बात कोई भावुकता में कही गई बात नहीं है। वह प्रत्यक्ष मनुष्य-स्वभाव और मानस-शास्त्र के अध्ययन के आधार पर कही गई है। बड़े-बड़े अर्थशास्त्री और प्रत्यक्ष अनुभव भी यही कहता है।

मी सी एन वकील ने अपनी 'प्लानिंग फॉर ए शार्टेज इकॉनामी' नामक पुस्तक में लिखा है, 'देश को जिन चीजों की सबसे पहले जरूरत है, उनमें से एक है जमीन का पुन -वितरण। जहां खेती मुख्य उद्योग नहीं है, ऐसे देशो में बड़े-बड़े कारखानों का भले ही महत्व हो परन्तु जहां खेती को जीवन में स्थान है, वहां लोग जमीन-सम्बन्धी ऐसे किसी सुधार को बरदाश्त नहीं करेंगे जिसमें जमीन के पुन -वितरण और बड़-बड़े खेतों को छोटे-छोटे भागो मे तोड़ने की व्यवस्था नहीं होगी। अब लोग इतने बेखबर नहीं हैं। दूसरे देशो में जमीन-सम्बन्धी सुधार कितने आगे बढे हुए हैं, इसका उनको पता है।

सर मालकम डार्लिंग का यूगोस्लाविया की सहकारी खेती पर एक लेख मैन्चेस्टर गार्जियन मे छपा है, जिसमें वह लिखते हैं— 'इस प्रयोग ने न केवल किसानो को आपस मे लड़ा दिया है, बल्कि राज्य और किसानों को भी आपस में लड़ा दिया है। सामूहिक खेती में भी खानगी खेतों की अपेक्षा उपज बहुत अधिक नहीं होती क्योंकि सामूहिक खेती में बीज सरकारी नौकरी झगड़े काम की टालमटूल और समय का अपव्यय भी होता है।

प्राध्यापक मिट्रानी ने हाल ही मे लिखी अपनी किताब 'मार्क्स अगेंस्ट पेजेंट' मे बताया है कि मार्क्स ने बड़े-बड़े कारखानों की बड़े जोरों से हिमायत की है, परन्तु फिर भी पूर्वी यूरोप में आज भी छोटे-छोटे खाते

की रही है। डा. मिट्रानी की राय है कि यदि कहीं सामूहिक खेती सफल हुई भी है तो वह कुल मिलाकर महंगी ही पड़ती है क्योंकि वह जमीन को नि:सत्व बना देती है। खेती के प्रत्यक्ष अनुभव से यह बिल्कुल साफ होजाता है कि सामूहिक और यान्त्रिक खेती से जमीन की पैदावार फी व्यक्ति भले ही बढ़ जाती हो, परन्तु फी एकड़ वह नहीं बढ़ती।

श्री मार्टिनम अपनी 'दि स्मॉल फार्मर' नामक किताब में साफ लिखते हैं—

"मनुष्य की स्वाभाविक मर्यादाएं और अन्य प्राकृतिक कारणों पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि संपत्ति का फी एकड़ (लागत और उत्पादन) अनुपात खेत के आकार के उलटा पड़ता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य में सदा और जोरदार इच्छा रहती है कि वह जमीन पर स्वतन्त्रतापूर्वक काम करे।

अपनी संसार-यात्रा के सिलसिले में मैं जापान भी गया था और मुझे वहां के छोटे-छोटे सुन्दर खेत जिनका आकार औसतन २ ५ एकड़ होता है देखने का अवसर मिला था। चीन में भी वहां की साम्यवादी सरकार ने बड़े खेतों को तोड़कर छोटे-छोटे टुकड़े बना दिये हैं और वे प्रत्यक्ष जोतनेवालों को दे दिये हैं। सिंचाई के लिए राज्य ने हजारों कुएं खुदवा दिये हैं। इस प्रकार भावपाशी से अधिक फसलें लेकर और लगभग बगैर बैलों की सहायता की खेती से चीन और जापान भारत से तिगुनी फी एकड़ उपज ले रहे हैं।

संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत रूस में बड़े पैमाने पर खेती होती है क्योंकि वहां आबादी के अनुपात में जमीन का क्षेत्रफल यूरोप, चीन जापान और भारत की अपेक्षा बहुत अधिक है। वहां बड़े-बड़े फार्मों और यान्त्रिक खेती के बगैर चारा ही नहीं है, क्योंकि जमीन बहुत है और मजदूर बहुत कम हैं। फिर भी संयुक्त राज्य अमरीका में वहां केवल अठारह प्रतिशत लोग खेती में लगे हुए हैं लोग छोटे-छोटे खेत पसन्द करने लगे हैं क्योंकि अब बहुत-से लोगों को जमीन पर काम करने का और देहात में प्रकृति के बीच रहने का शौक होने लगा है।

सोवियत रूस सामूहिक खेती का घर है परन्तु वहां खेती के इस सामूहीकरण का किसानों ने बड़ा ज़ोरदार विरोध किया था। डोरीन वॉरीनर ने अपनी पुस्तक 'रेवोल्यूशन इन ईस्टर्न यूरोप' में लिखा है कि सोवियत रूस के इस प्रयोग में बहुत-से कड़वे सबक भरे पड़े हैं। वह लिखते हैं—

"सामूहीकरण का परिणाम था दो वर्ष का अकाल और बहुत-से मवेशियों का वध जिसकी पूर्ति अगले दस वर्ष तक नहीं हो सकी।

कोलखोज़ (सामूहिक खेत) के अतिरिक्त रूस में ऐसे हर बड़े खेत पर काम करनेवाले मजदूर को आधे एकड़ से लेकर ढाई एकड़ तक का ज़मीन का एक छोटा-सा टुकड़ा स्वतन्त्र दिया जाता है, जिसपर वह जो चाहे वह कर सकता है। इस छोटे-से टुकड़े पर रूसी किसान अपने परिवार की जरूरत की चीजें बोते हैं और दिल लगाकर मेहनत करते हैं। जैसा कि 'दि लैण्ड ऐण्ड दि पेजेण्ट इन रूमानिया' के लेखक ने लिखा है वास्तविकता यह है कि खेत का आकार ज्यों-ज्यों बड़ा होता जाता है, फी एकड़ उपज का परिमाण अनेक कारणों से घटता जाता है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि इन छोटे-छोटे खेतों में सहकारिता की कोई गुंजाइश नहीं है बल्कि सच तो यह है कि ऐसे किसानों को अपने खेती के कामों में आपस में खूब सहयोग करना चाहिए। इससे बड़ा लाभ है। अपने खेतों को वे मिलायें नहीं परन्तु कामों में अर्थात् जुताई-सिंचाई फसल की कटाई, बेचना अपनी निजी तथा खेती की जरूरी चीजें खरीदना इन सबमें वे एक-दूसरे की पूरी मदद कर सकते हैं। वे सहकारी बैंक स्थापित करके सहकारी कर्ज का प्रबन्ध कर सकते हैं मवेशी की बीमारी अकाल अतिवर्षा आदि से बचने के लिए कोई बीमा-योजना बना सकते हैं अथवा सिंचाई अतिरिक्त पानी की निकासी बूचड़खाना पशु-पालन और फसलों का संयोजन आदि कार्य ग्राम-सभा की सहायता से सहकारिता के आधार पर कर सकते हैं। खेत बहुत छोटे हों तो उनको मिलाकर एक बड़ा खेत भी बना सकते हैं।

बेजमीन मजदूरों में बेकारी कम करने तथा उनकी जमीन-सम्बन्धी भूख को शान्त करने के लिए भी जमीन का बड़े पैमाने पर पुनर्वितरण

आवश्यक है। विनोबा का भूदान-आन्दोलन सद्भाव और सहानुभूति-पूर्वक बगैर मुआवज़े के धनवानों से गरीबों को जमीन दिलाने के लिए वातावरण बनाने का महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है। यह वातावरण ही देश को खूनी क्रान्ति से बचा सकता है, जिसके लिए साम्यवादी इतने उतावले हो रहे हैं।

इस दृष्टि से आचार्य विनोबा का भूदान-यज्ञ-आन्दोलन केवल भारत की नहीं समस्त संसार की एक ज़बरदस्त समस्या को सुलझाने की दिशा में एक अत्यन्त महान कार्य है। इस निःशस्त्र क्रान्ति के बीज सारे देश में बोने में आचार्य को बहुत भारी सफलता मिली है। इस कार्य की महत्ता को आज शायद हम पूरी तरह नहीं पहचान पायें परन्तु इसमें कोई शक नहीं कि आज सत् और असत्, हिंसा और अहिंसा तथा शान्त नवनिर्माण तथा विनाशकारी पागलपन के बीच संसार में जो महान संघर्ष छिड़ा हुआ है उसमें विनोबा का यह भूदान-आन्दोलन एक ज़बरदस्त शक्ति के रूप में इतिहास में सदा याद किया जायगा।

११
ग्रामदान की क्रान्ति

केरल के कालडी ग्राम में हुए सर्वोदय-सम्मेलन ने ग्रामदान-आन्दोलन से उत्पन्न होनेवाली बहुत बड़ी-बड़ी सम्भावनाओं को सारे देश के सामने रख दिया है। भारत में ज़मीन का प्रश्न कठिन और अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसके हल का इसमें एक सुन्दर रास्ता मिल जाता है। प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने इस आन्दोलन का यह कहकर स्वागत किया था कि सहकारी खेती के प्रयोग के लिए यह आन्दोलन आदर्श वातावरण तैयार करने का काम करेगा। इस आन्दोलन के अनेक पहलुओं पर आचार्य विनोबा से चर्चा करने का अवसर मुझे मिला था। इसलिए इस नवीन और क्रान्तिकारी हलचल की एक साफ तस्वीर देना उपयोगी होगा।

प्रारम्भ में आचार्य भावे ने हर किसान से उसकी जमीन का केवल छठा हिस्सा गांव के बेज़मीन मजदूरों के लिए भूदान में देने की मांग की थी। इस प्रकार विनोबा अभी तक लगभग पैंतालीस लाख एकड़ ज़मीन

भूदान में प्राप्त कर चुके हैं। परन्तु उत्तर प्रदेश, बिहार और बाद में उड़ीसा तथा तामिलनाड के कुछ ग्राम-वासियों ने अपनी सारी-की-सारी छोटी बड़ी जमीनें पुनर्वितरण के लिए विनोबा को भूदान में देना स्वीकार कर लिया। भूदान-आन्दोलन के इस नवीन रूप को ग्रामदान कहा गया है। विनोबा इस ग्रामदान-आन्दोलन को अहिंसा के क्षेत्र में एक महान क्रांति मानते हैं और कहते हैं कि इसका महत्व बहुत गहरा है। कल्पना तो कीजिये कि एक गांव के सारे जमींदार-किसान अपनी जमीनों का स्वामित्व स्वेच्छापूर्वक छोड़ देते हैं और फिर इन जमीनों का बंटवारा प्रत्येक को उसके घर के मनुष्यों की संख्या के अनुसार सबकी सम्मति से किया जाता है। यह कितनी बड़ी बात है। कितना बड़ा त्याग है सहयोग की कितनी गहरी भावना है। मनुष्यों के दिलों और दिमागों को बदलनेवाली इससे भी बढ़ कर और अधिक आश्चर्यजनक कोई क्रान्ति हो सकती है? कोरापुट में एक किसान के पास चौबीस एकड़ जमीन थी परन्तु ग्रामदान के बाद जमीनें फिर से बांटी गई तब उसे केवल साढ़े तीन एकड़ जमीन ही मिली और एक-दूसरा बेजमीन मजदूर था उसे पांच एकड़ जमीन मिल गई, क्योंकि उसके यहां अधिक मनुष्य थे और खूबी यह कि इस चौबीस एकड़ के दाता ने साढ़े तीन एकड़ का दान बड़ी कृतज्ञतापूर्वक और समर्पण की भावना से विनोबा के हाथ से लिया।

ग्रामदानी गांवों में कुल रकबे का दसवां हिस्सा सहकारी पद्धति की सम्मिलित खेती के लिए रक्खा जाता है। इसकी उपज को गांव के सार्वजनिक कामों में जैसे पंचायत-शासन पाठ्शाला सूतिका-गृह, सफाई, सांस्कृतिक कार्यक्रम और ग्राम के अन्य उत्सव-कार्यों में खर्च किया जाता है। यदि गांव के लोगों की इच्छा हो तो सारे गांव की जमीनों की काश्त सहकारी पद्धति से कर सकते हैं। विनोबा इस प्रकार की सहकारी खेती को पसन्द करते हैं परन्तु वे इसमें किसीपर जबरदस्ती नहीं करना चाहते। सब काम खुशी-खुशी हो। यदि गांव के लोग गांव की सारी जमीन को दो तीन या चार, पास-पास के गांवों में बांटकर सहकारी खेती करना चाहें तो ऐसा भी कर सकते हैं। मुख्य कल्पना यह है कि सहकारी खेती के भाग इतने बड़े न हों कि इसमें काम करनेवाले परिवार आपस में निकट का

सम्बन्ध न रख सकें। सहकारी खेती पूर्णतः स्वेच्छा की वस्तु हो ऊपर से लादी न जाय। ग्रामीणों को सहकारिता के लाभ समझा दिये जायें और प्रारम्भ में प्रयोग भी करके दिखा दिया जाय। इससे बहुत लाभ होगा। वे इसके लाभ को अपने-आप समझ जायेंगे।

यदि सारे गांव की जमीनों को या उसके दो-तीन बड़े-बड़े भाग करके उनको सहकारी पद्धति पर सम्मिलित तौर पर काश्त करना सम्भव नहीं हो तो सब परिवारों को अलग-अलग जमीनें दे दी जायं। ये केवल उपयोग के लिए होंगी। इनपर उनका जाती स्वामित्व नहीं होगा। इन जमीनों को न वे बेच सकेंगे और न रहन रख सकेंगे। इन परिवारों के पास ये तभी तक रहेंगी जबतक समस्त ग्राम की योजना के अनुसार वे इनकी अच्छी तरह काश्त करेंगे। इन परिवारों से आशा की जायगी कि वे भले ही सम्मिलित रूप से खेती न करें, परन्तु खेती की विविध प्रक्रियाओं में पूरी तरह से एक-दूसरे को सहयोग दें अर्थात् जोतना, सिंचाई, कटाई, बिनाई आदि देना फसल को बेचना इत्यादि कामों में वे एक-दूसरे की मदद करें। इस प्रकार की पारस्परिक मदद भी एक प्रकार की सहकारिता ही समझी जायगी परन्तु मुख्य बात यह है कि सारी जमीन गांव की होगी परिवारों की जाती नहीं। प्रत्येक परिवार से ग्राम-सभा जमीन का किराया वसूल करके शासन को दे दिया करेगी।

विनोबा की राय है कि खेत या जोत के आकार के अनुसार जमीन का उत्पादन नहीं घटता-बढ़ता। भारत जैसे देश में गहरी (इंटेन्सिव) खेती करना बहुत जरूरी है। केवल जमीन के टुकड़े बहुत छोटे न हों और बीच में मेड़ें बनाकर जमीन बेकार भी न जाने दी जाय। जापान में जमीनों को अलग-अलग बताने के लिए प्रत्येक खेत की सीमा पर अलग रंग की फसल बो दी जाती है। भारत में ऐसा किया जा सकता है। इसके अलावा खेती के जितने भी कामों में सम्भव है सहकारी पद्धति से काम लिया जाय।

जो-जो ग्राम अपनी सारी जमीनों को सहकारिता की पद्धति पर जोतने के लिए तैयार हों उनका हम स्वागत करें और उस गांव की ग्राम-सभा को लागत-खर्च सिंचाई, अच्छे बीज आदि की सुविधाएं देकर उन्हें प्रोत्साहन दें। ग्रामवासी क्षेत्रों में सामुदायिक विकास-योजनाएं खास तौर पर कोशी

जाएं या वे खास तौर पर अधिक सुविधाएं दें। पश्चिम के देशों में सामूहिक खेती का प्रयोग असफल रहा है क्योंकि वहां यह किसानों की इच्छा के विरुद्ध उनपर लादी गई थी। यदि ग्रामदानी गांवों में लोग अपनी इच्छा से सामुदायिक सहकारी खेती करना पसन्द करें तो निश्चय ही वह सफल होगी। मुद्दे की बात है कि सहकारिता में लोगों को विश्वास हो और पूरा उत्साह हो।

ग्रामदानी गांवों की ग्राम-सभाओं में प्रत्येक परिवार का एक प्रतिनिधि होता है। इन ग्राम-सभाओं में प्रत्येक काम जैसे सहकारी खेती कानूनी प्रश्न अन्य विकास-कार्यक्रम आदि के लिए अलग-अलग समितियां होती हैं। सभा में जहांतक सम्भव हो निर्णय सर्वसम्मति से ही होते हैं। विनोबा बहुत पसन्द करें कि शासन और सामुदायिक विकास-योजना में इन ग्राम दानी गांवों की मदद करे और अपनी सामुदायिक विकास-योजनाएं तथा राष्ट्रीय विकास-खण्डों की प्रवृत्तियों को इनके काम के साथ जोड़ दिया जाय। वह बहुत चाहते हैं कि राज्य सरकार जल्दी-से-जल्दी ऐसे कानून बना दें जिनसे ग्रामदानी गांवों को कानूनी मान्यता दे दी जाय ताकि शासकीय कर्ज और सहायताएं आदि उन्हें मिलने में आसानी हो जाय और ग्राम-सभा के द्वारा गांव का लगान सरकारी खजाने में अदा किया जा सके। अभी ग्रामदानी गांव को कई प्रकार की निश्चित असुविधाएं हैं। उदाहरणार्थ यदि कोई किसान अपनी जमीन भूदान में देता है तो राज्य की सरकार और सहकारी विभाग उसे तकावी या अन्य कर्ज देने से इन्कार कर देते हैं। जमीन का दान हो जाने पर भी शासकीय कर्मचारी लगान के लिए उसी व्यक्ति के पीछे पड़े रहते हैं। यदि शासन 'ग्रामदान' को कानून द्वारा मान्यता दे दे और वह ग्राम-सभा द्वारा लगान वसूल कर लिया करे और उसीको कर्ज तकावी वगैरा भी देने लग जाय तो ये कठिनाइयां दूर हो सकती हैं।

विनोबा की यह भी बहुत इच्छा है कि अब ये ग्रामदानी गांव नवीन प्रकार का जीवन शुरू कर दें। जमीन के पुनर्वितरण के साथ जीवन के पुराने मूल्य भी बदल जायं। नवीन ग्राम-रचना में वे चार बातों पर अधिक जोर देते हैं—

१ जमीन का न्याय-पूर्वक पुनर्वितरण और सहकारी खेती।
२ ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहन और उनका विकास।
३ बुनियादी शिक्षा का प्रारम्भ।
४ भारतीय पद्धति से और औषधियों के उपयोग द्वारा स्वास्थ्य-रक्षा।

इसके अलावा भी गांवों के नव निर्माण के अनेक दूसरे काम हैं। परन्तु ये चार अर्थात् भूदान, ग्रामोद्योग, बुनियादी शिक्षा और आरोग्य नवीन ग्राम-रचना के आधार-स्तम्भ हैं। विनोबा यह भी बहुत चाहते हैं कि ग्रामीणों को अपनी सूझ-बूझ का विकास करने तथा अपनी योजनाएँ खुद बनाने का मौका देना चाहिए। अवश्य ही राज्य इसमें उनकी मदद करे, परन्तु गांवों को बहुत अधिक आर्थिक और राजनैतिक सत्ता देने की जरूरत है। विनोबा की राय है कि यदि हम सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना करना चाहते हैं तो हमें ग्रामराज स्थापित करने की दिशा में तुरन्त कदम उठाने चाहिए। वह कहते हैं, 'जिस परिमाण में सत्ता सरकार के पास से ग्रामीणों के हाथों में आयगी उसी परिमाण में अहिंसा बढ़ेगी और शासन की सत्ता कम होते-होते अन्त में वह अदृश्य हो जायगा।

इस प्रकार भूदान और ग्रामदान का आन्दोलन दिन-ब-दिन अधिकाधिक क्रान्तिकारी रूप धारण करता जा रहा है। सच तो यह है कि सर्व सत्तावाद (टोटॅलिटेरियनिज्म) की चुनौती का यही सबसे जोरदार और अधिक सच्चा जवाब है। यह जीवन के मूल्यों में ही क्रान्ति कर रहा है और यह सब हुआ वर्ग-संघर्ष और हिंसा से नहीं, अहिंसा लोकतन्त्र और हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया के द्वारा। इसके अलावा भूदान और ग्रामदान का आन्दोलन सबसे पिछड़े हुए और गरीब-से-गरीब लोगों पर असर डालने की शक्ति रखता है। शासक तो केवल उन्हीं लोगों को कर्ज दे सकता है, जिनके पास जमीन या अन्य किसी प्रकार की जायदाद है। जिनके पास कुछ नहीं है, उन्हें राज्य से अबतक कोई मदद नहीं मिल सकी है। इस विषय में ग्रामदान हमें एक नया रास्ता दिखाता है। ग्रामराज का सहकारी कार्य गरीब-से-गरीब आदमी की जरूरतें भी पूरी करने का प्रबन्ध सरल करता है। इसीलिए ग्रामदान का आन्दोलन

अधिक-से-अधिक प्रोत्साहन का पात्र है।

१७

करों के सम्बन्ध में नई नीति

राजनैतिक स्वतन्त्रता के बाद भी सच्ची स्वतन्त्रता तो तभी आई कही जा सकेगी जब हम देश में हर आदमी के लिए आर्थिक स्वतन्त्रता भी स्थापित कर सकेंगे। भारतीय संविधान में राजनीति के मार्गदर्शक सिद्धान्तों में लिखा है, 'शासन का कर्तव्य है कि प्रत्येक मनुष्य के लिए वह रोजी उपलब्ध कर दे। और यह भी कि "अर्थ-सम्बन्धी नीति का अमल इस प्रकार न हो कि सम्पत्ति और उत्पादन के साधन इस तरह केन्द्रित हो जाय जिससे सर्वसाधारण का अहित हो। राज्य इस बात का पूरा प्रबन्ध करे कि "बकरत-मन्दों को रोजी का अभाव शिक्षा की कमी और बेकारी वृद्धावस्था बीमारी पंगुता और अन्य प्रकार की अकारण दरिद्रता की अवस्था में शासकीय सहायता मिलती रहे। संविधान का शासन को यह भी आदेश है कि "वह आवश्यक कानून के द्वारा या कोई आर्थिक संघटन निर्माण करके या अन्य किसी प्रकार से ऐसा प्रबन्ध करे कि खेती में उद्योगों में तथा अन्यत्र काम करनेवाले मजदूरों को काम निर्वाह के योग्य मजदूरी अच्छे रहन-सहन के योग्य काम करने की सुविधाएं, फुरसत का पूरा लाभ तथा अन्य सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यक्रमों में भाग लेने के अवसर मिलते रहें और खास तौर पर यत्न करे कि ग्रामीण क्षेत्रों में व्यक्तिगत रूप से या सहकारिता के आधार पर गृहोद्योगों को भी प्रोत्साहन मिलता रहे। प्रकट है कि ये सारी बातें तभी सम्भव होंगी जब हम अपनी वर्तमान अर्थ-रचना को योजना-बद्ध तरीकों से ठीक करेंगे।

आर्थिक संयोजन के तरीके दो हैं एक तो डिक्टेटरशाही का और दूसरा लोकतंत्र का। पहले तरीके में जबरदस्ती से काम लिया जाता है और बड़ी जोरदार सामाजिक उथल-पुथल होती है। दूसरा तरीका शांति का है। इसमें समाज के सभी वर्गों का सद्भाव और सहयोग होता है। भारत ने कल्याण राज्य की स्थापना के लिए दूसरे अर्थात् लोकतंत्री तरीके को अधिक अच्छा माना है। यह मानना गलत है कि डिक्टेटरी पद्धति की अपेक्षा यह

तरीका—बोल्शेवी तरीका—सदा धीमा ही होता है। हमने संतुलित अर्थ व्यवस्था को अपनाने का निश्चय किया है जिस में पूंजीवादी और डिक्टेटर शाही इन दोनों छोरों को छोड़कर मध्यम मार्ग का अवलंबन किया जाता है। राष्ट्र-पिता गांधीजी ने भी स्वतंत्र भारत के लिए इसी मार्ग को अपना बताया था। इस प्रकार के सामाजिक और आर्थिक सुधार लाने के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि जमीन खेती उद्योग वाणिज्य और सार्वजनिक कोष से सम्बन्धित दूरगामी सुधार तेजी से लानेवाले उपयुक्त कानून बनाये जायं।

यह कहना सही नहीं है कि भारत में करों का बोझ पहले ही बहुत भारी है और अब करों को अधिक बढ़ाने की गुंजाइश नहीं है। राष्ट्रीय आय और करों का अनुपात भारत में ७ प्रतिशत है, जब कि श्रीलंका में यह २१ प्रतिशत मिस्र में १६ प्रतिशत संयुक्त राज्य अमरीका में २६ प्रतिशत और इंग्लैंड में ४१ प्रतिशत है। यह भी याद रहे कि भारत में आबादी का केवल १·२४ प्रतिशत आय-कर देता है जबकि इंग्लैंड में ४४ प्रतिशत संयुक्त राज्य अमरीका में १७ प्रतिशत आस्ट्रेलिया में १४ प्रतिशत और कनाडा में २ प्रतिशत लोग आयकर देते हैं। निश्चय ही हमारे देश में करों को बढ़ाने की अभी काफी गुंजाइश है और अभी तो कितनी ही विकास-योजनाएं चल रही हैं। वे लोगों की हैसियत और भी अच्छी कर देंगी। जैसा कि स्वर्गीय श्री रमेशचन्द्र दत्त ने अपने 'इकोनोमिक हिस्ट्री आफ इंडिया' में लिखा है 'कर तो सूर्य की किरणों के समान हैं। वे पृथ्वी से पानी खींचकर वर्षा के रूप में पुनः उसे लौटा देते हैं, जिससे अच्छी फसल आती है। सच तो यह है कि सबकुछ इसीपर निर्भर करता है कि करों का उपयोग किस प्रकार होता है। भारत के लोगों को यदि यह विश्वास हो जाय कि इन करों का उपयोग उन्हींकी और आनेवाली पुश्तों की भलाई के लिए होगा तो उन्हें शक्ति से अधिक कर लगाने पर भी कोई शिकायत नहीं होगी परन्तु इस बात के सिद्धान्त के अलावा लोगों की शक्ति का भी ध्यान अवश्य रखा जाना चाहिए। भारत जैसे अविकसित देश में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों के रूप में जो राज्य-कोष एकत्र किया जायगा वह जनता के सभी वर्गों से इकट्ठा किया जायगा। गरीब मध्यम और धनी वर्ग

के लोगों पर उनकी हैसियत के अनुसार यह बोझ बंट जायगा।

इस समय साधन-संपन्नों और निर्धनों के बीच एक बहुत बड़ी खाई है। इस खाई को तुरन्त एक न्याय-युक्त कर-प्रणाली द्वारा व्यवस्थित रीति से भर दिया जाना चाहिए। अगर गरीबों को यह विश्वास हो जायगा कि शासन अमीरों की अमीरी कम करके समाज में समानता लाने का निश्चय कर चुका है तो वे इस अतिरिक्त बोझ को खुशी-खुशी उठा सकें। हमें मानना होगा कि वर्तमान आर्थिक और सामाजिक रचना ऐसी है कि राजनैतिक स्वतन्त्रता आ जाने पर भी समाज में जो असहनीय विषमताएं हैं वे कम नहीं हुई हैं। फिर गरीबों को आजादी की गरमी का अनुभव कैसे होगा? और जबतक उन्हें इस गरमी का अनुभव होने नहीं लगता उनसे हम यह आशा नहीं कर सकते कि वे नवीन समृद्ध भारत के निर्माण के महान किन्तु कठिन कार्य में प्रसन्नता के साथ योग दे सकेंगे। मेरा सुझाव है कि हमारी आर्थिक नीति का लक्ष्य यह हो कि एक साधारण परिवार की मासिक आय कम-से-कम १) हो और समाज में सबसे अधिक आय इससे बीस गुनी अर्थात् दो हजार मासिक से अधिक न हो। यह भी ध्यान रहे कि यह १ २ का अनुपात कुछ समय के बाद १ १ तक हमें ले आना चाहिए।

इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए मैं कुछ ठोस प्रस्ताव भी रखना चाहता हूं।

१ धनवानों को यह अनुभव करा देना चाहिए कि भारत में यदि लोक-तंत्र को सफल बनाना है तो उनकी शोभा इसीमें है कि वे जनता की भलाई के लिए अधिक करों का बोझ सहकर के अपनी सम्पत्ति कम करने के लिए खुशी-खुशी तैयार हो जायं। यह सच है कि इस देश में १ ५) से ऊपर जिनकी वार्षिक आय है ऐसे व्यक्ति केवल १२८६ हैं। परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि प्रति वर्ष कर वसूल करनेवालों के हाथ से बीस करोड़ रुपये बच जाते हैं। इसलिए सरकार तथा धनवानों को चाहिए कि यह रकम शासकीय कोष में प्रतिवर्ष आ जाया करे। करों को चुराना एक राष्ट्रीय पाप—देश-द्रोह—माना जाना चाहिए और इसलिए उसपर सजा होनी चाहिए।

२ ५) से ऊपर की आमदनियों पर आय-कर और उच्च

कर (सुपर टैक्स) की दरें अधिक भारी कर दी जायं। इसी प्रकार कमाई आनेवाली आय और बगैर कमाई हुई आय पर भी दर अलग-अलग हों। इंग्लैंड की भांति भारत में भी कुटुम्ब के आकार के अनुसार भत्ते देने की प्रथा शुरू कर दी जानी चाहिए। यह मानना गलत है कि इससे परिवारों की वृद्धि को प्रोत्साहन मिलेगा।

३ जायदाद-सम्बन्धी कर (एस्टेट ड्यूटी) अभी बहुत कम है। इसे एक करोड़ के ऊपर की जायदादों पर ७५ प्रतिशत तक बढ़ा दिया जाना चाहिए, परन्तु इसमें अनुचित सख्ती न हो। करदाताओं को यह सुविधा दी जाय कि वे अपने जीवन-काल में पेशगी तौर पर सरकारी कोष में जायदाद-कर जमा करवाते रह जायं। इस कर से जो आय हो उसे ग्रामीण क्षेत्रों के विकास के लिए जमा कर दिया जाय।

४ विलास की चीजों पर बिक्री-कर की दरें भारी हों किन्तु ग्रामोद्योग और गृहोद्योगों से बनी चीजें पूरी तरह कर-मुक्त रहें। भारत सरकार को चाहिए कि बिक्री-कर की दरें, जितनी जल्दी संभव हो सभी राज्यों में समान कर दे। राज्यों के बीच चलनेवाले व्यापार-सम्बन्धी प्रश्नों को भी अविलम्ब ठीक तरह से हल कर देना चाहिए। फिर बिक्री-कर भी केवल एक ही जगह लिया जाय जगह-जगह नहीं। करों-सम्बन्धी सभी मामले जल्दी से निपटा दिये जायं। लोगों को परेशान न होना पड़े। काम की विधि के नियम सरल-से-सरल हों।

५ जमीन के लगान की वर्तमान पद्धति हटा दी जाय और उसके स्थान पर खेती का आयकर जारी कर दिया जाय। एक निश्चित सीमा से जिनकी आय कम हो उन्हें करों से एकदम मुक्त कर दिया जाय और अधिक आयवालों पर भारी दरें लगा दी जायं। इस पद्धति से जमीनों का वितरण भी अपने-आप वाजिब तौर पर हो जायगा।

६ जमीन पर से तो सामन्तवाद भारत में अब खत्म हो गया है। अब यह उद्योग-क्षेत्र से भी उठा दिया जाना चाहिए। मैनेजिंग एजेन्सी की प्रथा एक प्रकार से सामन्तवाद ही है। इसे तुरन्त जड़-मूल से बदल देना चाहिए। मुनाफे की उच्चतम सीमा निश्चित कर दी जाय। इसी प्रकार मैनेजिंग

एजेन्ट्स का पारिश्रमिक भी असली मुनाफे का साढ़े सात प्रतिशत मुकर्रर कर दिया जाय।

७ आय करों की चोरी नहीं करने पाय और खानगी कम्पनियों पर आवश्यक नियन्त्रण रहे इसलिए जरूरी है कि इनके हिसाबों की जांच खास फीस और प्रमाणित (चार्टर्ड) हिसाब-निरीक्षकों द्वारा अनिवार्य कर दी जाय। अब सारी जांच खानगी तौरपर होती है। इससे करों को टालने के लिए झूठे हिसाब तैयार किये जाते हैं।

८ हमारे देश में बहुत बड़ी-बड़ी रकमें अमानत के तौर पर बेकार पड़ी हुई हैं। इनपर यदि कर लगा दिया जाय तो या तो लोग इन्हें मजबूरन खर्च करने लगेंगे या किसी उपयोगी काम या व्यापार में लगा देंगे। दोनों हालतों में लोगों को रोजी मिलने की सम्भावनाएं बढ़ जायंगी।

९ आर्थिक नीति का अन्तिम उद्देश्य यह हो कि महत्वपूर्ण और मातृ-उद्योगों (मदर इण्डस्ट्रीज) का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय और उपभोग्य वस्तुओं के उद्योगों को विकेन्द्रित कर दिया जाय। यह उद्देश्य कपड़ा तेल चीनी चमड़ा कागज दियासलाई आदि उपभोग्य वस्तुओं के अनियन्त्रित बड़े उद्योगों पर उत्पादन-कर लगाकर इन्हीं वस्तुओं के गृहोद्योगों और ग्रामोद्योगों को मदद देकर सिद्ध किया जाय। सरकार ने हाथ-करघा-उद्योग तथा खादी की मदद के लिए मिल के कपड़े पर कर लगाकर इस सिद्धान्त को पहले ही मान्यता दे दी है। यही सिद्धान्त दूसरी उपभोग्य वस्तुओं के उद्योगों पर भी लागू कर दिया जाय।

१ जनता में बचत की वृत्ति को प्रोत्साहन देने के लिए खास प्रकार की धार्मिक संस्थाओं को दिये जानेवाले दानों की रकमों को पांच प्रतिशत से बढ़ाकर दस प्रतिशत तक आय-करों से मुक्त कर दिया जाय। इन कर-मुक्त संस्थाओं में प्रधानता वे ही हों जो राष्ट्रीय विकास-योजनाओं में भाग लें।

११ पंचवर्षीय योजना में स्थानीय कार्यों की योजनाओं के लिए जनता ने जो प्रशंसनीय उत्साह दिखाया है उससे सिद्ध है कि करों की योजना बनाते समय लोगों को सीधा और प्रत्यक्ष लाभ हो यह सिद्धान्त सदा ध्यान में रहे। साधारणतः राष्ट्रीय योजनाओं के लिए लोगों पर सीधा

या अप्रत्यक्ष कर लगाने की अपेक्षा प्रत्येक क्षेत्र में लोगों के साथ की जो स्थानीय योजनाएं हों और जिनकी जरूरत वे महसूस करते हों उनके लिए नकद अनाज या श्रम के रूप में दान द्वारा सहयोग देने के लिए लोगों को राजी किया जाय तो बहुत अच्छा हो। इसी प्रकार मैं राष्ट्रीय बचत योजना राष्ट्रीय बचत कोष और राष्ट्रीय योजना ऋण कोष के समान-तथा वैसे समय खास योजना या हेतुओं के लिए इन रकमों को निश्चित कामों के लिए संचित कराने की पद्धति भी शुरू की जा सकती है।

१२ देश में बेकार पड़े हुए धन को बाहर निकलवाने के लिए ग्रामीण जनता के लिए छोटे-छोटे बैंक या बीमा-योजनाएं बनाई जायं। व्यापारी बैंकों को भी प्रोत्साहन दिया जाय कि वे गांवों में अपनी शाखाएं खोलें। उन्हें यह भी सहूलियत दी जाय कि वे इन शाखाओं में काम करनेवाले कर्मचारियों को भले ही कम तनख्वाह दें। डाकघरों की बीमा-योजनाएं अभी सरकारी नौकरों तक ही सीमित हैं। उन्हें ग्राम जनता के लिए भी लागू किया जा सकता है।

१३ देश के गृहोद्योगों और ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहन देने तथा सीमा शुल्क (कस्टम्स) की आय बढ़ाने के लिए प्रसाधन-सामग्री (कॉस्मेटिक्स) सुगंधित चीजें फलों के डिब्बे चीनी का सामान, बिस्कुट, मिठाइयों मशीनें मोटरें, सिगरेटें कपड़े चाय-कॉफी वगैरा विदेशों से आनेवाली विलास की चीजों पर भारी आयात-कर लगा दिया जाय। इन चीजों की बाहर से बहुत मात्रा में आयात के कारण लोगों की स्वदेशी वृत्ति मन्द हो गई है। देश के उद्योगों को बढ़ावा देने के लिए उसे फिर से जिलाना बहुत जरूरी है।

१४ अभी तक करों की संपत्ति गांवों से आती रही है और शहरों में उसका उपयोग हुआ है। परन्तु अब इस प्रक्रिया को उलट देना जरूरी है। प्रारम्भ इस प्रकार किया जा सकता है कि किसी भी प्रदेश से जो सीमें कर वसूल किये जायं उनका पचास प्रतिशत वहीं की स्थानीय विकास योजनाओं के लिए छोड़ दिया जाय। सिंचाई के या विशेष लाभवाले कर (बैटरमेन्ट लेवीज) उन्हीं भागों पर लगाये जायं जिनको इन सुविधाओं से प्रत्यक्ष लाभ मिलता है। मतलब यह कि अतिरिक्त कर का प्रयोजन और लाभ लोगों को प्रत्यक्ष दीखना चाहिए।

१५. उपभोग्य वस्तुओं के कारखानों के लिए देश में अब अधिक विदेशी पूंजी नहीं आने दी जाय। अभी यन्त्रों के बनाने में जो विदेशी पूंजी लगी हुई है उसे दूसरे प्रकार के कारखानों में लगाने पर स्वदेशी (इण्डिया लिमिटेड) नामधारी इन विदेशी कारखानों के माल पर अतिरिक्त उत्पादन कर और बिक्री-कर लगा दिया जाय।

१६ स्थानीय करों को अधिक वैज्ञानिक और पद्धतियुक्त कर दिया जाय। नगरपालिकाएं आदि स्थानीय संस्थाएं अपने क्षेत्र में कौन-सा कर सही रूप में कितना लगायें इस सम्बन्ध में उन्हें सलाह देने के लिए राज्य सरकारें खासतौर पर कुछ प्रोफेसर रखें जिनका खर्च राज्य-सरकारें और स्थानीय संस्थाएं आपस में बांटकर उठा लें। विकास-योजनाओं के कारण कुछ जमीनों की कीमतें बेहद बढ़ जाती हैं। कर लगाते समय इसका भी ध्यान रहे। लोग केवल शान के लिए महलों के समान बड़ी इमारतें बनाते हैं। ऐसी इमारतों पर नगरपालिकाएं और नगर निगम अवश्य ऊंचे कर लगायें।

१७ लड़ाई के दिनों में अतिरिक्त लाभ—कर (एक्सेस प्रॉफिट टैक्स) एक साधारण चीज बन गया था। कुछ उद्योगों पर, जहां विशेष लाभ होता है, यह कर फिर से जारी कर दिया जाय जिससे इन विशेष लाभों का फायदा समाज को भी मिल सके। सट्टे पर भी जारी कर लगा दिया जाय।

१८ लोगों को यह जानने का अधिकार है कि करों के रूप में जो रकमें उनसे वसूल की जाती हैं, उनका उपयोग शासन उनके लाभ के लिए सही तौर पर और किफायत के साथ ही कर रहा है, इसलिए शासन में कार्यक्षमता और किफायत से काम लेना अत्यन्त—सबसे अधिक—आवश्यक है। ऊंचे वेतनवाले या तो स्वेच्छा से अपने वेतन कम करलें या अनिवार्य रूप से उनके वेतन कम कर दिये जायं। इसी प्रकार सेवकों में रिश्वतखोरी और भ्रष्टाचार पूरी तरह से निर्मूल हो जाना चाहिए। लोकतन्त्र में दूसरी कई कमियों को और कठिनाइयों को लोग बरदाश्त कर सकते हैं परन्तु अपने शासन-तन्त्र में ढील-पोल और बेईमानी वे कभी बरदाश्त नहीं कर सकते करना भी नहीं चाहिए।

१६ आज हमारी वार्षिक आय की आधी रकम सुरक्षा पर खर्च हो रही है। इसे शायद निकट भविष्य में हम कम भी न कर सकें। परन्तु हमारी सेनाओं का उपयोग राष्ट्रीय विकास योजनाओं के उत्पादक और विकास कार्यों म बड़ी आसानी तरह किया जा सकता है। इसके लिए गंभीरता पूर्वक यत्न किया जाना चाहिए। इसमें जनता पर अधिक ऊंचे कर लगाने की जरूरत कुछ कम रहेगी। शान्ति के समय में सेनाओं का उपयोग बांधों के रास्ते पुल बनाना, अस्पताल, जमीन करने के उपाय करने, जंगलात लगाने और खेती का नुकसान करनेवाले जंगली पशुओं को नष्ट करने आदि के लिए किया जा सकता है।

२ करों के अलावा मुनाफेवाले का राष्ट्रीयकरण करके लोकोपयोगी सेवाएं स्थापित करके और कुछ चीजों का व्यापार खासतौर पर मैंगनिक व्यापार अपने हाथों में लेकर शासन अपनी आय के कुछ अन्य साधन भी निर्माण कर सकता है। अनुभव की दृष्टि से ऐसे व्यापार के लिए प्रारम्भ में कुछ खास चीज ही ली जायें।

२१ सबसे बड़ी बात शासन को ठेठ ऊपर से अपने ही उदाहरण द्वारा देश में सादगी, संयम और कठोर परिश्रम का वातावरण बनाने का यत्न करना चाहिए। जबतक ऊंचे पदों पर बैठे हुए लोग और अधिकारी खुद संयम और सादगी का उदाहरण पेश नहीं करेंगे तबतक लोगों से इसकी आशा नहीं की जा सकती। बड़े शहरों में जो दावतें, स्वागत-समारोह वगैरा होते हैं, बन्द हो जाने चाहिए। हमारे राष्ट्रीय कार्यक्रम के क्रम में शराब की पूरी बन्दी हो जानी चाहिए। इससे शासन को आबकारी आय की जो हानि होगी उसका बदला जनता की बचत के रूप में पूरे तरह से राज्य को मिल जायगा जो उत्पादक कामों के लिए अवश्य ही उपलब्ध हो सकेगी।

९

शराबबन्दी की नीति

हमारी शराबबन्दी की नीति के बारे में अभी तक बड़ी गलतफहमी है। अनेक राजनीतिज्ञ और समाज-सुधारकों की भी समझ में यह नहीं

पा रहा है। वे तो मानते हैं कि यह भी गांधीवादियों की एक सनक है जिसके कारण राष्ट्र के कोष में प्रतिवर्ष ३ करोड़ का घाटा हो रहा है। राज्यों की विधान-सभाओं में और संसद में भी 'इस गलत और दुर्भाग्यपूर्ण' नीति और कार्यक्रम पर व सरकार की निन्दा करते नहीं थकते। शायद बहुत-से लोग नहीं जानते कि भारतीय संविधान ने शासन को इस नीति के बारे में बड़ा स्पष्ट आदेश दिया है। संविधान की धारा ४७ में साफ लिखा है कि 'शराब और दूसरे नशीले पदार्थ मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए हानिकर हैं। इसलिए राज्य इनके उत्पादन और औषधि के काम को छोड़कर अन्य सब प्रकार के उपयोग पर पूरी बन्दी लगाने का यत्न करे।' इस स्पष्ट आदेश के होते हुए भारत में शराबबन्दी और नशाबन्दी की नीति को रद्द कर देने की बात करना एकदम विधान के विरुद्ध है। हां इस नीति पर अमल किस प्रकार किया जाय सुधार की गति क्या हो इसके बारे में प्रत्येक राज्य की आर्थिक स्थिति या अन्य परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग रायें हो सकती हैं और वे उचित भी हो सकती हैं। परन्तु शराबबन्दी की मौलिक नीति को बुरा बताना और जो राज्य-सरकारें साहसपूर्वक उसे कार्यान्वित कर रही हैं उनकी निन्दा करना—सौम्य-से-सौम्य भाषा में कहें तो—देश भक्ति के विरुद्ध है। यह हमारे महान राष्ट्र के पवित्र संविधान के विरुद्ध पाप भी है।

राष्ट्रीय कोष की हानिवाली दलील न केवल गलत बल्कि खतरनाक से भरी भी है। अंग्रेज सरकार हमेशा बड़े गर्व के साथ आबकारी की आय को शिक्षा के कार्यों के लिए अंकित कर देती थी। पहले तो शराब पिलाकर लोगों को पतित बनाया जाय और फिर इस पाप से कमाये पैसे का उपयोग इन्हीं लोगों के बच्चों की पढ़ाई में खर्च करने के शुभ कार्य का श्रेय लिया जाय। इससे अधिक बेवकूफी की और गलत बात दूसरी क्या हो सकती थी। जो भी सरकार शराब जैसी बुरी चीज से मिलनेवाली आय के भरोसे पर अपने विकास-कार्य चलाने की आशा रखती है वह कल्याण राज्य कभी स्थापित नहीं कर सकती। और वह अपनी इस सोने के अण्डे देनेवाली मुर्गी को मारना कभी पसन्द नहीं करेगी। वह तो स्वभावतः सदा यही चाहेगी कि अधिकाधिक लोग शराब पीयें। उन्हें वह शराब

पीना सिखायेंगी ताकि उन्हें अधिकाधिक पैसे मिलें। लोक-कल्याण और शराबखोरी बढ़ाने की वृत्ति दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। फिर हमें एक यह बात भी याद रखनी चाहिए और यह महत्वपूर्ण है कि शराबबन्दी से लोगों का अनायास बहुत भला होता है। जिसे हम सरकारी आय की हानि मानते हैं वह वास्तव में लोगों का बड़ा हित करता है। शराबबन्दी के कार्यों का हिसाब लगाते समय हम कभी-कभी बड़े डर जाते हैं कि लोग गैरकानूनी शराब बनाने या बाहर से चुराकर लाने लग जायेंगे। किन्तु बम्बई की कुछ संस्थाओं ने जो सर्वेक्षण किया है, उससे ज्ञात हुआ है कि शराबबन्दी की नीति से जनता का बड़ा लाभ हुआ है। जनता का यह जो प्रत्यक्ष लाभ हुआ है, क्या उसे हम भुला दें और किसी काल्पनिक अनिश्चित लाभ के लिए राज्य की आय बढ़ाने का यत्न करें? क्या यह बुद्धिमानी की बात होगी? राजस्व-शास्त्र के सभी जानकार जानते हैं कि भारत जैसे गरीब देश में शराब से होनेवाली आय का बोझ अधिकांश में गरीबों पर ही पड़ेगा। इस प्रकार इस मार्ग से होनेवाली आय पाप की कमाई है, जो देनेवाले और लेनेवाले दोनों के लिए, हानिकर और गिरानेवाली है।

कुछ लोगों का सुझाव है कि पूरी शराबबन्दी करने की अपेक्षा उस पर कुछ नियंत्रण लगा दिया जाय। शराब पीनेवाले परमिट से लिया करें और उसकी मात्रा भी बांध दी जाय। यह दलील भी भ्रममूलक है। इसमें मनुष्य की स्वाभाविक कमजोरी का ख्याल नहीं किया गया है। चीन में एक लोकोक्ति है जिसका आशय है, 'पहले आदमी शराब पीता है और अन्त में शराब आदमी को पी जाती है।' हमें इसे सदा याद रखना चाहिए। शराब में संयम का नाम लेना ही गलत है। इस संयम का अर्थ है, इस जाल में अधिक लोगों को खींचना। यह आबकारी की आय बढ़ाने की नीच तरकीब है। शराबखोरी एक बहुत बड़ी बुराई है। उससे किसी प्रकार का समझौता नहीं हो सकता। इसमें न धर्मशास्त्र है न राजनीति। नीतिशास्त्र तो है ही नहीं।

यह भी कहा जाता है कि अमरीका की भांति शराब-बन्दी की नीति भारत में भी सफल नहीं होगी और यह कि शराबबन्दी के उठते ही गैरकानूनी शराब का बनना भी अपने-आप कम हो जायगा। यह कथन

भी वास्तविकता से दूर है। डॉ जॉर्ज बी कटन ने अपनी 'ड्रुइ प्राहिबिशन रिटर्न' नामक पुस्तक में लिखा है कि शराबबन्दी के दिनों में किस प्रकार वहां के परिवारों में नई रौनक आ गई थी बचत बढ़ गई थी लोग बीमे कराने लग गये थे और दूध फल और अन्य पौष्टिक पदार्थ अधिक खाने लग गये थे। फेडरल डिपार्टमेंट के सरकारी कागजात बताते है कि संयुक्त राज्य से शराबबन्दी उठते ही शराब की खपत एकाएक बुरी तरह २१२ प्रतिशत बढ़ गई। इसके अलावा अत्यधिक नशा करने वालों की गिरफ्तारियों की संख्या पहले से दूनी हो गई। लोगों की बचत बैंक में तेजी से घटने लगी और घरों में फिर निराशा का अंधेरा छा गया। बहुत-से अंक बताये जा सकते हैं जो सिद्ध करते हैं कि संयुक्त राज्य अमरीका में भी शराबबन्दी की नीति एक प्रकार से महान वरदान सिद्ध हुई है। उस देश में शराबबन्दी का उठना लोक-कल्याण के प्रयत्नों पर स्वार्थी तत्व की विजय का प्रकट सबूत है और फिर हम उपभर मान लें कि शराबबन्दी की नीति वहां असफल सिद्ध हुई तो इसका अर्थ यह नहीं हो सकता वह यहां भी असफल ही रहेगी। अमरीका की टेम्परन्स सोसायटी के एक्जीक्यूटिव सेक्रेटरी प्राध्यापक थार्न्टनबर्ग बम्बई आये थे। उन्होंने बम्बई के एक सम्वाददाता-सम्मेलन में कहा—

'भारत की जनता का धर्म पर दृढ़ विश्वास है, उसकी अपनी सांस्कृतिक और दार्शनिक परम्पराएं हैं। उसकी दृष्टि आदर्शवादी और यथार्थवादी दोनों है। इसके अलावा बनाने बेचने बाहर से मंगाने और उसके उपयोग के बारे में उसके विचार और दृष्टि सदा साफ और निश्चित रही है। अब भारत वह ऐसी स्थिति में है कि वह यदि एक राष्ट्र की हैसियत से शराबबन्दी का निश्चय कर ले तो उसके संयम और नियम से सारा संसार प्रभावित हो सकता है।"

परन्तु हमें याद रखना चाहिए कि पूरी शराबबन्दी की नीति केवल कानून और पुलिस के बल पर सफल नहीं हो सकती। यह एक ऐसा नैतिक और सामाजिक सुधार है जो लोक-शिक्षण और गैर-सरकारी सहयोग के बगैर कभी सफल नहीं होगा। इसीलिए तो गांधीजी ने अपने रचनात्मक कार्य-क्रम का इसे एक प्रधान अंग माना है। इसलिए शराबबन्दी

के कार्य क्रम की स्थायी सफलता समाज-सुधारकों की श्रद्धा और पुरुषार्थ पर ही अन्तत निर्भर करेगी। मद्यनिषेध की नीति निःसन्देह एक अच्छी व्यावहारिक और महान नीति है। जो हो उसे सफल करके दिखाना हम सबका कर्तव्य है। यह संविधान का आदेश है अतः हमपर डाली गई एक जिम्मेदारी है। उसे हमें प्रसन्नतापूर्वक पूरी करनी चाहिए। यदि मद्यनिषेध भारत में सफल नहीं होगी तो मानवता की आशा का सारा आधार टूट जाता है।

१६

सुरक्षा का मर्मतत्त्व

"हम कभी किसी देश से नहीं कहेंगे कि वह सैनिक सहायता भेजकर हमारी रक्षा करे। प्रसंग आने पर हमारे पास पूरा सैनिक बल हो या न हो, परन्तु हमारे पास शायद एक दूसरी चीज है—पुरुषार्थ वीरता जो हमारी उससे भी अच्छी रक्षा कर सकती है। यदि भारत अपनी इस आत्मा को ही खो बैठता है तो दूसरे की मदद से क्या होना जाना है।

प्रधान-मन्त्री जवाहरलाल नेहरू के इन शब्दों में वह सत्य ज्ञान भरा हुआ है, जो गांधीजी हमें और संसार को दिया करते थे। राष्ट्र का वास्तविक बल उसकी सेनाएं नहीं बल्कि उसकी आत्मा है, जो समस्त आक्रमणों का मुकाबला कर सकता है। आजकल के शासन-शास्त्र की भाषा में कहें तो किसी भी राष्ट्र का बल उसकी जनता की हिम्मत—चरित्र—में है। राष्ट्र की सुरक्षा के साधन न केवल जल थल और आसमान में लड़नेवाली सेना के रूप में जुटाने की जरूरत है, बल्कि लोगों के दिलों में भी उसे निर्माण करना जरूरी है।

यह तभी संभव है, जब जनता को अपने पुरुषार्थ में और अपने नेताओं की शान्तिप्रियता में विश्वास होगा।

आजकल के राजनीतिज्ञ जनता में भय और द्वेष फैलाते रहते हैं और अन्त में उनसे पूछते हैं कि बताइये मक्खन और बन्दूक इन दोनों में से आप किसे पसन्द करेंगे। आजकल की बन्दूकें मक्खन खाती हैं। वे मनुष्य के शरीर और आत्मा दोनों को खा जाती हैं। मतलब यह नहीं कि भारत की

अपनी फौजें विसर्जित कर देनी चाहिए। आज के इस अणुयुग में राष्ट्र को कुछ तो फौजें रखनी ही पड़ती हैं, परन्तु हमें याद रखना चाहिए कि *आज के इस अणु-शक्ति के युग में केवल सैनिक शक्ति का होना काफी नहीं है।* उस अणु बम का मुकाबला करने के लिए गांधीजी के बनाये 'आत्मिक मनुष्य' का विकास हमें अपने अन्दर करना होगा। अणुबम का सच्चा जवाब तो आत्म-बल में है। यह निरा नैतिक ख्याल नहीं है। यह तो आधुनिक चिंतन और मानस-शास्त्र का सार है।

आज हम एक नई क्रान्ति के द्वार पर खड़े हैं जो डेढ़ सौ वर्ष पहले आई औद्योगिक क्रान्ति से कहीं अधिक महान होगी। दस या पन्द्रह वर्षों में इसका इतना विकास हो जायगा कि वह संसार के तमाम उद्योगों का ढांचा ही बदल देगी। कोयला जबतक हमारी शक्ति का साधन रहा तबतक किसी खास प्रदेश में—जहां वह बहुतायत से पाया जाता था—उद्योगों का केन्द्रित होना स्वाभाविक और अनिवार्य था परन्तु बिजली के आविष्कार से उद्योगों का विकेन्द्रीकरण अब शक्य हो गया है परन्तु आणविक शक्ति के युग में तो उद्योगों का विकेन्द्रीकरण अनिवार्य हो जायगा। विज्ञान के इस युग में केन्द्रीकरण न केवल अवैज्ञानिक है अपितु युद्ध की दृष्टि से खतरनाक भी है। इस आणविक युग में तो केवल विकेन्द्रित उद्योग-पद्धति ही अणु-बमों के प्रयोग से बचने की आशा कर सकती है। पश्चिम में आज केन्द्रित पद्धति के जो बड़े-बड़े उद्योग चल रहे हैं उनके लिए आज अपना स्वरूप बदलना बहुत कठिन है, परन्तु भारत तो उनके समान केंद्रित उत्पादन के बड़े-बड़े कारखाने बनाने की भूल जान-बूझकर न करे। राष्ट्र की रक्षा की दृष्टि से उद्योगों का विकेन्द्रीकरण न केवल इष्ट बल्कि अनिवार्य है। चीन में औद्योगिक सहकारिता की पद्धति ने राष्ट्र की रक्षा में दूसरी रक्षा-पंक्ति का काम किया है। यदि यह संगठन चीन के गांव-गांव में नहीं फैला होता तो चीन की जनता जापान के आक्रमणों का मुकाबला कभी नहीं कर सकती थी। रूस और अमरीका दो भिन्न-भिन्न विचार प्रणालियों का प्रतिनिधित्व करते हैं और दोनों एक-दूसरे से डरते हैं। अगर ये विचार प्रणालियां शान्ति की पोषक होतीं तो संसार के अन्य राष्ट्र दोनों में से किसी-न-किसी एक को पसन्द कर लेते परन्तु उनका मार्ग शान्ति का

मार्ग नहीं है और हरेक मानता है कि वह दूसरे के विरुद्ध धर्म-युद्ध कर रहा है। संयुक्त राष्ट्र अमरीका भी-जान से इस प्रयत्न में लगा है कि वह साम्यवाद के बढ़ते हुए कदमों को किसी तरह रोके। इसके लिए वह सोचता है और इस भोली आशा में है कि उसकी शस्त्र-तैयारी को देखकर दुश्मन दब जायगा और उससे संसार में शान्ति का वातावरण बनेगा। परन्तु कहीं हिंसा से अहिंसा, शान्ति और सद्भाव पैदा हो सकता है? यह कल्पना ही अजीब और आत्मघातक है। महात्मा गांधी हमसे सदा कहा करते थे कि गलत तरीकों से कभी सही उद्देश्य नहीं प्राप्त हो सकते। हाइड्रोजन बम की मदद से आप किसीको अपनी आर्थिक नीति का कायल कभी नहीं कर सकते और उसका जिस नीति में पक्का विश्वास है, उसे वह कभी इस प्रकार छोड़ने पर मजबूर नहीं किया जा सकता। इस प्रकार शस्त्र के बल पर वैचारिक संघर्षों पर विजय नहीं पाई जा सकती। यह तो तभी होगा जब दोनों पक्ष शान्ति के साथ बैठें और सच्चे दिल से एक-दूसरे को समझने की कोशिश करें। यदि अमरीका का यह प्रामाणिक विश्वास है कि खानगी व्यापार और पूंजीवादी योजना से ही मानव जाति का कल्याण होगा तो वह दूसरे प्रकार के विचारवालों के गले यह बात उतार दे। इसी प्रकार यदि रूस मानता है कि साम्यवादी अर्थ-रचना से ही मनुष्य-जाति सुखी और समृद्ध हो सकती है तो वह भी प्रत्यक्ष तरीके बताकर खुले दिल से चर्चा करके खुली और साफ-साफ नीति के पालन द्वारा अपनी बात को सिद्ध करके दिखा दे।

जहांतक भारत का सम्बन्ध है, उसने सदा अपने दिल को खुला रक्खा है। जहां भी उसे कोई अच्छी बात दीखी है उसे ग्रहण करने का उसने यत्न किया है। जैसा कि एक बार गांधीजी ने कहा था भारत ने अपने मकान की खिड़कियां चारों तरफ से बाहर की हवा के आने के लिए खुली रखी हैं। परन्तु वह नहीं चाहता कि किसी आंधी में उसकी आंखें मीची हो जाय और वह तिनके की तरह इधर-उधर उड़ता फिरे। गांधीजी चाहते थे कि भारत फिर सहकारिता पर आधारित स्वावलम्बी तथा स्वाश्रित छोटी-छोटी ग्रामीण इकाइयों अर्थात् पंचायतों पर अपने स्वराज की नींव खड़ी

करे। इस प्रकार वे भारत को पूंजीवाद और साम्यवाद के भी दोनों से बचाना चाहते थे। विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था में व्यक्ति और समूह दोनों अपनी स्वतन्त्र बुद्धि और शक्ति की रक्षा और विकास कर सकते हैं। उसमें शोषण की अधिक गुंजाइश नहीं रहती। स्वतन्त्र व्यापार और रूस के सैनिक पद्धति के नियन्त्रण में जो भी गुण-दोष हैं उनका इसमें उचित समन्वय हो जाता है। इसकी जड़ में दो सिद्धान्त हैं—अहिंसा और मनुष्य की आत्मा के प्रति आदर। गांधीजी मनुष्य को यन्त्र से बहुत ऊंचा मानते थे। क्या पूंजीवादी और क्या साम्यवादी दोनों विचार प्रणालियां एक प्रकार से अधूरी कच्ची और अशुद्ध हैं। अतः राष्ट्र के और संसार के हित में भारत को इनसे दूर ही रहना चाहिए। भारत में तो पूंजीवादी या साम्यवादी अर्थ-रचना के स्थान पर हम भारत की प्रकृति और संस्कृति के अनुरूप एक संतुलित व्यवस्था कायम करना चाहते हैं। उसमें बहुजन सुखाय का नहीं सर्वजन सुखाय 'सर्वोदय' का मार्ग हम ग्रहण करना चाहेंगे। दूसरे के परिश्रम का अनुचित लाभ उठाने की अपेक्षा हम चाहेंगे कि हर मनुष्य अपने पसीने की कमाई खाय।

इसलिए अस्त्रों की इस होड़ के दूरगामी परिणामों को समझने के लिए यह जरूरी है कि हम उसके अर्थशास्त्र को समझ लें। इस आधुनिक शीत युद्ध का एकमात्र और कारगर जवाब गांधीजी के सिद्धान्त अर्थात् अहिंसा विकेन्द्रीकरण सर्वोदय और आत्म-बल हैं। इन बमों की जड़ें बड़ी गहरी हैं। आर्थिक और वैचारिक सवालों को जबतक हम नहीं हटायेंगे तबतक इन से छुटकारा पाना असम्भव है। हमारा यह भी निश्चय हो चुका है कि विज्ञान के इस युग में एकमात्र व्यावहारिक मार्ग अहिंसा का ही रह गया है क्योंकि हिंसा के साथ यदि विज्ञान भी हो जायगा तो उसका अर्थ होगा मानवता का सम्पूर्ण विनाश। विज्ञान के साथ यदि अहिंसा होगी तो संसार को सुख मिल सकता है और हम अच्छे दिनों की आशा कर सकते हैं। हाइड्रोजन बम निःसन्देह तमाम शान्ति प्रेमी मनुष्यों (?) के लिए एक चुनौती है। वह मानवता के प्रति पाप है। ईश्वर को मानने से इन्कार—नास्तिकता—है।

८

खानगी क्षेत्र

"सार्वजनिक और खानगी इन दोनों क्षेत्रों में ऐसा कोई अन्तर नहीं है। वास्तव में दोनों का अर्थ है 'जनता का क्षेत्र' अर्थात् जनता और देश के कल्याण का क्षेत्र। यह संसार बड़ा परिवर्तनशील है। अन्य चीजों के साथ कल्पनाओं और विचारों में भी बड़ा क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाता है। आज केवल पूंजी से काम नहीं चल सकता। उसके लिए बुद्धि और श्रम की भी जरूरत होती है, तब जाकर उत्पादन बढ़ता है। वर्ग-संघर्ष तथा वर्गगत स्वार्थों की भाषा में सोचना हानिकर है। समाज के कल्याण के लिए सबको परिश्रम करना होगा।
—जवाहरलाल नेहरू

इन दिनों सार्वजनिक और खानगी क्षेत्रों के उद्योगों के बारे में बड़ी चर्चाएं होती रहती हैं, परन्तु यह विवाद न केवल अनावश्यक है, अपितु हानिकर भी है। यह नाहक लोगों का ध्यान दूसरी तरफ बंटा देता है और समाज में घबराहट पैदा कर देता है जिसमें किसीका लाभ नहीं है। दूसरी पंचवर्षीय योजना में साफ तौर पर कह दिया गया है कि सार्वजनिक क्षेत्र के विकास-कार्यों को खानगी क्षेत्र के विकास-कार्यों के साथ-साथ ही देखा जाना चाहिए। दोनों को मिलकर काम करना है, क्योंकि वे एक ही तन्त्र के दो अंग हैं। पूरी योजना तभी सफल होगी जब दोनों अंग साथ-साथ काम करेंगे और दोनों का संतुलन कायम रहेगा। खानगी क्षेत्रों के कार्यों को मर्यादित, संचालित और नियन्त्रित करने की सारी शक्ति राज्य के पास है। इसलिए यह जरूरी नहीं कि वह खानगी क्षेत्र के उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर ले या उन्हें अपने हाथों में ले ले। फिर आज हमारे आर्थिक साधन भी सीमित हैं। उनको नये-नये और खास तौर पर बुनियादी उद्योगों के खड़े करने में लगाना कहीं अधिक लाभदायक हो सकता है। खानगी व्यक्तियों द्वारा चलाये जानेवाले पुराने निकम्मे कारखानों को खरीदने में उन्हें खर्च करना बुद्धिमानी की बात नहीं होगी। योजना में साफ कह दिया गया है कि यदि कोई असाधारण स्थिति उत्पन्न हो गई तो शासन जब चाहे

राष्ट्र की सुरक्षा के लिए उपयोगी किसी भी उद्योग को अपने अधिकार में ले सकता है परन्तु जो उद्योग बुनियादी या बहुत महत्त्व के नहीं हैं उनको अपने हाथ में लेना अनावश्यक है।

खानगी क्षेत्र के उद्योगों का एक बहुत बड़ा भाग तो छोटे छोटे उत्पादकों और कारीगरों का है जो सारे देश में फैले हुए हैं। इन कारीगरों की स्वतन्त्रता और सूझ-बूझ पर कोई अंकुश या सरकारीय नियन्त्रण लगाना अच्छा नहीं होगा। सबसे अच्छी नीति तो यह होगी कि उन्हें अपनी-अपनी सहकारी औद्योगिक समितियां बनाने के लिए प्रोत्साहित किया जाय। केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारें भी इसी नीति से काम ले रही हैं। इस सहकारी क्षेत्र का देश में जितना भी विकास किया जा सके करने की जरूरत है। इसमें खानगी और सार्वजनिक क्षेत्र दोनों के गुण हैं और समाजवादी स्वरूप की समाज-रचना की तरफ जल्दी बढ़ने में यह बहुत मदद भी कर सकता है। इस पद्धति में कारीगर स्वयं उत्पादन के साधनों के मालिक बन जाते हैं। मालिक और मजदूरों के बीच संघर्ष की सारी समस्या समाप्त हो जाती है और सहकारिता की इस पद्धति का विस्तार मध्यम वर्ग के और बड़े बड़े उद्योगों में भी क्यों न किया जाय? हमें तो इसमें कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती। बम्बई राज्य के चीनी के कारखानों में यह प्रयोग शुरू किया गया है और वहां यह अच्छी तरह चल रहा है। पश्चिम के देशों में और खास करके ग्रेट ब्रिटेन में कई बड़े-बड़े कारखानों को इसी पद्धति से चलाया जा रहा है। भारत जैसे शासन को अपने उद्योगों में इस पद्धति को दाखिल करना चाहिए, क्योंकि हम यहां लोकतन्त्र की पद्धति से समाजवादी समाज की स्थापना करना चाहते हैं।

हमारा अन्तिम उद्देश्य सुनियोजित समाज और लोक-कल्याण है। इस पर सरकारी और खानगी दोनों क्षेत्रों में काम करनेवालों को गम्भीरता पूर्वक विचार करना चाहिए। खानगी क्षेत्रों में काम करनेवाले उद्योगपति शासन से लगातार अधिकाधिक सहूलियतों की मांग करते रहते हैं ताकि उनको अधिक मुनाफा मिले। दुर्भाग्य से उनकी उचित मुनाफे की परिभाषा दूसरे देशों के उद्योगपतियों की अपेक्षा बिल्कुल भिन्न है। आजकल का कोई भी राज्य उपभोक्ताओं को नुकसान पहुंचाकर उद्योग

पतियों को एक सीमा से अधिक मुनाफा नहीं लेने दे सकता। इसलिए अच्छा हो कि अब भारत के उद्योगपति सुनियोजित समाज-रचना में अपने मुनाफों की सीमा बांध लें। साथ ही वे यह भी विश्वास रक्खें कि सरकार आर्थिक विकास का प्रयत्न कर रही है, अतः उसकी यह भी यह इच्छा नहीं कि वह खानगी क्षेत्रों को समाप्त कर दे उन्हें निकम्मा बना दे। हमारी समझ में नहीं आता कि शासन की आर्थिक नीति के बारे में कुछ उद्योगपति इतने भयभीत क्यों हैं जबकि अनेक बार यह साफ कर दिया गया है कि शासन ने राष्ट्रीय संयोजन में खानगी क्षेत्र को एक निश्चित स्थान प्रदान कर दिया है। हां इसका अर्थ यह जरूर है कि खानगी क्षेत्र राष्ट्र के हित का ध्यान में रखकर ही काम करेगा और राष्ट्र के हित में अपना हित समझेगा।

लोक-कल्याण की दृष्टि से देखें तो सार्वजनिक अर्थात् सरकारी क्षेत्र में भी बहुत सुधार की जरूरत है। आयंगार जांच-कमीशन ने अपने प्रतिवेदन में सार्वजनिक क्षेत्र के संगठन के बारे में कई महत्वपूर्ण बातें कही थी। उनपर गम्भीरतापूर्वक विचार होना चाहिए। पहले यह माना जाता था कि भारत के उच्च सरकारी अधिकारियों में ऐसी कोई आश्चर्यजनक योग्यता है कि वे हर प्रकार का काम सफलता के साथ कर सकते हैं। अब ऐसी मान्यता रखना भूल है। अब तो प्रत्येक विशेष सेवा के कार्य के लिए योग्य व्यक्तियों का चुनाव करके उन्हें आवश्यक प्रशिक्षण देना चाहिए। इसमें जरा भी ढील-ढाल या मुरव्वत न हो। प्रसन्नता की बात है कि शासन ने अर्थ-विभाग में काम करने के लिए सेवकों का एक नवीन वर्ग खोलने और उन्हें आवश्यक प्रशिक्षण देकर फिर शासनीय उद्योग कारखानों में काम करने के लिए भेजने का निश्चय किया है। यह बहुत पहले हो जाना चाहिए था। परन्तु खैर, अब सही। अब यह ध्यान में रहे कि इन प्रशिक्षित व्यक्तियों को एक उद्योग से दूसरे उद्योग में जल्दी-जल्दी न बदला जाय। व्यक्तियों को इस प्रकार बार-बार बदलने से उनमें जिम्मेदारी की भावना का विकास नहीं हो पाता और वे मन लगाकर काम नहीं कर पाते जिससे कि उद्योग सफल हो।

प्रधान मन्त्री ने सार्वजनिक (सरकारी) क्षेत्र और खानगी क्षेत्र

के स्तर को सुधारकर सबको जनता का क्षेत्र अर्थात् जनता और देश के कल्याण को सदा याद रखने की बात कही है। तो हमें देखना चाहिए कि इसका सही अर्थ क्या है? देश का अर्थात् देश के करोड़ों निवासियों के कल्याण का सबसे पहला अर्थ निःसन्देह यह है कि उनका रहन-सहन अच्छा हो जाय। लोगों की आर्थिक स्थिति सुधारने का प्रयत्न करते हुए हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि संसार में खाना-पीना अर्थात् पेट के गढ्ढे का भर लेना ही सबकुछ नहीं है। मनुष्य को खाना मिल गया मकान मिल गया कपड़े हो गये और कुछ अन्य सुविधाएं और मान लीजिये कि विलास की चीजें भी मिल गईं तो केवल इनसे समाज में उसका जीवन ऊंचा नहीं हो सकता। राष्ट्र के लिए संयोजन करते हुए उसके निवासियों का जीवन नैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी ऊंचा उठे इस बात का भी संयोजकों को ध्यान रखना चाहिए। स्वयं प्रधान मन्त्री ने कई बार कहा है कि राष्ट्र की महानता ऊंचे ऊंचे महलों विशाल कारखानों और शक्तिशाली सेनाओं में नहीं बल्कि उसके नागरिकों—स्त्रियों और पुरुषों—की संस्कारिता में है।

जनता के कल्याण का दूसरा अर्थ है उनको पूरा-पूरा काम मिलना। हर नागरिक का हक है कि उसे खरे पसीने की रोजी मिले। उद्योगों का क्षेत्र सरकारी हो या खानगी देश के हर नागरिक को पूरा काम मिलना ही चाहिए। यह सबसे महत्वपूर्ण बात है। परन्तु चूंकि उद्योगों के सरकारी क्षेत्र में केवल बड़े-बड़े और महत्वपूर्ण उद्योग ही होंगे उसमें अधिक लोगों को काम मिलने की गुंजाइश नहीं है। इस विषय में मुख्य भार खानगी क्षेत्र पर ही आवेगा। वास्तविक सुधारों के महत्व से कोई इन्कार नहीं कर सकता परन्तु भारत अथवा कोई भी देश संयोजन में अपने नागरिकों को रोजी देने के प्रश्न की अवगणना नहीं कर सकता क्योंकि आखिर संयोजन का मूल उद्देश्य जनता की सेवा और भलाई ही तो है। अतः इसे संयोजन में गौण नहीं माना जा सकता।

४१

शासन का विकेन्द्रीकरण

स्थानीय स्वायत्त-शासन-संस्थाओं की केन्द्रीय परिषद की श्रीनगर वाली बैठक के सुझाव के अनुसार दूसरी पंचवर्षीय योजना में सामुदायिक विकास-योजनाओं के कार्यक्रम को पूरा करने की जिम्मेदारी ग्राम-पंचायतों पर डाल दी गई है। इससे शासन का और खास तौर पर उसके विकास-कार्यक्रम का व्यापक विकेन्द्रीकरण हो जाता है। ग्राम-पंचायतों को अधिकाधिक अधिकार देकर शासन-तन्त्र को विकेन्द्रित करना तो संविधान के मार्ग-दर्शक सिद्धान्तों के अनुकूल ही है। उसमें यही चाहा गया है कि शासन की बुनियादी इकाई ग्राम-पंचायत ही हो। सामुदायिक विकास-योजना मन्त्रालय भी इसी बात पर जोर देता रहा है। वह भी चाहता है कि आज सरकार जो कार्यक्रम बनाती है और जनता उसमें सहयोग देती है उसके बदले अब जनता स्वयं कार्यक्रम बनाये और शासन उसमें सहयोग दे।

स्वायत्त-शासन-संस्थाओं की कार्य-विधि में भी इस प्रकार का परिवर्तन हो जाना चाहिए।

सारे संसार के प्रगतिशील विचारक अब यही मानने लग गये हैं कि प्रजातन्त्र तभी सफल होगा जब उसका बहुत बड़े पैमाने पर विकेन्द्रीकरण होगा। लोकतन्त्र में सत्ता के अत्यधिक केन्द्रीकरण से नौकरशाही की ताकत बढ़ जाती है और वह अन्त में राजनैतिक डिक्टेटरशाही ले आती है। लोकतन्त्र की आत्मा तो है मनुष्य के व्यक्तित्व का आदर। इसलिए लोकतन्त्र का काम है स्थानीय संघटन निर्माण करके जनता का आत्म-विश्वास जागृत करना। ग्राम-पंचायतों नगरपालिकाओं और अन्य स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं को अधिकाधिक जिम्मेदारियां सौंपी जायं और वे अपने काम खुद करने लग जायं तभी यह हो सकेगा। इसका मतलब यह हरगिज नहीं कि ग्राम पंचायतें और अन्य स्वायत्त-संस्थाएं कटकर अलग हो जायंगी और इनका आपस में किसीसे कोई सम्बन्ध नहीं होगा। इन संस्थाओं को अपने-अपने क्षेत्र में शिक्षा धर्म और संस्कृति आदि सम्बन्धी कार्य करने की जरूर

धावादी हो परन्तु साथ ही यह भी प्रबन्ध हो कि तहसील और जिले के स्तर पर भिन्न-भिन्न पंचायतों के काम का सहयोग और समन्वय होता रहे। विकास-योजनाओं और उनके कार्यक्रमों को अमल करने की जिम्मेदारी यदि स्थानीय नेताओं पर छोड़ दी जाय तो इससे अवश्य ही काम अधिक और अच्छा भी होगा। निःसन्देह ग्राम-पंचायतों के काम में अव्यवस्था और कुछ भ्रष्टाचार भी पाया जा सकता है। परन्तु यह बुराई स्थानीय होगी और इसे ठीक करने की जिम्मेदारी स्थानीय नेताओं पर ही होगी जो जनता के प्रति उत्तरदायी होंगे।

फिर भी एक बात है, जिसपर गौर करना जरूरी है। ग्राम-पंचायतों को आर्थिक और राजनैतिक सत्ता अधिक व्यापक रूप में सौंपने से पहले स्वयं ग्रामीण समाज के अन्दर आज जो आर्थिक और सामाजिक विषमताएं हैं उनको ठीक करना होगा। आज भी उनमें जात-पांत का भेद और आर्थिक असमानता बहुत है। जमीन-सम्बन्धी सुधारों में भी हम बड़े ढीले रहे हैं। आज भी गांव की बहुत सारी जमीन थोड़े-से लोगों के हाथों में पड़ी है। जमीन का बंटवारा अधिक न्यायपूर्वक होना जरूरी है, परन्तु अनेक राज्यों में जमीन की अधिकतम सीमा अभीतक निश्चित नहीं हो पाई है। जात-पांत और सम्प्रदाय आज भी स्वस्थ लोकतन्त्र के मार्ग में खतरे के रूप में खड़े ही हैं। ऐसी हालत में आर्थिक और राजनैतिक सत्ता पंचायतों के हाथों में सौंपते समय योजनापूर्वक और कुछ सावधानी से ही काम लेना होगा। हर क्षेत्र में आर्थिक और सामाजिक न्याय की स्थिति क्या है यह देखकर वहां की पंचायतों को अधिक या कम सत्ता सौंपी जाय। उदाहरणार्थ एक ग्रामदानी गांव में सारे लोग अपनी जमीन का स्वामित्व खुद ही ग्राम-सभा को दे देते हैं। ऐसे गांवों को आर्थिक सम्मेलन में अवश्य अधिक सत्ता दे दी जाय क्योंकि वहां सामाजिक या आर्थिक शोषण के लिए बहुत कम गुंजाइश रह जायगी। परन्तु जिन गांवों में जमींदारी अधिकार नहीं मिटाये गये हैं और जातों के आकार में बहुत असमानताएं हैं वहां ग्राम-पंचायतों को अधिक आर्थिक या राजनैतिक सत्ता सौंपना खतरनाक होगा। जैसा कि आचार्य विनोबा कहा करते हैं—"जहां सामाजिक और आर्थिक न्याय नहीं है, ऐसे गांवों में पंचायतें निरंकुश विकेन्द्रित शासन का बहुत बड़ा

शासन बन जायेंगी। इसलिए पंचायतों के दो या तीन वर्ग कर दिये जायें और जहां जैसी स्थिति हो उसके अनुसार उनके अधिकार और कर्तव्य भी निश्चित कर दिये जायें। इनमें ग्रामदानी गांवों की पंचायतें निश्चय ही प्रथम श्रेणी में आयेंगी। दूसरी श्रेणी में उन गांवों की पंचायतें होंगी जहां का धार्मिक और सामाजिक वातावरण काफी स्वस्थ और न्याययुक्त होगा और जहां के चुनाव सर्व-सम्मत या लगभग सर्व-सम्मत होंगे। किन्तु जिन गांवों में राग-द्वेष भरा पड़ा है, आएदिन लड़ाई झगड़े होते रहते हैं जहां धार्मिक और सामाजिक न्याय की परवा ही नहीं है उनकी पंचायतें तीसरी श्रेणी में आयेंगी। पहली श्रेणी की पंचायतों को उनके क्षेत्र की जमीन के लगान का पचास प्रतिशत भी सौंपा जा सकता है। लगान की उगाही पर उन्हें आधा मेहनताना भी दिया जा सकता है। अपने क्षेत्र की आर्थिक विकास-सम्बन्धी योजनाएं बनाने और उनको कार्यान्वित करने का काम भी उन्हींको सौंपा जा सकता है। इसी प्रकार दूसरी और तीसरी श्रेणी की पंचायतों को भी उनकी शक्ति और योग्यता के अनुसार काम सौंपा जा सकता है। इस तरह पंचायतों का वर्गीकरण करके तदनुसार उन्हें सत्ता और अधिकार दे देने से काफी विकेन्द्रीकरण हो जायगा और वह व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक भी होगा। इससे पंचायतों के अन्दर अपने-अपने क्षेत्र की आर्थिक और सामाजिक स्थिति सुधारने के बारे में स्वस्थ होड़ भी होने लगेगी। आज की शासन-पद्धति में लोभजन्य अहंकार और अशिष्ट स्पर्धा पैदा होती है। नई विकेन्द्रित पद्धति में शुद्ध सामाजिक और सहकारी जीवन का विकास होगा।

गांधीजी हमसे हमेशा कहा करते कि लोकतन्त्र का विकास अहिंसा और सहकारिता के वातावरण में ही हो सकता है। भारतीय गणतन्त्र भी लोकतन्त्र और शान्तिपूर्ण मार्ग पर चलने के लिए प्रतिज्ञा-बद्ध है और सच्ची अहिंसा का विकास विकेन्द्रित आर्थिक तथा राजनैतिक संगठन में ही हो सकता है। इसीलिए गांधीजी ग्राम-पंचायतों और सहकारी संस्थाओं के संगठन पर इतना जोर देते थे। यदि हम भारत को अत्यधिक केन्द्रित सत्तावाला लोकतन्त्र अथवा एकाधिकार-वाला (टोटेलिटेरियन) राज्य नहीं बल्कि अहिंसा पर आधारित एक राज्य बनाना चाहते हैं तो हमें बहुत सोचना

और व्यवस्था के साथ राजनैतिक और आर्थिक सत्ता को विकेन्द्रित करना होगा।

४२

साम्प्रदायिक विकास और जनता

सामुदायिक विकास-योजनाओं पर विचार करने के लिए एक परिषद आबू में हुई थी। उसके लिए भेजे गये अपने सन्देश में प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने लिखा था—"सामुदायिक विकास की यह हलचल अब तेजी से लोगों के हाथों में चली जानी चाहिए। सरकारी मदद और सहयोग भी आवश्यक है। वह मिलता रहेगा परन्तु अब इसे उत्तरोत्तर जनता की प्रवृत्ति बन जाना चाहिए। इसको सरकार द्वारा ऊपर से नहीं चलाया जाना चाहिए। प्रधानमन्त्री ने यह भी कहा कि हमारे राजनैतिक आर्थिक और सांस्कृतिक विकास का आधार प्रत्येक गांव में पाठशाला पंचायत और सहकारी समिति हो। स्वावलम्बी सहकार की मदद से ही हम आगे बढ़ सकेंगे। मेरा ख्याल है नवीन भारत के निर्माण में शासन को अभी बहुत अधिक काम करना है परन्तु मुझे विश्वास है इसमें असली उत्साह-शक्ति सरकार की नहीं जनता की अपनी ही होगी।

योजना-आयोग के तत्कालीन उपसभापति श्री वी टी कृष्णमाचारी ने भी इस बात पर जोर दिया कि सामुदायिक विकास की सारी योजनाओं म गांव की सभी संस्थाओं को भाग लेना चाहिए। अपने प्रारम्भिक भाषण में उन्होंने ग्राम-पंचायतों और सहकारी समितियों के द्वारा सिंचाई के वर्तमान साधनों का पूरा-पूरा उपयोग किस प्रकार किया जाय इसपर विस्तार से चर्चा की। उन्होंने बताया कि दूसरी पंचवर्षीय योजना में सिंचाई की केवल बड़ी योजनाओं मे किसानों को अपने खेतों म स १,९ मील की नहरें खोदनी होंगी। फिर इन नहरों को हर वर्ष अच्छी हालत में रखने के लिए और उनके अन्दर से कहीं पानी बेकार न बह जाय इसके लिए समय समय पर उनकी मरम्मत भी करते रहना पड़ेगा। फिर अन्न की पैदावार बढ़ाने के लिए अच्छे बीज लाने होंगे तथा कम्पोस्ट और हरी खाद बनानी होगी। यह सारा कार्यक्रम पंचायतों और सहकारी समितियों की मदद से

ही हो सकता है। श्री कृष्णमाचारी ने कहा कि इसलिए आनेवाले दो-तीन वर्षों में सबसे पहले गांवों में यही काम—इन संस्थाओं की स्थापना का—करना होगा। अन्त में उन्होंने कहा कि इस काम की सफलता का हिसाब मानव-मूल्यों पर ही लगाया जायगा इस प्रकार कि स्त्री-पुरुष अपने कर्तव्यों और जिम्मेदारियों को कितना समझने और उन्हें पूरा करने लगे हैं क्योंकि व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से भी इसी प्रकार तो मनुष्य का और समाज का भी पूरा-पूरा विकास हो सकेगा और इसी प्रकार ग्रामीण क्षेत्र में सामाजिक और नैतिक एकता की भावना भी पैदा हो सकेगी जोकि राष्ट्रीय एकता का एकमात्र आधार है।

आबू की परिषद में भी बलवंतराय मेहता कमेटी की लोकतन्त्र के विकेन्द्रीकरण-सम्बन्धी सिफारिशों पर बड़े विस्तार से विचार किया गया और उसने महसूस किया कि सारे राज्यों की सरकारों को इनपर जल्दी-से जल्दी अमल करना चाहिए। देश के सारे गांवों में पंचायतों की स्थापना जल्दी-से-जल्दी हो जानी चाहिए। परिषद ने यह भी महसूस किया कि सामुदायिक विकास योजनाओं का कार्यक्रम तबतक पूरा नहीं हो सकेगा जब तक इस काम के लिए स्थानीय नेता आगे नहीं होंगे और यह तभी सम्भव होगा जब ग्राम-पंचायतों को काफी अधिकार दे दिये जायंगे। सबकी राय यह रही कि जबतक यह सब नहीं हो जाता तबतक विकास-खण्डों की सलाहकार-समिति का सभापति गैर-सरकारी व्यक्ति रहे।

परिषद ने इस बात पर भी जोर दिया कि सामुदायिक विकास-योजना और ग्रामदान-आन्दोलन के कामों का समन्वित किया जाना बहुत आवश्यक है। यह स्वीकार किया गया कि ग्रामदान द्वारा सामाजिक जीवन की पुष्टि बढ़ाने में बड़ी मदद मिलेगी क्योंकि सहकारिता और एक-दूसरे की मदद तो उसमें है ही। सरकार स्वयं भी ग्रामदान या भूमिदान में जमीनें दे सकती है, परन्तु सरकारी कागजातों से दान-पत्रों की जांच में जमीनों की सीमाएं बनाने में चकबन्दी करने और जमीनों के बांटने में राज्य के सम्बन्धित अधिकारी अवश्य मदद कर सकते हैं। यह भी निश्चय किया गया कि सामुदायिक विकास-खण्डों के काम के प्रशिक्षण में ग्रामदान-आन्दोलन के अध्ययन को भी शामिल कर लिया जाय और ग्रामदानी गांवों के कार्य के

लिए खास आदमी को तैयार करने का यत्न किया जाय। ग्रामदान-आन्दोलन भी अपनी तरफ से इन गांवों में सामुदायिक विकास-योजना के विविध कार्यों को अपने ग्राम-राज्य-कार्यक्रम में शामिल कर सका।

शुरू में सामुदायिक विकास के काम का प्रारम्भ तो सरकार ने किया और उसमें जनता का सहयोग मांगा अर्थात् कार्य क्रम सरकार का और जनता का सहयोग ऐसी बात थी। अब ऐसा समय आ गया है कि यह कार्य क्रम जनताका हो जाय और सरकार उसमें मदद कर दिया करे। लोग जब स्वयं अपनी मदद करने लग जायेंगे तब सरकार भी उन्हें जाकर मदद देगी। यदि यह आन्दोलन वास्तव में जनता के हाथों में नहीं चला जाता है और निरा एक सरकारी कार्यक्रम ही रह जाता है तो निश्चय ही इससे भारत के लोकतन्त्र को खतरा हो सकता है। इससे नौकरशाही बलवान बन जायगी और लोग लाचार बनकर उसके पहिए के साथ बंधकर उसके पीछे-पीछे घिसटते जायगे। समस्त संसार में पहला देश भारत है जिसने लोकतंत्र के अन्दर यह संयोजन का प्रयोग पहले-पहल सच्चे दिल से अपने हाथों में लिया है। यह प्रयोग तभी सफल होगा जब शहरों और गांवों की स्वायत्त शासन संस्था में सामुदायिक विकास के कार्यक्रम को अपने-अपने क्षेत्र में उठा लेंगी। लोकतंत्र के विकेन्द्रीकरण का यह कार्य नियमोपनियम अथवा कानून बना देने से भी नहीं बनेगा। यह तभी सफल होगा जब स्वयं राज्य सरकारें और राज्य के अधिकारी भी लोकतन्त्र के तरीकों से समाज के विकास के इस महान कार्य को सही वृत्ति से हाथ में लेंगे और उसे लगातार आगे बढ़ायेंगे। निःसन्देह इस विकेन्द्रीकरण में देरी लगेगी। लोगों के हाथों में सत्ता क्रमशः और एक खास विधि से ही दी जा सकेगी परन्तु जिस दिशा में हमें जाना है, उसके विषय में रत्ती भर भी भ्रम या सन्देह न रहे।

गांधीजी बार-बार यही कहते थे कि जब ग्राम-पंचायतें पुनः प्राणवान बन जायंगी और जनता की सामाजिक आर्थिक और नैतिक भलाई के काम करने लगेगी तब सच्चा स्वराज आयगा। स्वयं भारतीय संविधान के मार्ग-दर्शक सिद्धान्तों में लिखा है कि स्वराज्य की बुनियादी इकाई ग्राम-पंचायतें ही होंगी। अतः राज्य-सरकारों का कर्तव्य है कि इसका परिपालन वे सच्चे

दिल से और जल्दी-से-जल्दी करें, क्योंकि जितनी मात्रा में देश में उद्योग होगा उतनी ही मात्रा में सामुदायिक विकास में हम आगे बढ़ेंगे।

यह भी प्रसन्नता की बात है कि इस परिषद में ग्रामीण समाज के गरीब वर्गों अर्थात् बेजमीन मजदूरों, छोटे किसानों, हरिजनों और आदिवासियों की जरूरतों की तरफ भी खास तौर पर ध्यान दिया गया। इस बात पर खास जोर दिया गया कि कर्ज-सम्बन्धी सुविधाएं देते समय इनकी जरूरतों का अवश्य ध्यान रखा जाय। सहकारी संस्थाओं के कर्ज देने के लिए योग्य व्यक्तियों की अपेक्षा कर्ज की जिन कामों के लिए आवश्यकता है, इसका ध्यान रखना चाहिए। गांधीजी हमेशा कहा करते थे कि जो मनुष्य सबसे नीचे वाली सीढ़ी पर खड़ा है, उसकी जरूरत की पूर्ति पहले करो। किन्तु दुःख की बात है कि सामुदायिक योजना में अबतक तो ऐसा नहीं हुआ है। हम आशा करते हैं कि ऐसी शिकायत अब नहीं होगी।

परिषद् को भेजे अपने सन्देश के अंत में प्रधान मन्त्री ने खास तौर पर इस बात का उल्लेख किया कि सामुदायिक विकास-योजना में बहनों का हिस्सा क्या हो। उन्होंने कहा—लोगों को जगाने के मानी हैं बहनों को जगाना। वह जाग जाती हैं तो सारा घर, गांव और देश भी जग जाता है और काम में लग जाता है।

यही नहीं बल्कि बहनों के जाग जाने पर बच्चों के रूप में देश का भविष्य भी जाग पड़ता है। बच्चों को अच्छे संस्कार मिलते हैं, उनकी आदतें सुधरती हैं, वे उद्योगशील बनते हैं और इस प्रकार भावी भारत का निर्माण शुरू हो जाता है।

सामुदायिक विकास-योजना और राष्ट्रीय विकास-खण्डों के तमाम कार्यकर्ताओं से प्रधान-मन्त्री के ये शब्द याद रहें। स्त्रियां आधा भारत हैं। शहरों में और गांवों में वे परिवार का केन्द्र होती हैं। प्रत्येक परिवार में जब मां किसी दीपक को जलाती है तो उसकी लौ पीढ़ियों तक जलती रहती और प्रकाश देती रहती है। इसलिए देश की प्रगति और समृद्धि में स्त्रियों का स्थान कितना महत्त्वपूर्ण है, इसे हमें कभी नहीं भूलना चाहिए।

खण्ड ५

भारतीय संयोजन की आधारभूत दृष्टि

१

संयोजन और लोकतंत्र

अक्सर पूछा जाता है कि क्या लोकतंत्र में भी संयोजन किया जा सकता है या उचित है?

यह प्रश्न इसलिए पैदा होता है कि आर्थिक संयोजन व्यापक रूप से पहले-पहल सोवियत रूस में एकाधिकार (टोटैलिटेरियन) की स्थिति में किया गया और चूंकि रूस में आर्थिक और राजनैतिक सत्ता का बहुत अधिक केन्द्रीकरण है लोगों का यह ख्याल बन गया कि संयोजन वहीं सफल हो सकता है जहां केन्द्रीय सरकार के हाथों नियमन नियन्त्रण और समाज से फौजी अनुशासन से भी काम लेने की सत्ता होती है और तमाम साम्यवादी देशों में आर्थिक संयोजन इसी प्रकार व्यवस्थापूर्वक किया जा रहा है। परन्तु भारत ही एक ऐसा देश है, जहां लोकतन्त्र के अन्दर संयोजन का प्रयोग हो रहा है। संयुक्त राज्य अमरीका में उस महान मंदी के बाद राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने 'न्यू डील' के रूप में राष्ट्रीय जीवन के कुछ अंगों में संयोजन का प्रयोग करने का यत्न किया था। इसी प्रकार ग्रेट ब्रिटेन में भी कुछ अंगों में लोकसेवा की कुछ संस्थाओं में और व्यापारी निगमों (कॉर पोरेशन्स) में लोगों को काम देकर सुरक्षा की स्थिति पैदा करने के हेतु से संयोजन का प्रयोग किया गया था परन्तु पश्चिम के प्रसिद्ध लोकतन्त्री राज्यों में से एक ने भी अभी तक अपने सारे राज्य के लिए और जीवन के सभी अंगों के लिए संयोजन का प्रयत्न तक नहीं किया है। इस दृष्टि से भारत के संयोजन का यह प्रयोग न केवल एशिया के लिए, बल्कि सारे

संसार के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसलिए यदि यह प्रयोग सफल रहा और हमें विश्वास है कि यह सफल होगा तो हमारा यह अनुभव अनेक देशों के लिए और कम विकसित देशों के लिए खास तौर पर बड़ा मार्गदर्शक होगा।

संयोजन का मुख्य उद्देश्य और सार यह है कि देश के जन धन और अन्य साधनों का पूरा-पूरा उपयोग कर लिया जाय जिससे इनमें से कोई चीज जरा भी बेकार न जाने पाये। स्वतंत्र व्यापार और प्रतिस्पर्धा की पद्धति में एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के अज्ञान गरीबी और अन्य असुविधा का अनुचित लाभ उठाकर उसका शोषण करना चाहता है, जिसके कारण मनुष्य की शक्ति और साधनों का भी बहुत अपव्यय होता है। कहने मात्र को यह खुला बाजार और स्वतंत्र व्यापार कहा जाता है, लेकिन इसमें बेहद प्रतिस्पर्धा होती है और यह होती है इस सिद्धान्त पर कि जो सबसे अधिक योग्य होगा वह जियेगा। इसलिए अब पूंजीवादी देशों में भी यह स्वीकार किया जाने लगा है कि स्वतंत्र व्यापारवाला यह सिद्धान्त पुराना और निकम्मा है। वे मानते हैं कि उसके स्थान पर अब राज्य को सारे व्यापार व्यवसायों पर अपना नियन्त्रण रखना चाहिए और सारे काम योजना पूर्वक किये जाने चाहिए। यदि हम यह मान लेते हैं कि लोकतन्त्र में संयोजन सम्भव नहीं है तो उसका अर्थ यह है कि उसके अविवाज्य से राष्ट्र की संपत्ति के व्यवस्थित उपयोग की गुंजाइश ही नहीं है। यह तो बिल्कुल अटपटी बात है। सच तो यह है सच्चा संयोजन अर्थात् व्यक्ति और समाज के हितों का समन्वय तो लोकतन्त्र में ही सम्भव है। मेरा तो दृढ़ मत है कि भारत में लोकतन्त्री व्यवस्था में संयोजन का हम जो यह प्रयोग कर रहे हैं वह सारे संसार के सामने एक ऐसा आदर्श उपस्थित करेगा जिसका बहुत-से राष्ट्र अनुकरण करके लाभ उठायेंगे। आधुनिक संसार में संयोजन का अर्थ है जनता का अधिक-से-अधिक और प्रसन्नतापूर्वक दिया हुआ सहयोग और यह तो लोकतन्त्र में ही सम्भव है। एकाधिकारवाले राज्यों में जिस प्रकार का आर्थिक संयोजन किया जाता है वह तो वास्तव में आर्थिक और फौजी बेगार होती है।

परन्तु एक बात साफ तौर पर समझ ली जाय। लोकतन्त्र में संयोजन का मतलब होता है आर्थिक और राजनैतिक सत्ता का बड़े पैमाने पर

विकेन्द्रीकरण और वितरण। इसी प्रकार यदि संयोजन में पूरी तरह से सजग न रहें तो लोकतन्त्र में भी सत्ता का अत्यधिक केन्द्रीकरण यहाँतक कि फौजी कब्जाई तक आ सकती है। इसलिए यह ठीक ही है कि भारत में सामुदायिक विकास-योजना पंचायत सहकारिता तथा विद्यालय जैसी लोकतंत्रीय ग्राम-संस्थाओं के ठोस आधार पर बनाई जा रही है। प्रारम्भ में सामुदायिक विकास-योजनाओं को सरकारी योजनाएं बताया गया था और लोगों से कहा गया था कि वे उनमें सहयोग दें। परन्तु अब इतने वर्षों के अनुभव के बाद केन्द्र और राज्यों की सरकारों ने यह निश्चित किया है कि ये योजनाएं वास्तव में जनता की अपनी हों और सरकार का वे सहयोग ले लें। यह केवल शब्दों का अन्तर नहीं है, इसमें तो सारी दृष्टि और काम करने की पद्धति ही बदल जाती है। लोकतन्त्री संयोजन का सारा उद्देश्य यह है कि स्वयं लोगों की शक्ति का विकास हो उनमें सूझ-बूझ आये और वे अपनी बुद्धि से सारे काम अच्छी तरह करके राष्ट्र की संपत्ति को बढ़ायें। यदि संयोजन में यह नहीं होता है तो वह सच्चा लोकतन्त्री संयोजन ही नहीं है। गांधीजी सदा कहा करते थे कि सही साधनों से ही अच्छे काम हो सकते हैं। नहीं भलाई के लिए भी सत्ता के केन्द्रीकरण और हिंसा से काम लिया जाता है वहां लोकतन्त्र है ही नहीं। वहां ऐसी आर्थिक और राजनैतिक सत्ता खड़ी हो जायगी जो लोकतन्त्र की विरोधी होगी। प्राध्यापक कोल ने लिखा है कि लोकतन्त्र और केन्द्रीकरण परस्पर विरोधी चीजें हैं क्योंकि जहां-जहां भी समाज अपनी इच्छा प्रकट करना चाहता है उसे इसका अवसर तत्काल और पूरा-पूरा मिलना ही चाहिए। यदि उसे एक प्रवाह-विशेष में ही चलने या बहने के लिए मजबूर किया जायगा तो वह अपनी सहज स्फूर्ति और उत्साह को देगा। पश्चिम के अनेक देशों में कहने को लोकतन्त्र है, परन्तु सत्ता के अत्यधिक केन्द्रीकरण के कारण वहां उनमें अनेक दोष पैदा हो गये हैं। इसलिए प्राध्यापक ऐडम्स ने अपनी पुस्तक 'दि मॉडर्न स्टेट' में आजकल की लोकतन्त्री हुकूमतों का विश्लेषण-परीक्षण करने के बाद अन्त में लिखा है कि हमें बुराई की जड़ में पहुंचना चाहिए और साहसपूर्वक सत्ता का विकेन्द्रीकरण और वितरण करना चाहिए। प्राध्यापक लास्की भी यही सलाह देते हुए कहते हैं कि मेरे

आज्ञापालन से सृजन-शक्ति मर जाती है। जहां राज्य में सत्ता अत्यधिक केन्द्रित होती है वहां आज्ञापालन मनुष्य को यन्त्र जड़ और निष्प्राण बना देता है। इसीलिए अमरीका के प्रसिद्ध समाजशास्त्री लेविस ममफोर्ड ने देहात में छोटे-छोटे सत्तुलित समाजों के निर्माण पर जोर दिया है। ये समाज नौकरशाही वृत्ति को पैदा ही नहीं होने देंगे और लोकतन्त्र की स्वस्थ पद्धति की नींव बन जायेंगे।

यदि हम भारतीय लोकतन्त्र का अध्ययन करते हैं तो देखते हैं कि इस देश में पंचायत-प्रथा अज्ञात काल से चली आई है। ठेठ वैदिक काल में भी शासन की बुनियादी इकाई गांव माना जाता था। उपनिषदों में जातकों में और स्मृतियों में ग्राम-सभाओं का उल्लेख मिलता है। सर चार्ल्स मेट काफ ने इन पंचायतों को छोटे-छोटे गणराज्य कहा है और लिखा है कि वे एकदम स्वतन्त्र थे किसी बाहरी शक्ति के अधीन नहीं थे। अंग्रेजों के राज्य में इनपर बड़ा कठोर प्रहार हुआ परन्तु अब वे फिर अपने पुराने स्थान को प्राप्त करने जा रही हैं। भारतीय संविधान में पंचायतों को शासन की बुनियादी इकाई माना गया है। अतः इनको जितने स्वतन्त्र और स्वस्थ वातावरण में अपना विकास करने का अवसर दिया जायगा हमारा आर्थिक संयोजन उतना ही सफल होगा। पंचायतों को और सह कारी समितियों को संयोजन का आधार बनाने के बदले यदि हम केवल सरकारी नौकरों और अधिकारियों से ही यह काम लेंगे तो इनकी एक विशाल फौज खड़ी हो जायगी जो बहुत बुरी चीज होगी और काम कुछ नहीं होगा। निःसन्देह सरकारी नौकर भी एक हद तक तो आवश्यक है ही परन्तु इनकी संख्या अधिक बढ़ाना और उन्हींके भरोसे रहना लोकतन्त्र का नहीं एकाधिकार का मार्ग है।

इसलिए हमें भारत में स्वतन्त्र व्यापार और खींची कमाई इन दोनों पद्धतियों से एकदम बचना है। हमें अपने देश का संयोजन इस प्रकार करना है कि जिसमें व्यक्ति और समाज दोनों एक-दूसरे के विकास और प्रगति में सहायक हों। इस व्यवस्था में दो क्षेत्र होंगे एक सरकारी और दूसरा निजी। परन्तु दोनों इस प्रकार सहयोग के साथ काम करेंगे कि दोनों मिलकर सही अर्थ में लोकहित के क्षेत्र बन जायेंगे। हमने भारतीय

लोकतन्त्र को सोशलिस्ट कोआँपरेटिव कॉमनवेल्थ कहा है। लोकतन्त्र में समाजवाद तभी सफल हो सकता है जब जीवन के सभी क्षेत्रों में सहकारिता के तत्वों से काम लिया जाय। आचार्य विनोबा भावे का ग्रामदान आन्दोलन बताता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में किस प्रकार सहकारिता के आदर्श पर अमल किया जा सकता है। हमें आशा है कि इस सिद्धान्त को धीरे धीरे औद्योगिक क्षेत्रों में भी लागू किया जा सकता है। कोई कारण नहीं दिखाई देता कि हमारे बड़े-से-बड़े कारखाने भी सहकारिता के आधार पर क्यों न चलाये जायं। आज के संसार में समाजवाद और लोकतन्त्र एक-दम बेमेल से लगते हैं, परन्तु बात ऐसी नहीं है। विकेन्द्रित सहकारिता की पद्धति से यदि हम काम लें तो दोनों एक-दूसरे के पूरक हो सकते हैं और परस्पर को मजबूत बना सकते हैं।

भारत एक महत्वाकांक्षी राष्ट्र है। अपनी प्रकृति के अनुसार हमारी परम्पराओं और कार्य-पद्धति का विकास करने के बजाय यदि हम दूसरे देशों के प्रयोगों की नकल करने लगेंगे तो वह हमारे लिए घातक होगा। मुझे विश्वास है कि लोकतन्त्र में आर्थिक संयोजन का हमारा यह प्रयोग अवश्य सफल होगा और वह दूसरे राष्ट्रों को बता देगा कि संयोजन न केवल लोकतन्त्र से सुसंगत है, अपितु उसका आवश्यक भाग है।

२

संयोजन का ध्येय

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी कहा करते थे कि केवल स्वतन्त्र हो जाने से हमारी सारी समस्याएं नहीं सुलझ जायंगी। उससे तो हमारे आर्थिक और सामाजिक विकास के मार्ग की केवल कुछ रुकावटें ही दूर करने में हमें मदद मिलेगी परन्तु इन बाधाओं को भी पूरी तरह से दूर करने के लिए हमें व्यवस्थित रूप से और पद्धतिपूर्वक यत्न करना होगा। इसीलिए तो स्वराज्य-प्राप्ति के बहुत पहले से गांधीजी रचनात्मक कार्य की पूर्ति पर इतना जोर देते रहते थे। स्वराज्य अपने-आपमें कोई लक्ष्य नहीं था। हमारा असली लक्ष्य तो था अपने करोड़ों देश-भाइयों का सर्वांगीण विकास और प्रगति। भारत के संविधान में यही बात न्याय स्वतन्त्रता समानता

और समुदाय पर आधारित लोकतान्त्रिक समराज्य की स्थापना' इन शब्दों में कही गई है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए खेती और उद्योगों की उपज बढ़ाना तथा बेकारी का मिटाना जरूरी है।

स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद तुरन्त भारत सरकार ने देश के सामाजिक आर्थिक और औद्योगिक विकास के लिए एक राष्ट्रीय योजना बनाने का निश्चय किया। तदनुसार सन् १९५० में योजना-आयोग की स्थापना हुई और सन् १९५१ से हमारी पहली पंचवर्षीय योजना शुरू भी हो गई। सन् १९५६ में वह समाप्त हुई और उसके बाद दूसरी पंचवर्षीय योजना शुरू हो गई और अब तीसरी योजना की तैयारी है।

भारत जैसे कम विकसित देश को जिन समस्याओं का मुकाबला करना पड़ता है उनमें से कुछ ये हैं—

१ खेती और उद्योगों की उपज बढ़ाना।

२ अधिक-से-अधिक लोगों को रोजी देना।

३ सामाजिक और आर्थिक विषमताएं कम करना।

४ विकास के लिए आवश्यक साधन उपलब्ध करना।

भारत कृषि प्रधान देश है और राष्ट्र की आय का लगभग आधा भाग खेती से प्राप्त होता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि आर्थिक विकास की किसी भी योजना में खेती का हिस्सा प्रमुख होगा। पहली पंचवर्षीय योजना में खेती की उपज बढ़ाने पर बहुत जोर दिया गया है। दूसरी पंचवर्षीय योजना में भी भारी उद्योगों के साथ-साथ खेती की उपज बढ़ाने पर जोर दिया गया। परन्तु बीच में कुछ वर्ष खराब गये। इस कारण हमें सफलता नहीं मिल सकी। इसलिए अब यह जरूरी समझा गया कि खेती की उपज बढ़ाने के कुछ ऐसे उपाय किये जायं जिससे हमें केवल वर्षा पर निर्भर न रहना पड़े भले ही इसके लिए हमें लगातार कई वर्षों तक प्रयत्न करना पड़े। परन्तु यह स्मरण रखना जरूरी है कि खेती की उपज इस प्रकार स्थायी रूप से बढ़ाने के लिए जनता को स्वयं पूरा-पूरा यत्न करना होगा। कोई भी सरकार चाहे वह कितनी ही कुशल और कार्यक्षम हो राष्ट्र के साधनों का स्वयं इस प्रकार उपयोग नहीं कर सकती। इसीलिए तो सामुदायिक ग्रामीण क्षेत्रों में पंचायतों और सहकारी समितियों की स्थापना

पर विकास-योजनाओं में इसका ध्यान दिया गया है। इन संस्थाओं को राष्ट्रीय संयोजन में अपनी पूरी-पूरी शक्ति लगा देनी होगी। पशु-पालन और गृहोद्योग ये दो और ऐसे काम हैं जिनका राष्ट्र के निर्माण में बहुत महत्व है। पंचायतों और सहकारी समितियों को इनका भी ध्यान रखना होगा।

प्रधानमन्त्री भी इन दिनों सहकारी पद्धति की खेती पर बहुत जोर देते हैं। इनकी राय यह है कि छोटे-छोटे खेतों की खेती महंगी पड़ती है। उनके बड़े-बड़े चक बना लिये जाय और उनपर सहकारी पद्धति से खेती हो। इस पद्धति में किसानों का अपने खेतों पर हक बना रहेगा और सारे चक की जो उपज होगी उसमें से उनको जमीन की अनुपात में उनको उपज का हिस्सा मिल जाया करेगा। इसके अलावा जो सम्मिलित खेती में काम करेंगे *उन्हें उनके काम के अनुसार मजदूरी मिल जायगी चाहे उनकी जमीन हो* या न हो। प्रधानमन्त्री यह भी चाहते हैं कि इस प्रकार की सहकारी खेती करने से पहले लोगों में सहकारी भावना का निर्माण करने के लिए सारे देश में अन्य अनेक प्रकार की सेवा सहकारी समितियां स्थापित हो जानी चाहिए। ये समितियां गांव के सारे काम करें—बीज दें खाद बांटें छोटी-छोटी सिंचाई योजनाएं बनायें और उन्हें चलायें खेती में सुधरे हुए तरीकों से काम लें किसानों को कर्ज देने का प्रबन्ध करें और उनकी फसलों के बेचने का भी प्रबन्ध करें।

औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने के लिए भी पहली तथा दूसरी पंचवर्षीय योजना में सरकार ने काफी यत्न किया है। सारे देश में भारी उद्योगों से लेकर छोटे-छोटे और गृहोद्योगों के विकास की तरफ भी उसने पूरा ध्यान दिया है। दूसरी पंचवर्षीय योजना में उसने लोहा इस्पात बिजली कोयला परिवहन संचार, यन्त्र-निर्माण तथा रासायनिक चीजों के निर्माण-सम्बन्धी बड़े उद्योगों के विकास पर खास तौर पर अधिक ध्यान दिया है।

इसमें रहस्य यह रहा है कि हमारे विकास का कार्यक्रम बहुत लम्बा होगा। उसके लिए अनेक छोटे-बड़े उद्योग शुरू करने होंगे जिनके लिए यन्त्रों की जरूरत होगी। ये सब यन्त्र हमें अपने देश में ही बना लेने चाहिए। लोहा-इस्पात-बिजली और यन्त्रों के इन बड़े कारखानों की हमें इसीलिए बहुत

जरूरत है। इन सारे उद्योगों का स्वामी राज्य या राष्ट्र ही होगा। छोटे और ग्रामोद्योगों का विस्तार सहकारिता के आधार पर किया जायगा। खादी खाद्य तेल चावल गुड़ खाण्डसारी माचिस आदि का उत्पादन इन छोटे और ग्रामोद्योगों के द्वारा होगा और इनका संचालन खादी ग्रामोद्योग आयोग हाथ करघा बोर्ड दस्तकारी बोर्ड रेशम बोर्ड और नारियल-जटा-बोर्ड जैसी संस्थाएं करेंगी। छोटे और बड़े उद्योगों के बीच संघर्ष न हो इसका सरकार को बराबर ध्यान है और यद्यपि भारी उद्योगों को सरकार अपने हाथ में रखेगी और छोटे उद्योगों का संचालन सहकारी समितियों द्वारा होगा फिर भी निजी उद्योगपतियों के लिए काम करने की काफी गुंजाइश रह जायगी। केवल उन्हें राष्ट्रीय संयोजन की चौखट में अपनेको बैठा लेना होगा और राष्ट्र के हितों को सर्वोपरि स्थान देना होगा।

खेती और उद्योगों के उत्पादन बढ़ाने के अतिरिक्त एक मुख्य समस्या है बेकारी को मिटाने की। इसलिए राष्ट्रीय संयोजन की हर योजना में आदमियों की बचत का नहीं अधिक-से-अधिक आदमियों को किस प्रकार काम दिया जा सकता है इसका ध्यान हमें रखना होगा। कम विकसित देशों में खेती में भी अधिक शक्ति-चालित यन्त्रों से काम लेना लाभदायक नहीं होता। ट्रैक्टरों आदि भारी यन्त्रों का उपयोग नई जमीनें तोड़ने के लिए हो सकता है, परन्तु खेती-सम्बन्धी दूसरे कामों में तो देशी औजारों से काम लेने में ही लाभ है। हां उनमें जरूरी सुधार अवश्य कर लिये जाय। यह ख्याल भी गलत है कि खेती में भारी यन्त्रों के उपयोग से उसकी प्रति एकड़ उपज बढ़ जाती है। हां आदमी कम लगते हैं इसलिए उसमें प्रति एकड़ लागत जरूर कम हो जाती है। परन्तु सुधरे हुए साधनों का उपयोग हो, और सिंचाई की सहायता से अधिक फसलें ली जायें तो छोटे खेतों की प्रति एकड़ उपज अवश्य बढ़ जायगी। उद्योगों के क्षेत्र में गृहोद्योगों ग्रामोद्योगों और छोटे उद्योगों में अधिक आदमियों को काम देकर बेकारी की समस्या को हल करने में बड़ी मदद मिलती है और पूंजी भी कम लगती है। इसी लिए भारत सरकार छोटे उद्योगों और ग्रामोद्योगों के विस्तार पर इतना अधिक जोर देती है। इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण अम्बर चरखा है।

खादी ग्रामोद्योग आयोग प्रति वर्ष एक लाख अम्बर चरखे गांवों में वितरित कर रहा है। इस कारण खादी और अम्बर की खादी के उत्पादन में लगभग ग्यारह लाख कातने और बुनने वालों को काम मिल रहा है जबकि देश की सारी कपड़ा और सूत की मिलें केवल सात लाख मनुष्यों को काम दे रही हैं। फिर खादी-कार्य में कुल मिलाकर केवल आठ से दस करोड़ रुपये की पूंजी लगी हुई है जबकि मिलों में तीन सौ करोड़ की पूंजी लग रही है। इन अंकों से ज्ञात होता है कि यदि हम छोटे उद्योगों के संगठन का व्यापक बनायें तो इसमें बहुत-से आदमियों को रोजी दी जा सकती है। पहली पंचवर्षीय योजना के अन्त में पचास लाख आदमी इस देश में बेकार थे। दूसरी पंचवर्षीय योजना में खेती के बाहर एक करोड़ आदमियों को काम देने की योजना बनाई थी परन्तु अभी जो अंक उपलब्ध हैं उनसे ज्ञात होता है कि दूसरी योजना के अन्त तक पचास लाख से अधिक आदमियों को काम नहीं दिया जा सकेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि तीसरी योजना में और भी अधिक आदमियों को काम देने का प्रबन्ध करना होगा। यह तभी सम्भव होगा जब हम ग्रामोद्योगों को और गृहोद्योगों को और भी अधिक व्यापक रूप से फैलायेंगे।

हम भारत में समाजवादी लोकतन्त्र स्थापित करना चाहते हैं जिसके अंदर सबके लिए समान अवसर होंगे और आर्थिक असमानताएं उत्तरोत्तर कम होती जायेंगी। जो जीवन में संपूर्ण समानता का लाना तो संभव नहीं है, परन्तु ऐसी बड़ी-बड़ी असमानताएं तो असहनीय ही हैं। वे लोकतंत्र और समाजवाद के विपरीत हैं। इनको मिटाना जरूरी है। यह अपने साधनहीन भाइयों को जीवन का स्तर ऊपर उठाने के अवसर प्रदान करके ही हो सकता है। कुछ वर्ष पहले कर-जांच-आयोग ने सुझाया था कि सबसे नीची और सबसे ऊंची आमदनियों के बीच का भेद १ : ३ तक घटा दिया जाना चाहिए परन्तु यदि व्यवस्थित रूप से यत्न किया जाय तो वह १ : २ तक भी लाया जा सकता है। निश्चय ही यह काम आसान नहीं है। सोवियत रूस में समानता निर्माण करने के प्रयोग गत चालीस वर्षों से चल रहे हैं, परन्तु वहां भी आज आयवालियों में बड़ी विषमताएं हैं। १ : ५ तक और इससे भी अधिक अन्तर सबसे नीची और ऊंची-से-ऊंची आयवालों में है। परन्तु हम अपने

देश में इसे उचित सीमा तक क्यों नहीं लाया ? यह केवल बंध की तरह भ्रम करने से नहीं होगा। इसके लिए कर-प्रणाली का उपयोग करना होगा। खास कर की ऊंची दरें, संपत्ति और व्यय का कर, भेंट (गिफ्ट) कर और ऊंची आयवाली जायदादों पर जायदाद-कर लगाने से इन विषमताओं को कम करने में काफी मदद मिली है।

परन्तु केवल करों से भी पूरी समानता नहीं आयेगी। उत्पादन के तरीकों को ही हमें बदलना होगा जिससे संपत्ति के केन्द्रीकरण की जड़ से प्रहार हो सके। आज निजी कारखानों में उत्पादन होता है और लोग बहुत मुनाफा कमाते हैं। इसके बजाय उत्पादन सहकारिता की पद्धति से विकेन्द्रित कर दिया जाय तो थोड़े-से लोगों के हाथों में इस प्रकार संपत्ति एकत्र नहीं होगी। भारी और बुनियादी उद्योगों पर तो राज्य का स्वामित्व है ही। उनका लाभ किसी व्यक्ति की जेब में नहीं राज्य-कोष में जाता है, जिससे सारे समाज की सेवा होती है। इसी प्रकार उपभोग्य वस्तुओं के उद्योग यदि सहकारिता के आधार पर और छोटे कारखानों के रूप में चलाये जायं तो थोड़े-से खानगी आदमियों के हाथ में धन एकत्र होने का प्रश्न ही पैदा नहीं होगा। आगे चलकर देश के भीतरी और बाहरी व्यापार में भी बिचौलियों को हटाया जा सकता है। राष्ट्रीय विकास-परिषद् लोक-निर्माण-कार्यों के ठेकों का भी नियमन करने की योजना बना रही है। इन कार्यों को अबतक खानगी ठेकेदार करते आ रहे हैं और देश की बहुत बड़ी धनराशि इनमें खर्च होती है। इस काम को भी यातायात भवन-निर्माण-सहकारी समितियां बनाकर अपने हाथ में ले लें तो यहां भी गिनती के आदमियों के हाथों में धन एकत्र होना रुक जायगा।

कारखानों और मिलों के प्रबन्ध की पद्धति में भी इने-गिने आदमियों के हाथ में सम्पत्ति एकत्र होती रहती है। इस बारे में कम्पनी-सम्बन्धी कानून में काफी संशोधन कर दिया गया है और आशा है, प्रबन्धकों की वर्तमान पद्धति शीघ्र ही समाप्त हो जायगी। इस प्रबन्धक पद्धति —मैनेजिंग एजेन्सी—के स्थान पर हमें तमाम छोटे-बड़े कारखानों में सहकारिता का तत्त्व जारी कर देना चाहिए। इंग्लैंड फ्रांस जर्मनी नार्वे और स्वीडन जैसे पश्चिम के कई देशों में बड़े उद्योग भी इसी सहकारिता की पद्धति से चलाये

जा रहे हैं। भारत में भी हम ऐसा क्यों न करें? बड़े उद्योगों का भी सञ्चालन हम सहकारिता के आधार पर करने लगेंगे तो उससे थोड़े-से पूंजीपतियों के हाथों में सम्पत्ति का केन्द्रीकरण नहीं हो सकेगा। प्रकाशन के उद्योग में भी यदि इस सहकारिता के तत्त्व को युक्त कर दिया जाय तो ग्रन्थ सेवकों और ग्रन्थकारों का शोषण करके प्रकाशक जो अपनी जेबें भर रहे हैं वह बन्द हो जायगा। इस प्रकार उत्पादन में सहकारिता की मदद लेकर हम असमानताओं को काफी कम कर सकते हैं।

परन्तु असमानताएं गांवों और शहरों के बीच भी हैं। प्राप्त आंकड़ों से *ज्ञात होता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति वर्ष आबादी की वृद्धि जहां दो प्रतिशत* है वहां शहरों में वह चार प्रतिशत है। इस प्रकार गांवों की आबादी घटती और शहरों की आबादी बढ़ती जा रही है। इसका कारण ग्रामीण क्षेत्रों में रोजी के साधनों की कमी है। बहुत-से गांवों में जमीन पर मनुष्यों को पूरा काम नहीं मिलता और वहां गृहोद्योग ग्रामोद्योग जैसे रोजी के कोई सहायक साधन नहीं हैं। इस कारण किसानों को और खास तौर पर भूमिहीन मजदूरों को विवश होकर कुछ समय के लिए या हमेशा के लिए शहरों में भग जाना पड़ता है। इन लोगों के शहरों में आ जाने से मकानों की कमी गन्दगी जैसी अनेक समस्याएं शहरों में पैदा होती रहती हैं। फिर इन घर छोड़नेवालों का पारिवारिक जीवन टूट जाता है। गांव में रोजी की कमी तो होती ही है किन्तु शहरों में जीवन की दूसरी भी कुछ सुविधाएं जैसे बिजली पानी शिक्षा डाक्टरी सहायता आदि होती हैं जो गांवों में नहीं होतीं। इसलिए शहरों और गांवों के बीच पड़ी हुई खाई को पाटने के लिए यह जरूरी है कि वहां रोजी के साधन निर्माण करने के अलावा नागरिक जीवन की वे अन्य सुविधाएं भी धीरे धीरे पहुंचाई जायं। आशा है, तीसरी पंचवर्षीय योजना में बिजली तथा शिक्षा और आरोग्य-सम्बन्धी काफी सुविधाएं गांवों में पहुंचाने का प्रबन्ध हो जायगा। शिक्षा-संस्थाएं और अस्पताल आदि सब केवल शहरों में ही इकट्ठे कर दिये जाते हैं। इस कारण बेचारे ग्रामीणों को अपना घर और खेती छोड़-छोड़कर पढ़ने या बीमारों का इलाज करवाने के लिए शहरों में दौड़-दौड़कर आना पड़ता है। यदि ये सुविधाएं गांवों में ही पहुंचा दी जायं तो उनको बड़ी सहूलियत

हो जाय। ऐसा करने से इनके मकान बड़ा सस्ते में बन जायं। यातायात के साधनों का बोझ कम हो जाय और लोगों को अपना घरबार छोड़ छोड़कर इधर-उधर मारा-मारा नहीं फिरना पड़े। तब खेतों कारखानों और दूकानों के कामों में समन्वय होकर गांवों का जीवन सुखी और समृद्ध भी हो सकता है।

सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को मिटाने का काम हाथ में लेते समय सबसे पहले उन लोगों के कामों को हाथ में लेना चाहिए, जिनकी तकलीफें गांवों और शहरों में भी सबसे बड़ी हैं। उदाहरण के लिए संयोजन की हमारी तमाम योजनाओं में बेजमीन मजदूरों और खासतौर पर हरिजनों की तरफ हमें सबसे पहले ध्यान देना चाहिए। जमीन के सुधारों के सम्बन्ध में अनेक राज्यों में अनेक कार्यक्रम चल रहे हैं। इनका मुख्य उद्देश्य यही है कि जमीन की अधिकतम सीमा निश्चित करने के बाद जो जमीन बचे वह बेजमीन मजदूरों में बांट दी जाय। इन बेजमीनों की जरूरतों की हम उपेक्षा नहीं कर सकते जिनकी आबादी ग्रामीण क्षेत्रों में पांचवां हिस्सा है और जिनकी वार्षिक औसत आय केवल एकसौ चार रुपये के करीब है। इसी प्रकार शहरी क्षेत्रों में मेहतरों की हालत बहुत खराब है। जिन औजारों से उन्हें काम लेना पड़ता है वे बहुत गन्दे और मनुष्यों के लायक नहीं हैं। हमारे देश की बहुत कम नगरपालिकाओं का ध्यान इस तरफ गया है। मजदूर बस्तियां भी बहुत गन्दी हैं। उनकी तरफ भी ध्यान देना बड़ा जरूरी है। अतः जबतक बेजमीन मजदूरों मेहतरों और शहरों की मजदूर-बस्तियों की हालत नहीं सुधारी जाती समाजवादी समाज की स्थापना की बातें करना व्यर्थ है।

अन्त में इन सारे विकास-कार्यों के लिए साधन प्राप्त करने का प्रश्न है। भारत जैसे कम विकसित देश में गरीबों पर करों का अधिक बोझ डालना उचित नहीं। पहले ही यहां काफी अधिक कर लगे हुए हैं इसलिए उनकी आय बढ़ाने के साधन निर्माण करने से पहले और अधिक कर नहीं बढ़ाये जा सकते। कम विकसित देशों में विविध उद्योगों के लिए पूंजी भी कम ही होती है। दूसरा उपाय है विदेशों से कर्ज लेना। यदि इस कर्ज के साथ दूसरी कोई राजनैतिक या आर्थिक शर्तें जुड़ी हुई न हों तो कर्ज भी

लिया जा सकता है। परन्तु यह बाहरी मदद भी स्वभावतः मर्यादित ही होगी। अगर उसमें सावधानी से काम नहीं लिया गया तो उससे स्वयं हमारी आज़ादी को खतरा हो सकता है। इसलिए भारत जैसे कम विकसित देश के लिए तो केवल एक चारा रह जाता है। वह यह कि अपने मनुष्य-बल का समुचित उपयोग करे। हमारे देश में बहुत लोग बेकार हैं और उनसे भी अधिक आंशिक बेकारों की संख्या है।

प्रत्येक घर मे कमानेवाला तो एक होता है और न कमानेवाले कई होते हैं। वे देश की सम्पत्ति में कुछ भी वृद्धि नहीं करते। तो मुख्य सवाल यह है कि देश की सम्पत्ति बढ़ाने में इन बेकारों का उपयोग किस प्रकार किया जाय। यह प्रश्न संयोजन और संगठन से सम्बन्ध रखता है। प्रकट है कि यह काम ग्रामीण क्षेत्रों में ग्राम-पंचायतों और सहकारी समितियों को अपने हाथ में ही लेना चाहिए और शहरों में इसे लोकल बोर्डों नगर-पालिकाओं और वार्ड तथा मुहल्ला कमेटियों को करना चाहिए। यह काम सरकारी नौकरों के बल-बूते का नहीं भले ही वे कितने ही कुशल हों। वे लाखों करोड़ों आदमियों को काम में नहीं लगा सकते। वे तो जनता को इन विकास कामों में कुछ योग मात्र दे सकते हैं। लोकतन्त्र में प्रेरक शक्ति तो इन गैर सरकारी संस्थाओं में ही होती है। इसीलिए तो शासन इन लोक-संस्थाओं को अर्थात् पंचायतों सहकारी समितियों और शालाओं को इतना महत्त्व प्रदान कर रहा है और उनके अच्छे संगठन तथा अच्छे संचालन पर ज़ोर दे रहा है। ये संस्थाएं अपने-अपने स्थान के विकास-कामों को नकद, अनाज या श्रम के रूप में मदद भी कर सकती हैं। इसके लिए उन्हें केन्द्र या राज्य की सरकारों का मुंह देखने की ज़रूरत नहीं होगी। वे अपनी ज़रूरतों को देखकर कार्यक्रम खुद बना लेंगी और उन्हें कार्यान्वित भी कर लेंगी। नदी घाटी-योजना रेलें लोहा और इस्पात के कारखाने जैसे बड़े-बड़े और बुनियादी तथा महत्त्व के उद्योग स्वभावतः उनकी शक्ति से बाहर की चीज़ें हैं। इसलिए इन्हें राज्यों और केन्द्र की सरकारें ही कर सकती हैं। गांवों में रहनेवाले साधारण लोगों को तो अपने तत्काल उपयोग की और ज़रूरत की चीज़ों और निकट की छोटी योजनाओं में ही दिलचस्पी होती है और इनमें से बहुत-सी योजनाओं को वे स्वयं हिलमिलकर पूरी भी कर सकते

है। इसके लिए नकद अनाज या परिश्रम के रूप में सहायता की ज़रूरत हो तो स्थानीय लोग इसे स्वयं अधिक आसानी से प्राप्त भी कर सकते हैं।

पिछले वर्षों के अनुभव से हमने देख लिया कि लोकतन्त्र में संयोजन तभी सम्भव और सफल होता है जब आर्थिक और राजनैतिक सत्ता को व्यापक तौर पर बांट दिया जाता है। देश के साढ़े पांच लाख गांवों का संयोजन दिल्ली में या राज्यों की राजधानियों में बैठकर नहीं हो सकता। इसलिए भारत सरकार की यह मुख्य नीति है कि वह इन पंचायतों को काफी अधिकार और सत्ता सौंप दे।

यद्यपि व्यक्तिगत तौर पर हम जो बचत कर सकते हैं अथवा कर्ज़ दे सकते हैं उसकी अपनी कुछ मर्यादाएं होती हैं तथापि नागरिकों द्वारा व्यक्तिगत रूप से और खासकर ग्रामीण क्षेत्रों में काफी बचत हो सकती है और इस बचत को कोष के रूप में एकत्र करके उसका राष्ट्रीय कामों के लिए उपयोग हो सकता है। इस कल्पना पर अभी केवल शहरों में ही मुख्यतया अमल हुआ है। परन्तु इसे अब व्यापक रूप से गांवों में भी फैलाने की ज़रूरत है और पंचायतें सहकारी समितियां तथा शालाएं इसको एकत्र करने में काफी मददगार हो सकती हैं। आज इस बचत से एकत्र होनेवाले कर्ज़ को लौटाने की एक निश्चित अवधि होती है। इस नियम को कुछ ढीला किया जा सकता है। ग्रामीण क्षेत्रों में छोटी-छोटी बचत की रकम राष्ट्रीय कार्यों के निकास वाले व बीमा-पद्धति का भी उपयोग हो सकता है। गांवों के लिए ऐसी योजनाएं अवश्य बनाई जायं। सरकारी और खानगी नौकरियों में काम करनेवालों के लिए छोटी-छोटी अनिवार्य बचत की कोई योजना भी बनाई जा सकती है।

जहांतक सार्वजनिक उद्योगों से सम्बन्ध है उनमें मुनाफा कमाने की काफी गुंजाइश है। उनमें कोई मुनाफा नहीं लिया जाय—न लाभ हो न हानि—यह विचार गलत है। रेलवे, डाकतार, बड़ी-बड़ी योजनाएं, लोहा इस्पात आदि के बड़े-बड़े कारखानों में मुनाफे की काफी गुंजाइश है। इसी प्रकार भीतरी और बाहरी व्यापार में भी लाभ कमाया जा सकता है। इससे संयोजन के लिए धन प्राप्त किया जा सकता है।

इसके अलावा लोग करों की चोरी तो करते ही हैं, परन्तु इसकी ओ

पद्धति में भी दिखाई है। इसलिए वसूली के काम को व्यवस्थित करने की जरूरत है। कर की चोरी और वसूली के कुप्रबन्ध के कारण कितना नुकसान होता है इसका ठीक अनुमान लगाना कठिन है परन्तु वसूली के हमारे तन्त्र में सुधार कर लिया जाय तो काफी लाभ हो सकता है, इसमें कोई संदेह नहीं।

एक बात और है। आर्थिक विकास का प्रश्न आबादी की वृद्धि से बहुत जुड़ा हुआ है। इसलिए आबादी की वृद्धि को नियन्त्रित करना बड़ा जरूरी है। यह या तो लोक-शिक्षण के द्वारा संयम से हो सकता है या शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में परिवार-नियोजन के अन्य आधुनिक उपचारों के द्वारा भी किया जा सकता है। देश में आरोग्य रक्षा और रोगों के उपचार-सम्बन्धी अनेक योजनाएं चल रही हैं। इनकी सहायता से मृत्यु-संख्या तो स्वभावतः प्रतिवर्ष घटेगी ही परन्तु इसके साथ ही जन्म-संख्या भी यदि नहीं घटेगी बल्कि बढ़ती ही जायगी तो हमारी सारी योजनाएं असफल और अधूरी सिद्ध होंगी। इसलिए देश की आबादी को नियन्त्रण में लाने का प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, अपनी अनेक समस्याओं को हम संयोजन के द्वारा हल कर सकते हैं बशर्ते कि खुद संयोजन का हमारा यन्त्र अच्छा और कारगर हो। हमारा शासन-यन्त्र मूलतः लगान वसूल करने शांति तथा व्यवस्था की रक्षा के ख्याल से बनाया गया था। परन्तु स्वतन्त्रता के बाद देश के आर्थिक संयोजन और विकास की बहुत बड़ी जिम्मेदारी उसपर आ गई है। इस काम के लिए वह अपने-आपको तैयार कर रहा है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अभी उसमें बहुत सुधार की जरूरत है। शासन-यंत्र का ईमानदार और कार्यकुशल होना चाहिए, नहीं तो संयोजन सफल कदापि नहीं होगा। संयोजन के यंत्र को सुधारने के लिए कर्मचारियों को प्रशिक्षण की व्यवस्था बड़े पैमाने पर करना आवश्यक है। इसके अलावा हमारी साधारण प्राथमिक माध्यमिक और उच्च शिक्षण की पद्धति में भी बहुत-से सुधार करने होंगे। यदि संयोजन का आधार खेती और भारी उद्योग उसका हार्द है तो हमें खूब समझ लेना चाहिए कि शिक्षा उसकी प्रत्यक्ष आत्मा है।

१

गांधीवादी संयोजन के मूल तत्त्व

महात्मा गांधी ने अपने जीवन का अधिकांश भाग गांवों में राष्ट्रीय जीवन के विविध अंगों के नव-निर्माण के महत्त्वपूर्ण कार्य में बिताया है। ग्रामीण जीवन को मजबूत और स्थायी आधार पर खड़ा करने के हेतु वे सेवाग्राम चले गये। वहां वह दस वर्ष रहे और वहां बैठे गोपालन, ग्रामोद्योग, बुनियादी शिक्षा, आरोग्य, सफाई और अन्त्यजों के जीवन-सुधार जैसे ग्रामीण जीवन के हर पहलू पर ध्यान दिया। मुझे कुछ ऐसा लग रहा है कि सामुदायिक विकास का एक देशव्यापी और महान कार्य तो हमने हाथ में ले लिया है, परन्तु इसमें हम राष्ट्रपिता के अनुभवों और सलाह से लाभ उठाने का यत्न नहीं कर रहे हैं। इसमें हम विदेशी विशेषज्ञों की बातों को अत्यधिक महत्त्व प्रदान कर रहे हैं। यह ठीक नहीं है। संभव है, उन्होंने अपने अपने देशों में अवश्य ही बहुत काम किया होगा परन्तु भारतीय संस्कृति परम्परा और परिस्थितियों का उन्हें स्वभावतः इतना ज्ञान नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए गांधीजी सदा कहा करते थे कि हमारे सारे आर्थिक संयोजन का आधार गांव हों। उनकी यह निश्चित राय थी कि संयोजन ऊपर से नीचे नहीं नीचे से ऊपर की तरफ होना चाहिए। इतने वर्षों के अनुभव के बाद अब हम यह अनुभव करने लगे हैं कि गांधीजी की बात ही सही थी। जबतक पंचायतों, सहकारी समितियों और शालाओं को हम अपने सामुदायिक विकास की योजनाओं के बुनियादी आधार नहीं बनायेंगे हमें कोई ठोस सफलता नहीं मिल सकेगी। यदि हम गांधीजी की सलाह को शुरू से ही मान लेते तो हमारा बहुत-सा समय शक्ति और साधनों की बचत हो जाती जिसका उपयोग अन्यत्र अधिक अच्छी तरह कर सकते।

फिर खेती के सुधार के प्रश्न को लीजिये। गांधीजी कुएं, तालाब नाला और झरनों के पानी को रोकना आदि सिंचाई की छोटी-छोटी योजनाओं पर हमेशा बड़ा जोर दिया करते थे। इन छोटी-छोटी योजनाओं पर ध्यान देने के बजाय हम बड़ी-बड़ी बहुउद्देशीय योजनाओं के चक्कर में पड़ गये जिनमें सैकड़ों-करोड़ रुपये हमने लगा दिये। हमारा मतलब यह नहीं कि वे

बड़ी योजनाएं बेकार हैं। राष्ट्र के विकास में उनका स्थान भी अवश्य है। परन्तु ये छोटी योजना कम खर्चीली हैं। इनका निर्माण और मरम्मत भी जल्दी हो सकती है और फायदा भी ये तुरन्त देने लग जाती हैं। बड़ी बड़ी बांधी योजनाओं पर हमने सैकड़ों-करोड़ खर्च कर दिये किन्तु उनसे हम केवल पैंसठ-सत्तर लाख एकड़ की सिंचाई कर सकेंगे। इसके विपरीत पहली पंचवर्षीय योजना में हमने छोटी योजनाओं पर केवल सौ करोड़ रुपये खर्च किये परन्तु उनकी मदद से हमें एक करोड़ एकड़ की सिंचाई का लाभ मिल गया। इससे स्पष्ट है कि भारत जैसे गरीब देश को बहुत खर्चीली योजनाएं नहीं पुसा सकतीं। एक दिन महाभारत पढ़ते-पढ़ते नारद और युधिष्ठिर का संवाद देखकर मुझे आश्चर्य मिश्रित आनन्द हुआ। नारद युधिष्ठिर की राजसभा में पहुंचे तब उन्होंने युधिष्ठिर से कितने ही प्रश्न पूछे। राज्य की खेती के बारे में उन्होंने पूछा

युधिष्ठिर, तुम्हारे राज्य में खेती केवल वर्षा पर तो अवलम्बित नहीं है न ?

"हर गांव का अपना तालाब है न ?

"और उनकी मरम्मत भी हर वर्ष होती रहती है न ?

इन तीन प्रश्नों में भारत की खेती-सम्बन्धी बुनियादी नीति आ गई। आर्थिक प्रश्नों के बारे में हमारे पूर्वज कितने व्यावहारिक थे इससे यह स्पष्ट है। अत अपने संयोजन में हमें अपने पूर्वजों के अनुभव से पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहिए।

इसके अलावा पूरी और आंशिक बेकारी के प्रश्न की तरफ भी हम पूरा ध्यान नहीं दे पाये हैं। यदि देश की सम्पत्ति बढ़ती है, परन्तु उसके साथ ही-साथ लोगों की खरीदने की शक्ति नहीं बढ़ती है तो इस बढ़ी हुई सम्पत्ति से समाज में आर्थिक और सामाजिक न्याय नहीं बढ़ेगा। हमने अनुमान लगाया था कि दूसरी पंचवर्षीय योजना में खेती को छोड़कर अस्सी लाख अधिक आदमियों को रोजी मिल जायगी परन्तु बाद में जब फिर हिसाब लगाया गया तो यह आंकड़ा पैंसठ लाख तक आ गया और वस्तुस्थिति तो इतनी आशा भी नहीं दिखाती। अबतक जो आंकड़े प्राप्त हुए हैं, उनके अनुसार दूसरी योजना के विविध कामों में केवल पच्चीस लाख अधिक

आदमियों को काम मिल सका है। इस गति से तो जाहिर है कि दूसरी योजना के अन्त तक यथोचित अनुमान के अनुसार भी हम लोगों को रोजी नहीं दे पायेंगे। हमें भूलें नहीं कि देश में केवल मजदूर वर्ग में प्रतिवर्ष पन्द्रह लाख नये लोग बढ़ जाते हैं। इन तथ्यों से हम इसी नतीजे पर पहुंचते हैं कि यदि देश से बेकारी को मिटाना है तो हमें ऐसी गृहोद्योगों और ग्रामोद्योगों की योजनाएं ही बनानी होंगी जिनमें अधिक-से-अधिक मजदूरों को काम दिया जा सके। यह सच है कि हमारे विकास-खण्डों में ऐसी छोटी योजनाएं शुरू की जा रही हैं, परन्तु हमारी गति बहुत धीमी है। इस गति से काम नहीं चल सकेगा।

४

भूमि-सम्बन्धी नीति

पहली और दूसरी पंचवर्षीय योजनाओं में जो भूमि-सम्बन्धी नीति बनाई गई है, उसके आधार दो विचार हैं—(१) खेती में अधिक उत्पादन और (२) आर्थिक तथा सामाजिक न्याय। योजना-आयोग की यह *निश्चित राय है कि भूमि-सम्बन्धी सुधारों के अमल में जितनी देरी* होगी उसका असर खेती के उत्पादन पर विपरीत पड़ेगा। भूमि-सम्बन्धी सुधारों का कार्यक्रम इस प्रकार बनाया गया है कि खेती पर काम करनेवालों को अपने काम में अधिक प्रेम और उत्साह हो। राज्य और किसान के बीच यदि कोई मध्यजन होता है तो जमीन की उपज बढ़ने में बाधा होती है। इसीलिए योजना-आयोग की यह राय है कि जो जमीन को जोते वही उसका मालिक भी हो। मध्यजनों को हटा देने से किसान को उसका अपना हक का स्थान मिल जाता है और उसे जमीन की पैदावार बढ़ाने में उत्साह होता है।

आर्थिक और सामाजिक न्याय की दृष्टि से भी जमीन के स्वामित्व के बारे में समाज में जो असमानताएं हैं उनको हटाना जरूरी है। इसीलिए योजना-आयोग चाहता है कि एक आदमी के पास कितनी जमीन हो इसकी अधिकतम सीमा निश्चित कर दी जाय। दूसरी पंचवर्षीय योजना में यह स्वीकार भी कर लिया गया है, परन्तु दूसरी योजना में इसके कुछ अपवाद

भी रख दिये गए हैं। उसमें मूल उद्देश्य यही है कि उपज घटे नहीं। उदाहरणार्थ चाय कॉफ़ी और रबर के बागान फल-बाग पशु-संवर्धन के प्रयोग में लगे हुए खेत दुग्धालय अन्न के क्षेत्र चीनी की मिलों के द्वारा की जानेवाली गन्ने की खेतीवाले क्षेत्र और व्यवस्थित रूप से जहां खेती होती है ऐसे बड़े-बड़े खेत जिनपर बहुत लागत लगाई गई है और बड़ी-बड़ी इमारतें खड़ी कर ली गई हैं। इन सबको अधिकतम सीमावाले निर्बन्ध से मुक्त कर दिया गया है। मुख्य कल्पना यह है कि गांवों में जमीन के स्वामित्व सम्बन्धी असमानताएं उत्तरोत्तर कम होती जायें परन्तु खेती का उत्पादन किसी प्रकार कम न होने दिया जाय। जब आदमी के पास अधिक जमीन होती है तो वह उससे पूरी उपज नहीं ले सकता। इसलिए उसे कोई अधिकार नहीं कि वह अधिक जमीन अपने पास रखे इसलिए राज्य का कर्तव्य है कि वह ऐसे लोगों के पास से फ़ालतू जमीन लेकर उन लोगों को दे दे जो उसपर मेहनत करके उससे पूरी उपज ले सकते हैं। परन्तु जिन बड़े खेतों में खेती अच्छी तरह हो रही है, पूरी बल्कि साधारण से अधिक उपज ली जा रही है और जिनपर बहुत लागत लगी हुई है, उन्हें न छेड़ा जाय।

यह ख्याल भी गलत है कि योजना-आयोग ग्रामीणों की आय की सीमाएं बांध देना चाहता है। जमीन की अधिकतम सीमा बांधने का अर्थ यह हरगिज नहीं कि अमुक सीमा से अधिक कोई कमाई न करे। इसके विपरीत आयोग तो चाहता है कि जमीनों का एक बार फिर बंटवारा हो जाने के बाद प्रत्येक किसान अपनी फ़ी एकड़ उपज बढ़ाने की पूरी कोशिश करे। इसके अलावा योजना में यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि सरकार देहात में छोटे-छोटे कारखानों ग्रामोद्योगों तथा गृहोद्योगों का एक जाल बिछा देना चाहती है। इन उद्योगों की सहायता से तरह-तरह के काम करके ग्रामीण अपनी आय को बढ़ा सकेंगे।

फिर इसी प्रकार शहरों में भी जमीन और जायदाद के ऊपर उच्चतम सीमाएं लगाई जा सकती हैं। समाजवादी समाज बनाने की क्रिया राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में काम करेगी। धनवानों पर कर, मृत्यु-कर, सम्पत्ति-कर, व्यय-कर और इनाम भेंट (गिफ्ट) जैसे विविध कर तथा

कर ऊंची आय और सम्पत्तिवालों की आय को कम करने के कदम पूरे कर दिये हैं। कम्पनियों के कानून में कई संशोधन करके प्रबन्ध-एजन्सी (मैनेजिंग एजन्सी) को समाप्त कर दिया गया है। परन्तु फिर भी अभी अनेक प्रकार की विषमताएं रह गई हैं। इन सबको और शहरों तथा गांवों के बीच की विषमताओं को भी दूर करने के लिए अभी और कई कदम उठाने होंगे। उदाहरणार्थ शहरों और खासकर बढ़ते हुए शहरों के पास जो जमीनें हैं, उनपर कोई सीमा लगानी होगी।

योजना-आयोग की राय है कि भारत को अन्त में सहकारी खेती पर ही आना होगा। जो खेत छोटे-छोटे हैं और जिनकी खेती महंगी पड़ती है उनकी समस्या बड़ी पुरानी है। अब एक बार किसान अपनी-अपनी जमीन के मालिक हुए कि फिर इन जमीनों की तुरन्त चकबन्दी कर देनी होगी। फिर इनमें खेती का हर काम मिल-जुलकर सहकारी पद्धति से होगा। इसका अर्थ जोतना, बिजाई, कटाई और उपज की बिक्री सब सहकारी पद्धति से हो। इस सहकारिता में से सामुदायिक सहकारी खेती का विकास होगा जिसमें किसान अपने-अपने खेत मिला करके मिलकर खेती करेंगे परन्तु फिर भी वे अपनी जमीनों के मालिक बने रहेंगे और उन्हें अपनी जमीन के आकार के अनुपात में लाभ भी मिलता रहेगा। इसके अलावा जमीन पर जो कुछ काम करें, उन्हें घण्टों के हिसाब से पारिश्रमिक अलग मिलेगा। इस प्रकार की सामुदायिक सहकारी खेती के लिए ग्रामदानी गांव सबसे अधिक अच्छे प्रयोग-क्षेत्र होंगे क्योंकि वहां लोग अपनी इच्छा से ही जमीनों के स्वामित्व का विसर्जन करके सारी जमीन गांव को दे देते हैं। यह प्रयोग उन जमीनों पर भी किया जा सकता है, जो अभी-अभी आबाद हुई हैं। वहां खेती के नये प्रयोगों के लिए सरकारी मदद भी मिल सकती है। आज जो किसान छोटे-छोटे खेतों पर अच्छी कमाई नहीं कर सकते उन्हें इस प्रकार अपने खेत मिला देने पर, वहां मिलकर खेती करने से काफी लाभ हो सकेगा।

उद्योग के क्षेत्र में भी खास तौर पर छोटे-छोटे ग्रामोद्योगों और गृहोद्योगों में इसी प्रकार सहकारिता के सिद्धान्त पर काम करना आवश्यक होगा और बड़े उद्योगों में भी अगर इसी सिद्धान्त से काम किया गया तो

हानि थोड़े ही होगी। जब मजदूर स्वयं उत्पादन के साधनों के मालिक बन जायेंगे तब मालिकों और मजदूरों के बीच के संघर्ष बहुत बड़ी हद तक मिट जायेंगे। इस प्रकार जब हम खेती उद्योग व्यापार और व्यवसाय हर क्षेत्र में सहकारिता की स्थापना कर सकेंगे तब सामुदायिक सहकारी समाजवादी स्वरूप की राज्य-व्यवस्था करने में अधिक कठिनाई नहीं होगी।

५

सहकारी खेती का अर्थशास्त्र

सहकारी खेती के बारे में अखबारों में तथा जनता में बड़ी चर्चाएं चल रही हैं। इसलिए इस प्रश्न पर तटस्थतापूर्वक और शास्त्रीय दृष्टि से विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

सहकारिता की कल्पना तो अब नई नहीं है। पहली पंचवर्षीय योजना में सहकारी समितियों के निर्माण के बारे में किसानों के लिए कई सूचनाएं दी गई हैं जिससे उन्हें इनके बनाने में सहायता हो। राज्य-सरकारों से कहा गया था कि वे सहकारी खेती के प्रचार का एक विशाल कार्यक्रम बना लें परन्तु हुआ है कि इस दिशा में कुछ भी नहीं हो सका। दूसरी पंचवर्षीय योजना में भी कहा गया है कि इस विषय में सब सहमत हैं कि सहकारी खेती का विकास जितनी तेजी से किया जा सके करने की जरूरत है। इस अवधि में मुख्यतः कुछ ऐसे जरूरी और ठोस कदम उठा लिये जाने चाहिए जो अगले आठ-दस वर्षों में सारे देश के काफी भाग में सहकारी खेती शुरू कर देने के लिए बुनियादी काम करते। प्रत्येक राज्य की सरकार से सलाह करके उसके लिए सहकारी खेती के लक्ष्य निश्चित कर दिये जाने चाहिए थे परन्तु किसी कारण राज्य सरकारें इस दिशा में आगे नहीं बढ़ सकीं। इसका एक कारण यह है कि सामुदायिक खेती के बारे में अभी लोगों के दिमाग में अनेक-प्रकार की शंकाएं भरी हुई हैं।

इन शंकाओं का कारण यही है कि सहकारी खेती की सही-सही कल्पना ही लोगों को नहीं दी गई है। मोटे तौर पर सहकारी खेती तीन प्रकार की होती है। पहले प्रकार की वह जिसमें सब मिलकर खेती करते हैं। जमीन पर व्यक्तियों का स्वामित्व कायम रहता है, परन्तु खेती की सुविधा के

लिए सारी जमीनें मिला दी जाती हैं। सब मिलकर खेती करते हैं प
उपज का बंटवारा करते समय जमीन के मालिकों का ख्याल रखा जा
है। इस प्रकार की सहकारिता में यदि कोई चाहें तो अपनी जमीन को से
समिति से अलग भी हो सकते हैं परन्तु इसकी कुछ शर्तें होती हैं उ
अनुसार।

दूसरा प्रकार यह है कि सब किसान केवल अपनी जमीनें ही नहीं बलि
सारे साधन भी एकत्र कर लेते हैं। जहांतक उपज के बंटवारे का प्रश्न
जमीनों का वास्तवी स्वामित्व समाप्त हो जाता है। जो जितना काम कर
है, उस हिसाब से उसे उपज का हिस्सा मिल जाता है। ध्यान रहे,
सामिवत रूस की और दूसरे साम्यवादी देशों की सामुदायिक खेती से भि
है, क्योंकि यहां सहकारी खेती में शामिल होना या न होना किसीकी इच्
पर छोड़ा गया है। यह अनिवार्य नहीं है और इस खेती का संचालन
लोकतन्त्र के सिद्धान्तों पर सदस्यों की इच्छा और सहमति से नहीं होता

तीसरा प्रकार यह है जिसमें खेतों को मिलाकर एकत्र नहीं कि
जाता। केवल खेती-सम्बन्धी सब काम उदाहरणार्थ सिंचाई, कटाई, ना
निकालना खाद का प्रबन्ध करना अच्छा बीज वगैरह किसान हिल मिल
कर सहयोग से करते हैं। इसके लिए वे सहकारी सेवा-समितियां बना ले
हैं और उनके द्वारा सब काम होता है। जर्मनी के सहकारिता विशेषज्ञ
डॉ॰ ऑटो शिलर ने इसे सहकारी आधार पर व्यक्तिगत खेती कहा है।

इस प्रकार भारत में सहकारिता के प्रयोग के लिए बहुत क्षेत्र है। जहां
जैसी अनुकूलता हो उसके अनुसार अलग-अलग क्षेत्रों में सहकारिता के
अलग-अलग प्रकारों का प्रयोग बिल्कुल स्वेच्छापूर्वक किया जा सकता है।
दूसरी पंचवर्षीय योजना में यह बात बिल्कुल स्पष्ट कर दी गई है कि
इसमें किसी प्रकार की सख्ती न हो। प्रत्येक प्रयोग पूर्णतः स्वेच्छा से हो।
सहकारिता के कुछ खास नमूने निश्चित कर दिये जायं और जहां जो नमूना
उपयुक्त समझा जाय उसका प्रयोग वहांपर हो तो बहुत अच्छा परिणाम
आ सकता है। उदाहरणार्थ सारा क्षेत्र सारे कामों के लिए या कुछ खास
कामों के लिए एक इकाई मान लिया जाय। कुछ परिवार अपनी-अपनी एक

छोटी 'उप इकाई' उसीके अन्दर बना सकते हैं अथवा सब अपनी-अपनी जमीनें अलग-अलग रक्खें। केवल खेती की खास-खास क्रियाओं में सहकारिता से काम लें। दूसरी योजना में लिखा है— 'हर जगह की परिस्थिति अलग-अलग होती है। इसलिए खेती तथा अन्य कामों में सहकारिता शुरू करने के लिए काफी अनुभव की जरूरत होगी और सारे कामों में श्रद्धा पूर्वक शुरू से आखीर तक प्रयोग की वृत्ति से काम करना होता है। लगातार हम अध्ययन करते रहें अच्छे-से-अच्छे तरीके ढूंढने का यत्न करें और अपने अनुभव दूसरों के सामने रखते जायं। इससे किसान एक-दूसरे के अनुभव से लाभ उठाकर अपनी विशेष परिस्थिति के अनुसार रास्ता ढूंढ लेंगे।

स्वयं प्रधान मन्त्री ने अपने एक भाषण में बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि सहकारी खेती का अर्थ सामुदायिक खेती कोई न समझे। सरकार किसानों पर किसी प्रकार भी सहकारी सम्मिलित खेती जबरदस्ती लादना नहीं चाहती। वह चाहती है कि सबसे पहले सारे देश में सहकारी सेवा-समितियों (सर्विस कोआँपरेटिव) का जाल फैल जाय। ये समितियां खेती में किसानों के लिए कितनी लाभदायक होती हैं यह बताने की जरूरत नहीं होनी चाहिए। जहां-जहां भी सेवा-समितियों के अनुभव से प्रभावित होकर किसान सहकारी सम्मिलित (ज्वॉइण्ट कोआँपरेटिव) खेती करने की इच्छा प्रकट करें, वहां उन्हें इसकी सुविधा कर दी जाय। हां किसानों को यह बता दिया जाय कि ऐसे सम्मिलित खेत बहुत बड़े न हों। रूस के सहकारी खेत तो दस बीस तीस बल्कि चौबीस हजार एकड़ तक के होते हैं। हमारे देश में तो पच्चीस पचास अथवा सौ किसान-परिवार अपने खेत मिला दें और एक सम्मिलित परिवार की तरह खेती कर लें तो काफी होगा। मुद्दे की बात यह है कि सहकारी किसान-परिवारों में जितनी निकटता और प्रेम होगा सहकारी खेती उतनी ही अधिक सफल होगी। जाहिर है कि ऐसी खेती ग्रामदानी गांवों में अधिक सफल होगी क्योंकि वहां किसानों के दिल पहले ही इतने तैयार हो गए हैं कि उन्होंने अपना स्वामित्व-विसर्जन करके जमीनें ग्राम-समाज को सौंप दी हैं। इसी

प्रकार मई मावारी की जमीनों पर भी यह खेती अधिक अच्छी और सफल हो सकेगी।

पाठकों को यह जानकर खुशी होगी कि स्वयं गांधीजी इस प्रकार की सहकारी खेती को पसन्द करते थे। सन् १९४२ के १५ फरवरी के 'हरिजन' में उन्होंने लिखा था "मेरा पक्का विश्वास है कि जबतक हम सहकारी खेती की पद्धति को नहीं अपनायेंगे तबतक हमें खेती का पूरा-पूरा लाभ नहीं मिलेगा। बात बिल्कुल साफ है। सौ परिवार मिलकर किसी जमीन पर खेती करें और उत्पादन को आपस में बांट लें तो निश्चय ही वे अधिक फायदे में रहेंगे बजाय इसके कि उस जमीन को छोटे-बड़े सौ टुकड़ों में बांट लें। सहकारी खेती का अर्थ है जमीन पूंजी साधन पशु, बीज आदि सभी चीजों पर सबका सम्मिलित स्वामित्व हो और खेती में सब मिलकर काम करें। यदि इस प्रकार खेती की जाय तो किसानों की सारी दरिद्रता और आलस्य भाग जायगा। परन्तु यह तभी हो सकेगा जहां किसान आपस में मिल-जुलकर एक परिवार की भांति रहेंगे। पाठकों को यह भी जान लेना चाहिए कि गांधीजी मानते थे कि केवल सहकारी सेवा समितियों से काम नहीं चलेगा सहकारिता पूरी और हर बात में हो।

फिर सहकारी खेती का अर्थ यह नहीं कि वह यान्त्रिक खेती ही हो। यह ख्याल गलत है कि बड़े-बड़े खेतों में उपज का मान अवश्य ही अधिक होता है। यदि बराबर मेहनत हो तो छोटे खेतों से भी काफी उपज ली जा सकती है। उपज के आंकड़ों से तो यह सिद्ध होता है कि बड़े खेतों की अपेक्षा छोटे खेतों की उपज का मान ही ऊंचा होता है। उदाहरण के लिए अमरीका और आस्ट्रेलिया के बड़े-बड़े विशाल खेतों की अपेक्षा जापान की प्रति एकड़ उपज दूनी और डेनमार्क तथा स्विट्जरलैंड के छोटे खेतों की चौगुनी है। हां यह खेती पर फी एकड़ के बजाय फी आदमी उपज का मान अवश्य अधिक होता है। भारत में जो खेती की तरक्की चाहते हैं उन्हें यह बात याद रखनी चाहिए।

भारत में सहकारी खेती को सफल बनाने के लिए प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं का होना बहुत जरूरी है जो इसके तत्व को अच्छी तरह समझे-बूझे हों और सेवा तथा त्याग की भावना से किसानों में काम करने को तैयार हों। सह-

उसके प्रशिक्षण की व्यवस्था करना बहुत जरूरी है क्योंकि यदि ऐसे आदमी नहीं मिले तो सहकारिता के सिद्धान्तों के शोषण का एक नया कारण बन जाने का भय रहेगा। अतः एक निश्चित कार्यक्रम बना लिया जाय और उसके अनुसार काम शुरू कर दिया जाय। सहकारी सेवा-समितियों के प्रयोग की सफलता सम्मिलित सहकारी खेती के प्रयोग के लिए जमीन तैयार कर देगी। यह एकदम ऐच्छिक हो। उसमें किसी प्रकार का दबाव न हो। भारतीय किसान बहुत समझदार और व्यावहारिक है। यदि उसे सम्मिलित खेती की प्रक्रियाएं और लाभ अच्छी तरह समझा दिये जायंगे तो वह स्वयं ही उसे उत्साहपूर्वक स्वीकार कर लेगा।

: ६ :

भारत में कृषि का संयोजन

दूसरी पंचवर्षीय योजना के प्रथम के प्रारम्भ से ही खेती के संयोजन का महत्व बहुत बढ़ गया है, परन्तु दुःख की बात है कि पिछले कुछ वर्षों में संयोजन के इस महत्वपूर्ण अंग की तरफ समुचित ध्यान नहीं दे पाये। इसका एक कारण शायद यह रहा कि इन पिछले वर्षों में सौभाग्य से वर्षा अच्छी रही। उससे कुछ निश्चिन्तता की भावना पैदा हो गई, परन्तु अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि केवल अन्न-स्वावलम्बन की दृष्टि से ही खेती की उपज बढ़ाना जरूरी नहीं है, बल्कि दूसरे देशों से हमें जो अन्य सामग्री मंगानी पड़ती है, उसके लिए भी विदेशी मुद्रा कमाने के लिए भी बहुत जरूरी है। इसके अलावा राष्ट्रीय संयोजन के लिए आवश्यक साधनों का ६ प्रतिशत हमें खेती की उपज बढ़ाकर ही प्राप्त करना होगा। अगर हम यह नहीं बढ़ायेंगे तो योजना की भीतरी जरूरतों के लिए हमें साधन ही नहीं मिलेंगे। इसलिए संयोजन की नींव को मजबूत करने के लिए हमें इस समस्या पर लम्बी दृष्टि से विचार करना होगा और आनेवाले कई वर्षों तक डटकर लगातार काम करना होगा। यदि हमने ऐसा किया तो मुझे विश्वास है हम अपनी खेती की उपज अवश्य ही काफ़ी बढ़ा सकेंगे। इसमें शंका या निराशा के लिए कोई कारण नहीं है।

हमारे लिए सबसे पहली विचारणीय बात यह है कि भारत के किसान

को अधिक उपज करने के लिए कैसे उत्साह दिलाया जाय। मेरा ख्याल है कि बोनी के छः महीने पहले उसे यह आश्वासन मिल जाना चाहिए कि उसे उसके माल की कम-से-कम इतनी कीमत तो अवश्य मिलेगी। मैं तो समझता हूं कि इस प्रकार न्यूनतम भाव दो-तीन वर्षों के लिए भी निश्चित कर दिये जा सकें तो कोई हानि नहीं होगी। इससे वह अपने अगले भाव-व्यय का हिसाब ठीक बैठा सकेगा परन्तु ये न्यूनतम भाव उचित हों—उत्पादक और उपभोक्ताओं दोनों के लिए। इसी प्रकार ये शहरी क्षेत्र के उपभोक्ताओं और ग्रामीण क्षेत्र के उपभोक्ताओं दोनों को पुसाने भी चाहिए। उत्पादक को जो लागत-खर्च और परिश्रम लगता है, उसको ध्यान में रख कर उसे भी बराबर मुआवजा मिल जाना चाहिए। कपास और गन्ने के भाव निश्चित करने का परिणाम बहुत अच्छा हुआ है। इसी प्रकार यदि हम अनाजों का भाव भी निश्चित कर दें तो भारत के किसानों पर अच्छा असर पड़ेगा और वे हमारे राष्ट्रीय संयोजन में अच्छा योग दे सकेंगे।

छोटे किसानों की जरूरतों को भी हमें भुलाना नहीं होगा। किसानों में इन्हीं की संख्या अधिक है। ध्यान देने की बात है कि कर्ज तकावी खाद बीज वगैरा-सम्बन्धी जितनी भी सहूलियतें सरकार से दी जाती हैं वे इस वर्ग तक या तो पहुंचती ही नहीं या पहुंचती हैं तो बहुत कम और वे भी समय पर नहीं। ये सहायताएं देने के सम्बन्ध में हमने जो नियम बनाये हैं, उनका आधार जायदाद है। इस कारण वे इनके विरुद्ध पड़ते हैं। केवल मालदार किसान ही इनसे लाभ उठा सकते हैं और छोटे किसान सहूलियत न मिलने के कारण अपना उत्पादन नहीं बढ़ा पाते। इस दोष को जल्दी-से-जल्दी दूर किया जाना चाहिए।

फिर हमको खेती-सम्बन्धी ऐसी योजनाओं की तरफ अधिक ध्यान देना चाहिए, जिनमें बहुत अधिक सरकारी कार्यवाही की झंझट न हो। उदाहरण के लिए हर गांव से कहा जाय कि वह अपने यहां पंचायत और सहकारी समिति की भी स्थापना कर ले और सिंचाई की छोटी-छोटी योजनाएं, खाद बीजों के खेत और अपने लिए सुधरे हुए औजार बनाने का काम इन्हीं के द्वारा से करायें। तालाबों में यदि मिट्टी भर गई है, तो उसे निकालने और पुराने कूओं की मरम्मत का काम तुरन्त हाथ में ले लिया जाना

चाहिए। जो राज्य-सरकारें अपने यहां इन कामों को अपने हाथ में लेंगी उनकी सहायता भारत-सरकार और योजना-आयोग अवश्य करेगा। जहां तक खादों का सम्बन्ध है रासायनिक खादों का भी अपना महत्व अवश्य है। इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता परन्तु अब इस बात को सभी स्वीकार करने लग गये हैं कि अच्छे गुणोंवाली फसल यदि लेनी है तो रासायनिक खाद को गोबर-मूत्र और मैले के खाद तथा हरी खाद के साथ मिलाकर काम में लेना चाहिए। रासायनिक खाद बनावटी अन्न और सादा खाद स्वाभाविक अन्न के समान है। बनावटी अन्न निश्चय ही महंगा होता है यद्यपि वह प्रारम्भ में अधिक लाभदायक मालूम होता है। परन्तु हमें अधिक ध्यान तो मुख्यतया सादे खाद के ऊपर ही देना चाहिए। प्रत्येक गांव बल्कि प्रत्येक किसान अपने लिए सादी खाद तैयार कर लिया करे। योजना-आयोग ने इस बारे में एक योजना बनाई है, जो तमाम राज्य सरकारों के पास भेज दी गई है। फिर बहुत अधिक खर्चीले और कीमती ट्रैक्टर बाहर से मंगाने के बजाय हमें अपने देशी औजारों से ही काम लेने की कोशिश करनी चाहिए। जहां आवश्यक हो उनमें सुधार अवश्य कर लिया जाय। नई जमीनें तोड़ने के लिए ट्रैक्टरों का उपयोग किया जा सकता है परन्तु साधारण खेती के लिए हमारे इंजीनियरों और इंजीनियरिंग कालेजों को सुधरे हुए अच्छे औजार तैयार करने चाहिए। इससे उनमें स्वावलम्बन की और आत्मविश्वास की भावना जागेगी। बीज खाद और औजार हर बात के लिए किसानों को सरकार का मुंह नहीं ताकना पड़ना चाहिए। इस प्रकार हम उत्पादन नहीं बढ़ा सकते।

खेती के उत्पादन के साथ-साथ अनाजों के वितरण के काम को भी हमें अधिक व्यवस्थित बनाना होगा। अनाज के थोक व्यापार को अगर सरकार अपने हाथ में ले लेती है तो इससे अनाज की कीमतों में स्थिरता लाने में काफी मदद मिल सकती है। समाजवादी समाज-व्यवस्था में इस प्रकार के महत्वपूर्ण कामों पर शासन का नियन्त्रण है भी जरूरी। इसमें एक बात का ध्यान रहे। अनाज के नियन्त्रण को लेकर कहीं एक नया और लम्बा-चौड़ा नौकर वर्ग निर्माण न हो जाय। उत्पादन विक्रय और वितरण का यह सारा प्रबन्ध सहकारी समितियां संभाल लें। आज

जो काम आजकल व्यापारी कर रहे हैं, इसे सहकारी समितियां करने लग जायंगी अर्थात् समाज के थोक व्यापारियों का स्थान सहकारी समितियां ले लेंगी। हम आशा करें कि योजना-आयोग और कृषि तथा खाद्य मन्त्रालय इस सम्बन्ध में व्यवस्थित और पूरी योजनाएं बनाकर उन्हें कार्यान्वित करने में लग जायंगे।

सबसे अधिक महत्त्व का काम तो है हमारे वर्तमान शासन-यन्त्र को अपनी जरूरतों के लायक बना देना। राज्यों के खेती-सिंचाई और राजस्व विभागों में अधिक समन्वय और सहयोग होना चाहिए। एक ही काम की जिम्मेदारी अनेक आदमियों पर डालने से नुकसान होता है। होना यह चाहिए कि प्रत्येक आदमी के पास निश्चित काम हो और उसे वह काम अपनी शक्तिभर अच्छी तरह से करने का अवसर दिया जाना चाहिए। कर्मचारियों और अधिकारियों का काम बार-बार बदलने से कोई काम ठीक से नहीं हो पाता। इसका असर हमारी योजनाओं पर बुरा पड़ता है।

अन्तिम बात हमारी शिक्षा-योजनाओं में विकास और खास तौर पर खेती के साथ सुसंगतता लाने की बहुत जरूरत है। वर्तमान कृषि विद्यालय अपने क्षेत्रों में विद्यार्थियों को कुछ व्यावहारिक शिक्षण अवश्य देते हैं परन्तु उन्हें उपाधि देने से पहले गांवों में भेजकर वहां कम-से-कम छः महीने उनसे खेती का प्रत्यक्ष काम लिया जाना चाहिए। इस अवधि में खेती के सुधार-सम्बन्धी किसी खास योजना को सफल बनाने का काम वे करें। इसी प्रकार मेडीकल कालिजों और इंजीनियरिंग कालेजों में पढ़नेवाले विद्यार्थियों को भी गांवों में भेजकर उनसे विकास-सम्बन्धी किसी खास योजना को सफल करने में एक निश्चित अवधि के लिए मदद ली जाय। तब उन्हें विश्वविद्यालयों की उपाधियां दी जायं। इस पद्धति से विकास-विभाग और शिक्षा-विभाग दोनों को लाभ होगा तथा योजनाओं का अमल भी अच्छा होगा।

७

तीसरी योजना की पूर्ति

तीसरी योजना का रूप तैयार किया जा चुका है। शासन और देश के

लिए यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतः तमाम राजनैतिक दलों को अपने भेद-भाव भुलाकर निर्माण के इस महान अभियान में लग जाना चाहिए। इसमें सबसे बड़ा सवाल है साधनों का। वे कहां से आयें? हमें इस प्रश्न पर कुछ विस्तार से विचार करना होगा।

१ सबसे पहले तो शासकीय करों की वसूली करनेवाले यन्त्र को हमें पूरी तरह कार्यकुशल बनाना होगा। करों की जांच करने के लिए जो आयोग नियुक्त किया गया था उसकी राय है कि करों की चोरी बहुत होती है। लोगों ने जो प्रारम्भ में बताई और जो जांच के बाद पाई गई उसमें छः गुना फर्क था। इस हिसाब से उन्होंने अनुमान लगाया कि शासन को प्रति वर्ष दो सौ से लेकर तीनसौ करोड़ रुपये का घाटा केवल करों की चोरी के कारण होता है। हम मान लें कि शायद यह अनुमान एकदम सही न हो परन्तु आधा मानव तो भी यह बहुत बड़ी रकम हो जाती है। इसलिए इस विभाग को प्रबल ही करने की जरूरत है।

२ फिर छोटी बचत की रकमें एकत्र करनेवाले खास तौर पर ग्रामीण क्षेत्रों में काम करनेवाले संगठन को भी सुधारने की बड़ी जरूरत है, यों तो शहरों में काम करनेवाले संगठन में भी सुधार की काफी गुंजाइश है। उदाहरणार्थ अहमदाबाद के व्यापारी महाविद्यालय के विद्यार्थियों ने शहर में एक सर्वेक्षण किया था। उसमें पाया गया कि दो सौ मजदूरों में से अठहत्तर को सरकार की इस छोटी बचतवाली योजना का पता ही नहीं था। ये सारे लोग मासिक दो सौ रुपये से कम की आयवाले लोग थे और इन पंच बाईस आदमियों में से केवल एक के पास योजना में काम करनेवाला आदमी पहुंचा था। इससे प्रकट है कि शहरों में भी योजना के यत्न को बहुत क्रियाशील बनाने की जरूरत है। परन्तु ग्रामीण क्षेत्र तो अभी एकदम अछूता ही पड़ा हुआ है। इसमें डाक-विभाग का उपयोग करना अधिक सुविधाजनक होगा। सेविंग्स बैंक—अर्थात् बचत जमा करने की सुविधा बहुत अधिक गांवों में कर दी जानी चाहिए। इसी प्रकार इसके नियमों में भी खास तौर पर कर्ज की मियाद पक जाने पर अपनी रकम को निकालने की विधि कुछ अधिक सरल कर दी जाय। बीमे की पद्धति के लिए भी गांवों में बहुत बड़ा क्षेत्र पड़ा हुआ है। राजस्थान के एक-दो सामुदायिक

विकास-खण्डों में इसका प्रयोग करने पर उसमें काफी उत्साह-वर्धक सफलता मिली है। जयपुर जिले के केवल दो विकास-खण्डों में छः महीनों में १ १ का बीमा हो गया। यदि देश के दूसरे भागों में भी इसी प्रकार प्रयोग किया जाय तो मुझे विश्वास है, बहुत अच्छा परिणाम आ सकता है।

३ रेलवेसहित कई सरकारी कारोबार हैं। उनको सामयायक बनाकर उस आय का उपयोग योजना के लिए हो सकता है। यह ख्याल गलत है कि इनमें कमाना नहीं चाहिए। इनमें नफा कमाकर जनता की ही सेवा में लगाना क्यों बुरा है?

४ मृत्यु-कर, व्यय-कर, सम्पत्ति-कर की दरें बढ़ाई जा सकती हैं और अतिरिक्त लाभ के कर को स्थायी कर दिया जाय।

५ यदि खेती और उद्योगों के उत्पादन को हम बढ़ा सकते हैं तो घाटे की अर्थ-व्यवस्था के बारे में भी हमें अकारण घबराना नहीं चाहिए। उत्पादन बढ़ेगा तो बचत भी अवश्य होगी ही और बचत होगी तो हम अपनी योजनाओं के आकार को क्यों नहीं बढ़ा सकते। ग्रामीण क्षेत्र में यदि सहकारी सेवा-समितियां कायम हो जायं तो खेती की उपज अवश्य ही बढ़ेगी क्योंकि इनकी मदद से खेती बढ़ती और वैज्ञानिक तरीकों से होगी। उद्योग के क्षेत्र में हमें सारे देश में छोटे-छोटे उद्योगों-ग्रामोद्योगों और गृहो-द्योगों का जाल बिछा देना होगा जो सहकारी पद्धति पर काम करेगा। इस प्रकार तीसरी योजना का आधार न विपुल रूप से खेती होगा न उद्योग बल्कि दोनों होंगे और दोनों इस प्रकार खेती और छोटे-छोटे कार-खानों में काम करेंगे कि दोनों मिलकर एक ही हैं। दोनों एक-दूसरे के पूरक और सहायक होंगे।

देश के तमाम साधनों को इन कामों के लिए उपलब्ध करने के लिए हमें शासन तथा संगठन में भी बहुत-से सुधार और परिवर्तन करने होंगे उनपर भी विचार कर लेना उचित होगा।

(ग) उत्पादन और उपभोग के क्षेत्रों में हमें सहकारिता का खूब विस्तार करना होगा। खेती और औद्योगिक सहकारी समितियों की मदद से न केवल उत्पादन को बढ़ाने में [illegible]

मिलेगी जो कि अपनी प्रवृत्तियों के बढ़ाने में हमारी सहायता करेगी गांवों में और मण्डियों में बेचनेवाली सहकारी समितियां खरीद-बिक्री का थोक व्यापार करेंगी। वार्ड और मोहल्ले के उपभोक्ताओं की सहकारी समितियां अनाज के वितरण में सहायता करेंगी। औद्योगिक क्षेत्र में छोटे-छोटे उद्योगों के खोलने में सहकारी समितियां बड़ा काम करेंगी। मुझे तो लगता है कि यूरोप की भांति यहां भी बड़े उद्योग सहकारी पद्धति से जरूर चलाये जा सकते हैं।

(घ) गांवों और शहरों के जीवन-मान और पद्धति में भी बड़ा अन्तर हो गया है। हम देखते हैं कि इधर कई वर्षों से बहुत बड़ी संख्या में गांवों के लोग गांवों को छोड़कर शहरों में आकर बसते जा रहे हैं। इस कारण शहरों की समस्याएं बढ़ती जा रही हैं। लोग गांवों को छोड़-छोड़कर शहरों में आते हैं, इसके मुख्य कारण दो हैं—एक तो गांवों में रोजी का न मिलना और दूसरे शहरों से शिक्षा आरोग्य तथा जीवन की अन्य सुविधाओं का होना। इस प्रवाह को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि ये सुविधाएं गांवों में भी उपलब्ध कर दी जायं। इस हेतु से गांवों में उद्योगालय खोलना प्रारम्भ भी हो गया है। इन उद्योगों के लिए गांवों में पानी की सस्ती बिजली भी दी जायगी। इससे उद्योगों के चलाने में भी मदद मिलेगी और ग्रामीणों को प्रकाश की भी सुविधा हो जायगी। इस बिजली की सहायता से तेल गुड़ खाण्डसारी चावल कागज और चमड़े के उद्योग बड़ी अच्छी तरह से गांवों में चलाये जा सकते हैं।

(ङ) जहांतक शिक्षा का सम्बन्ध है सरकार को गांवों में भी माध्यमिक उच्च तथा औद्योगिक विद्यालय खोल देने चाहिए। ग्रामीण क्षेत्रों में बहुत-सी बंजर जमीन बेकार पड़ी हुई है। शहरों में बड़ी कीमतें देकर खर्चीली इमारतें बनाने के बजाय गांवों की इन बेकार पड़ी हुई जमीनों पर अगर शालाएं और अच्छे-अच्छे अस्पताल बना दिये जायं तो बहुत सस्ते में काम हो जायगा और जमीनों का भी उपयोग हो जायगा। यदि यह हो सका और रोजी तथा जीवन की ये अन्य सुविधाएं भी स्वयं गांवों में लोगों को घरबैठे मिल गई तो शहरों की तरफ जानेवाला जनता का प्रवाह अपने-आप बन्द हो जायगा बल्कि उल्टे शहरों के लोग गांवों के स्वास्थ्यप्रद

वातावरण में आकर बसना पसन्द करने लगेंगे।

(ई) आर्थिक और सामाजिक न्याय के सिद्धान्त इस खेती और उद्योगों की इस समन्वित व्यवस्था को मजबूत बनाने के लिए यह जरूरी है कि विविध क्षेत्रों में काम करनेवाले लोगों के वेतनों में जो बहुत बड़ा अन्तर है, वह कम किया जाय और उसे न्याय और समता पर आधारित किया जाय। आज केन्द्रीय शासन के मातहत काम करनेवालों और राज्यों के कर्मचारियों के वेतन में काफी अन्तर है। राज्यों के कर्मचारियों के और नगरपालिकाओं के कर्मचारियों के वेतनों में भी अन्तर है। सरकारी और खानगी कर्मचारियों के वेतनों तथा नौकरी की शर्तों और परिस्थितियों में अन्तर है। इस अन्तर को दूर करके सारे देश के लिए न्यूनतम और अधिकतम वेतन का मान निश्चित करने की भी जरूरत है और जैसा कि कर-जांच-आयोग ने सुझाया है, न्यूनतम आय और अधिकतम आय के बीच का अन्तर १ : ३ से किसी प्रकार अधिक न हो।

(उ) सहकारिता की पद्धति से स्थापित और चालित खेती और उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए उन्हें कर्ज-सम्बन्धी सहूलियतों का मिलना जरूरी है। इस विषय में हमें बैंकों की नीति में ही सुधार करना होगा। अभी बलवानों को और शहरवालों को कर्ज आसानी से मिल जाता है। गरीब देखते रह जाते हैं। बैंकों की नीति में ऐसा सुधार करने की जरूरत है जिससे छोटे किसान और कारीगर भी इस सुविधा से लाभ उठा सकें।

(ऊ) परिवहन और सचार-व्यवस्था के क्षेत्र में भी गांवों की जरूरतों की तरफ अधिक ध्यान देना चाहिए। उदाहरणार्थ बड़ी-बड़ी सड़कों और राष्ट्रीय मार्ग बनाने की अपेक्षा गांव के बीच में आपसी अच्छी सड़कें और छोटे-छोटे पुल तथा रपटें बनाना अधिक अच्छा होगा जिससे किसान अपनी उपज बाजारों में आसानी से पहुंचा सकें।

(ए) देहात में खेती से निकट का सम्बन्ध रखनेवाले उद्योगों के खोलने और चलाने के लिए ग्रामीण स्वयं प्रशिक्षण में ऐसा प्रयत्न करना चाहिए। आज तो ये विद्यालय शहरी युवकों से भरे रहते हैं, जो सरकारी नौकरी पर भी गांवों में जाना बहुत कम पसन्द करते हैं।

(ऐ) विकास की किसी भी योजना में मजदूरों का सेच्छिक सहयोग

परम मावश्यक होता है परन्तु भाज यह कहना कठिन है कि उद्योगों म अधिक उत्पादन करने में मजदूर-संगठन दिल से सहयोग दे रहे हैं। इसलिए जितने भी उद्योगों और विभागों में संभव हो काम की तादाद को देखकर मजदूरी देने की पद्धति चलाना मावश्यक मालूम होता है। इसके साथ ही न्यूनतम मजदूरी भी निश्चित कर दी जाय और ऐसी व्यवस्था हो कि अन्त में जाकर मजदूर स्वयं सहकारी सिद्धान्तों पर कारखाने के मालिक बन जायं। तबतक संक्रमण काल में कारखानों की व्यवस्था में मजदूर अधिका धिक भाग ले सकें ऐसी परिपाटी डाल दी जाय जिससे उन्हें यह महसूस हो कि वे भी उसके संचालक हैं।

(भो) राष्ट्रीय संयोजन में जनता में विशी उत्साह पैदा करने के लिए यह जरूरी है कि जनता की अपनी संस्थाओं अर्थात् पंचायतों और सहकारी समितियों को संयोजन और विकास में प्रभावशाली और क्रियाशील बनाया जाय। समाजवादी रचना के परिणामस्वरूप देश में नौकरों का विकास जाल नहीं फैलाना चाहिए। इसके विपरीत जनता और उसकी संस्थाओं को स्वयं अपनी योजनाएं बनाकर उनका अमल करने का अवसर देना चाहिए। इससे उनकी बुद्धि साहस-शक्ति और साधनों का पूरा-पूरा विकास हो सकेगा।

जनता परिश्रम करे, मावश्यक आर्थिक बोझ उठाने या अनाज अथवा अपनी उपज की अन्य कोई चीज दे तो उसे जीवन की न्यूनतम प्राथ मिक मावश्यकताएं तो मवश्य ही मिल जायं इसके लिए सच्चे दिल से यत्न हो। उदाहरणार्थ एक भी गांव ऐसा न हो जहां पीने के लिए स्वच्छ-शुद्ध-मीठे पानी का साधन न हो स्कूल न हो और समिति को जाने के लिए निकटतम मण्डी और सहकारी समिति को जाने के लिए सड़क न हो। गांवों में लोगों को काफी समय मिलता है। उसका उपयोग से प्राथमिक सुविधाएं प्राप्त करने के लिए वे अवश्य कर सकते हैं।

ये तो कुछ सूचनाएं मात्र हैं। इनपर तथा और भी उपयोगी सूच नाओं पर सबको बैठकर विचार करना चाहिए और कोई निश्चित कार्य क्रम बनाकर उसे कार्यान्वित करने में लग जाना चाहिए। योजना-क्षेत्रों में और अन्यत्र हमको अबतक जो प्रत्यक्ष अनुभव हुआ है, निस्सन्देह वह भी हमारा मार्ग-दर्शन करेगा।

खण्ड ६

उपसंहार

भारत का आर्थिक विकास जल्दी-से-जल्दी हो यह आवश्यक है। हम सब यह चाहते हैं, परन्तु इसके लिए अति उत्साह में हम कहीं जड़ की बात को न भुला दें। केवल भौतिक सुख-साधनों के बढ़ जाने से ही राष्ट्र प्रगतिशील नहीं बन जाता है। ये सुविधाएं हम अपने नागरिकों को जितनी भी संभव हों अधिक-से-अधिक दें अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को संतुलित भोजन मिले शरीर-रक्षा के लिए पूरे कपड़े हों, रहने के लिए आश्रय अर्थात् घर हो, शिक्षा और आरोग्य-सम्बन्धी सुविधाएं हों—ये सब हों। परन्तु किसी भी राष्ट्र की प्रगति का सच्चा माप तो उसके नागरिकों की संस्कारशीलता और चरित्र ही माना जायगा। इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता। परन्तु दुःख की बात है कि ऐडम स्मिथ से लेकर मार्क्स और कीन्स तक के तमाम अर्थवादियों और भौतिक अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र पर चिन्तन करनेवालों ने इस प्रश्न के मानसी तथा नैतिक पहलू पर बहुत कम ध्यान दिया है। गांधीजी ने लिखा है कि "सभ्यता का सच्ची अर्थ अपनी जरूरतों को बढ़ाना नहीं बल्कि स्वयं उन्हें विवेकपूर्वक कम करना है। पेट-भर उपभोग कर लेने के बाद अंत में ययाति इसी नतीजे पर तो पहुंचा था कि भोग से कामना शान्त नहीं होती उलटे बढ़ती ही जाती है।

न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्ण-वर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

आधुनिक अर्थशास्त्रियों द्वारा बताये गए ये भोग विविधविधि वृद्धि की और ये भोग इन्द्रियविषयक बाहुल्य का अर्थ भी तो नहीं है। इस लिए हमारे आर्थिक संयोजन का लक्ष्य केवल यह न हो कि हम बहुत ज्यादा

चीजें पैदा करें ताकि लोगों की सुख-सुविधाएं खूब बढ़ें बल्कि यह हो कि लोग अपने जीवन को अच्छा बनावें। अतः जीवन को ऐसा बनाने के लिए केवल आवश्यक चीजों का उत्पादन ही हम बढ़ावें। आर्थिक संयोजन की जिस पद्धति में केवल उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन के बढ़ाने पर ही जोर दिया जाता है और मनुष्य के नैतिक विकास का ख्याल नहीं किया जाता। वह निश्चय ही समाज को अन्धे कुएं में गिरानेवाली है।

दूसरी चीज है विकेन्द्रीकरण। नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के साथ आर्थिक और राजनैतिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण भी परम आवश्यक है। गांधीजी की दृष्टि में विकेन्द्रीकरण स्वयं एक वैज्ञानिक आवश्यकता है, जिसमें सामाजिक स्थिरता का आश्वासन है। जिस प्रकार अपने लिए घर पर ही खाना पका लेने में कोई अनाड़ीपन या पिछड़ापन नहीं है, उसी प्रकार विवेकयुक्त विकेन्द्रीकरण कभी पिछड़ेपन की निशानी नहीं माना जा सकता। स्वावलम्बन व्यक्ति और समाज दोनों के जीवन में अहिंसा को सुगम बना देता है, जो दोनों की सुरक्षा के लिए आवश्यक है।

अहिंसक अर्थात् सर्वोदयी समाज रचना में सारा अभिक्रम पंचायतों और सहकारी समितियों जैसी समाज की छोटी-छोटी इकाइयों के हाथ में रहना चाहिए, ताकि स्वपराक्रम और स्वावलम्बन का उन्हें अवसर मिले और वे आजादी का उत्साह अनुभव कर सकें। इसीलिए तो आर्थिक और राजनैतिक इकाइयों के रूप में पंचायतों का विकास करने पर गांधीजी इतना जोर दे रहे थे। सामुदायिक विकास की प्रवृत्ति का इतने वर्षों का अनुभव भी हमें यही कहता है कि समाज का विकास पंचायतों सहकारी समितियों और पाठशालाओं की मदद से ही हो सकता है, क्योंकि छोटी छोटी इकाइयों के अन्दर मनुष्यों में परस्पर प्रेम निकटता और विश्वास होता है। पश्चिम के विचारक भी अब इस बात को मानने लग गये हैं कि जहां राजनैतिक और आर्थिक सत्ता परमधिक केन्द्रित होती है, वहां लोकतंत्र का अच्छा विकास नहीं हो सकता। अत्यधिक केन्द्रीकरण से मनुष्य की सृजन-शक्ति दब जाती है, स्वतन्त्रता के लिए कोई अवकाश ही नहीं रह जाता और अपने-आप काम करनेवाले यन्त्र की भांति वह जड़ बन जाता है।

प्राध्यापक इससे कहते हैं कि मजूरों का जीवन मानसिक स्वास्थ्य के लिए अच्छा नहीं होता न उसमें जिम्मेदारी की स्वतन्त्र वृत्ति का विकास होता है, जो कि सच्चे लोकतन्त्र के लिए बहुत आवश्यक है। एकाधिकार वाले (टोटेलिटेरियन) देशों में भी अब केन्द्रीकरण की बुराइयों को महसूस किया जाने लगा है क्योंकि वे देखते हैं कि इस पद्धति में मनुष्य की शक्तियों का विकास नहीं हो पाता। ट्रॉट्स्की ने तो एक बार विनोद में कह भी दिया था "यह सर्वहारायों का नहीं प्रबन्धकों का अधिराज्य है।" अतः वहां विकेन्द्रीकरण के प्रयोग शुरू हो गये हैं। मार्शल टीटो ने भी युगोस्लाविया में ऐसे प्रयोग शुरू कर दिये हैं, परन्तु याद रहे, विकेन्द्रीकरण भी तभी सफल होगा जब वह हेतुपूर्वक और सूझ-बूझ के साथ किया जायगा। केवल सरकारी आज्ञा से किया गया विकेन्द्रीकरण स्वाभाविक और बहुत लाभदायक नहीं होता। उसमें तमाम बुराइयां घुस जाती हैं और नौकरशाही के हस्तक्षेप उसके सारे संतुलन को बिगाड़ देते हैं। तब वह केन्द्रीकरण से भी बुरा साबित होता है।

बेकारी मिटाने अर्थात् सबको रोजी देने का प्रश्न विकेन्द्रीकरण के साथ जुड़ा हुआ है। कहने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि कम विकसित देशों में खास तौर पर अत्यधिक केन्द्रित उत्पादनवाले बड़े-बड़े धन्धों में बहुत अधिक आदमियों को काम मिलने की गुंजाइश नहीं होती और घनी आबादीवाले प्रदेशों में तो और भी नहीं। स्वयं संयुक्त राज्य अमरीका में लाखों आदमी बेकार हैं। अपने-आप काम करनेवाले यन्त्रों का प्रचार अधिकाधिक आदमियों को बेकार करता जा रहा है। अतः वहां भी अब विकेन्द्रीकरण की दिशा में लोग सोचने लगे हैं।

भारत जैसे कम विकसित और घनी आबादीवाले देश में तो उद्योगों को बहुत बड़े पैमाने पर सारे देश में बगैर फैलाये हम बेकारों को रोजी दे सकने यह कल्पना भी हम नहीं कर सकते। इसके लिए हमें सारे देश में सहकारी पद्धति पर छोटे-छोटे गृहोद्योग और ग्रामोद्योग फैला देने होंगे क्योंकि राष्ट्र का यह कर्तव्य ही है कि जो भी शरीर से काम कर सकते हैं उन सबको वह काम दे। बेकार आदमी केवल शरीर को नहीं मनुष्य के मन बुद्धि और चरित्र के लिए भी हानिकर है और एक कम विकसित

देश में तो एक बेकार मनुष्य और भी बोझ बन जाता है उस बेकार इंजन के समान जो ईंधन तो खाता रहता है परन्तु जिससे कोई काम नहीं लिया जाता।

इस प्रकार गांधीजी का खादी और ग्रामोद्योगों का कार्यक्रम केवल सैद्धान्तिक चीज नहीं था वह पूर्णतः एक व्यावहारिक योजना थी जिसमें देश के असंख्य बेकारों की यों ही बेकार बरबाद होनेवाली शक्ति का सदुपयोग करने की योजना थी। उसमें कम पूंजी में बहुत-से आदमियों को काम देने की गुंजाइश थी। रिचर्ड बी ग्रेग ने कहा है कि पूरी और आंशिक बेकारी को दूर करने की यह इतनी अच्छी योजना है कि जिसकी बराबरी संसार की कोई योजना नहीं कर सकती—अत्यन्त कारगर, व्यावहारिक मौलिक और ऐसी जो सब देशों के लिए उपयोगी हो सकती है।

जाहिर है कि प्रत्येक प्रदेश के बेकारों को काम देने की जिम्मेदारी केन्द्रीय अधिकारी नहीं उठा सकते। इस समस्या को तो खुद गांवों को अपनी बुद्धि और सूझ-बूझ से और उनके सलाह-मशविरे से यहीं हल कर लेना चाहिए। प्रत्यक्ष उपयोग और सुविधा के सार्वजनिक काम तो गांव के अपने लाभ के लिए होते हैं। अतः वे खुशी-खुशी इन्हें कर लेंगे। परन्तु उस गांव के बाहर के लोगों को जिन कामों से लाभ पहुंचता है ऐसे काम करने में उन्हें इतना उत्साह स्वभावतः नहीं हो सकता। इसलिए राजनैतिक और आर्थिक सत्ता को साहस के साथ विकेन्द्रित करना बड़ा जरूरी है। अतः राज्य सरकारों को इस दिशा में तेजी से कदम बढ़ाने चाहिए।

हम एक बार और साफ तौर पर बता दें कि इस प्रकार के आर्थिक विकेन्द्रीकरण का अर्थ यह नहीं है कि इसमें हम विज्ञान के आविष्कारों से लाभ नहीं उठा सकेंगे या उठाना नहीं चाहते। हमारा उद्देश्य केवल उत्पादन के ढेर लगाना नहीं है, बल्कि बेकारी को मिटाते हुए उत्पादन बढ़ाना है, जिससे समाज का स्वास्थ्य बना रहे और उसका विकास भी हो। कम विकसित देशों में प्रचलित उपकरणों में छोटे-छोटे सीधे सादे और कम खर्चीले सुधार करने से काम चल सकता है। इतने से सुधार से भी उत्पादन में काफी वृद्धि हो सकती है। जहां आबादी अधिक है और पूंजी कम है, वहां लोगों को बेकार रखकर यन्त्रों से काम लेना कभी हितकर

नहीं हो सकता। हां कम आबादीवाले देशों में जहां पूंजी बहुत है वहां भले ही यन्त्रों से काम लिया जा सकता है।

इसलिए भारत जैसे अधिक देश तो फिलहाल अपेक्षाकृत कम उत्पादक औजारों से भी काम चला ले तो बुरा नहीं है। इसीलिए गांधीजी बड़ा जोर देते थे कि हर मनुष्य अपने हाथ से परिश्रम करे और अपनी आर्थिक स्थिति सुधारे। इसमें उन्हें कभी संकोच नहीं मालूम हुआ। वह तो मनुष्य की नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए भी शरीरश्रम को आवश्यक मानते थे। वह कहते थे "भगवान ने मनुष्य को हाथ इसीलिए दिये हैं कि वह खुद परिश्रम करके अपनी रोटी कमावे। जो ऐसा नहीं करता वह चोर है। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संयोजन में भी इस सिद्धान्त को अब स्वीकार किया जा रहा है।

सबसे बड़ी और महत्व की बात तो यह है कि हमारे सारे संयोजन और प्रगति के प्रयासों में मानवता की भावना प्रधान रहनी चाहिए। आचार्य विनोबा इधर बहुत समय से कह रहे हैं कि अब विज्ञान और अन्य शास्त्र के साथ अहिंसा अर्थात् मानवता का होना नितान्त जरूरी हो गया है। विज्ञान की प्रगति के कारण अहिंसा अब अनिवार्य हो गई है। विज्ञान ने मनुष्य को अब इतना शक्तिशाली बना दिया है कि देवताओं को भी उससे ईर्ष्या होगी। अब तो यदि जिन्दा रहना है तो शान्तियुक्त सहजीवन अर्थात् अहिंसा के बगैर काम नहीं चल सकता। अब तो मानवता और आध्यात्मिकता का ख्याल किये बिना यदि हम केवल भौतिक मूल्यों के पीछे ही दौड़ते रहे तो यह विज्ञान और अन्य समाज का कल्याण करने के बजाय जीवन में विष घोल देंगे और समाज को विनाश की गर्त में पहुंचा देंगे। नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की रक्षा घनी आबादीवाले शहरों की अपेक्षा गांवों की छोटी-छोटी इकाइयों में अधिक अच्छी तरह से हो सकती है। इसीलिए तो गांधीजी चाहते थे कि भारत में शहरी और पश्चिम के ढंग के बड़े-बड़े उद्योगों का विकास न हो बल्कि गांवों में पंचायतों की पुनः स्थापना हो सहकारी समितियां बनें छोटे-छोटे ग्रामोद्योग चलें तथा सारे गांव अपनी जरूरतों के बारे में स्वावलम्बी हों और आस-पास के गांवों और पंचायतों से भी उनका सम्बन्ध हो। इस प्रकार सब मिलकर

एक-दूसरे की मदद करें। यदि ये सारी सुविधाएं गांवों में ही कर दी जायंगी तो आज रोजी की तलाश में या शिक्षा तथा अन्य सुविधाओं के लिए गांवों के लोगों को जो शहरों में जाना पड़ता है, वह भी बन्द हो जायगा। गांवों का उजड़ना बन्द हो जायगा। गांवों में ये सहूलियतें यदि हो जाती हैं तो ग्रामीणों को अपना घर और परिवार नहीं छोड़ना पड़ेगा और वे स्वाभाविक मुक्त वातावरण में रह सकेंगे।

इसलिए भारत जैसे घनी आबादीवाले किन्तु कम विकसित देश के लिए बड़े-बड़े शहरोंवाली सभ्यता का विकास करने के बजाय छोटी-छोटी इकाइयों का अर्थात् ग्रामों की सभ्यता का विकास ही अधिक लाभदायक होगा। इन गांवों में छोटे-छोटे उद्योग और कारखाने भी हों जो इनकी जरूरतों को पूरा कर दिया करें।

इस विकेन्द्रित समाज-रचना में प्रत्येक व्यक्ति और इकाई को समाज और देश के व्यापक हितों को भी सदा ध्यान में रखना होगा। सर्वोदय अर्थात् गांधीजी के विचार की समाज-रचना में व्यक्ति और समाज दोनों को परस्पर के हितों की रक्षा-वृद्धि करनी होगी। जहां-जहां भी इनके हित टकराते नजर आयेंगे उनको शान्ति और प्रेम से ठीक कर लिया जायगा।

अन्त में मैं फिर बता दूं कि मेरा तो पक्का विश्वास है कि आर्थिक विकास के सम्बन्ध में गांधीजी के विचार पुराने सपने देखनेवाले एक आदमी के और पिछड़े हुए नहीं हैं बल्कि वे अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण और वैज्ञानिक हैं और आधुनिक-से-आधुनिक पश्चिमी विचार से सम्मत हैं। पश्चिम के लोगों के पास जो भी सीखने लायक बातें हों उनसे हम अवश्य लाभ उठावें परन्तु अपने देश के लिए नई योजनाएं बनाते समय उन बुनियादी सिद्धान्तों की उपेक्षा न करें, जिन्हें गांधीजी ने अपने सम्पूर्ण जीवन में आजमाकर और खूब परख-परखकर हमारे सामने रखा है। अपने सारे विचारों का सार उन्होंने इस छोटे-से सूत्र में हमारे और संसार के सामने रख दिया है

"मैं आपको एक गुरु-मन्त्र बताये देता हूं। जब कभी आप सन्देह और मोह में पड़ जायं तो यह कसौटी लगा लीजिये। उस गरीब-से-गरीब और कमजोर-से-कमजोर आदमी का ध्यान कीजिये जिसे आपने कभी देखा हो

और अपने-आपसे पूछिये कि जो कदम आप उठाना चाहते हैं उसका उस पर क्या असर होगा ? उसे कुछ लाभ होगा ? अपने जीवन को सुधारने और ऊपर उठने में आपके कदम से उसे कुछ मदद होगी ? दूसरे शब्दों में कहें तो क्या उससे भूखों और आध्यात्मिक भोजन के अभाव में जो तड़प रहे हैं उनका स्वराज्य एक कदम भी नजदीक आयेगा ? तब आप देखेंगे कि आपका सारा सन्देह और मोह गायब हो गया है और आपका दिल कहेगा—नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा।

●